

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ६३

श्रीमद्रङ्गरामानुजमुनिविरचितप्रकाशिकोपेता
छान्दोग्योपनिषत् । ।

एतत्पुस्तकं वे० शा० रा० रा० गोखले इत्युपाधै-
र्गणेशशास्त्रिभिः संशोधितम् ।

तन्

हरि नारायण आपटे

हरयेतैः

पुण्याख्यपत्तने

आनेन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८३२

सिस्तान्द्य १२१०

महोदय नारायण मूल्यां इन्स्टीट्यूट,
आज्यवर्दीची पोस्ट नां. २, धर्मा.

(अस्य सर्वे अधिकारा राजशासनानुसारेण स्वीयर्त्ताकृता)

मूल्यं पादोनरूपकचतुष्टयम् । (३४१२)

छान्दोग्योपनिषद्विषयसूचीपत्रम् ।

अथ प्रथमः प्रपाठकः ।

विषयाः ।

(आरम्भ- (समाप्ति-

शब्दाङ्काः । पृष्ठाङ्काः । पृष्ठाङ्काः)

ब्रह्मविद्यौपयिककर्माङ्गविषयकोकारोपासनोपदेशः १ २५३ २५३

ॐकारोपासनस्य रसतमत्वकामातिसमुद्दिगुणक-

त्वाद्विप्रकारवैशिष्ट्यम् ... १ २५४ २६०

उद्गीथाययम ओंकारे मुख्यप्राणवृद्धिं विधातुमाह्वयः

यिकाप्रस्तावः ... २ २६० २६२

एतद्विद्यायाः फलम् ... २ २६२ २६३

इतरप्राणायामपेक्षया मुख्यप्राणस्य वैषम्यम् ... २ २६३ २६७

आदित्यदृष्ट्या प्राणादिदृष्ट्या चोद्गीथोपासनम् ... ३ २६८ २७०

उद्गीथनामाक्षरोपासनम् ... ३ २७० २७२

स्वरशब्दितोकारस्य प्रशंसा ... ४ २७२ २७३

प्रणवोद्गीथयोरेकत्वविज्ञानोपदेशस्तस्य फलं च ... ५ २७४ २७८

आदित्यमण्डलान्तर्वर्तिना पुरुषेणोद्गीथस्वैय्याध्यासः ६ २७८ २८२

चाक्षुषेण परमात्मनोद्गीथस्यैक्याध्यासः ... ७ २८३ २८७

शिलकदाल्प्यजैवलिसंवादः ... ८-९ २८७ २९३

प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारमन्त्रयविषयकोपासनविधा-

नार्यमुपस्थाप्यायिका ... १०-११ २९३ ३००

श्ववृष्टोद्गीथस्त्युत्थं दाल्प्यस्याऽऽख्यायिका ... १२ ३०० ३०१

सामावयवान्तर्गतस्तोमाक्षरविषयाण्युपासनान्तराणि १३ ३०१ ३०२

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ।

समस्तसामोपासनम् ... १ ३०३ ३०४

हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनलक्षणपञ्चविध्य-

युक्तसाम्न उपासनम् ... २ ३०४ ३०५

वृष्टिदृष्ट्या पञ्चविधसामोपासनम् ... ३ ३०५ ३०५

| | | | | | |
|------------------------------------|-----|-----|---|-----|-----|
| अद्भुतृचा पञ्चविधसामोपासनम् ... | ... | ... | ४ | ३०६ | ३०६ |
| ऋगुदृचा पञ्चविधसामोपासनम् ... | ... | ... | ५ | ३०६ | ३०६ |
| पशुदृचा पञ्चविधसामोपासनम् ... | ... | ... | ६ | ३०७ | ३०७ |
| प्राणादिदृचा पञ्चविधसामोपासनम् ... | ... | ... | ७ | ३०७ | ३०८ |

वाक्छन्दितशब्ददृचा हिंकारप्रस्तावोकारोद्वीथप्रतिः-

| | | | | | |
|--|-----|-----|----|-----|-----|
| हारोपद्रवनिधनाख्यसप्तविधसामोपासनम् ... | ... | ... | ८ | ३०८ | ३०८ |
| सप्तविधे साम्न्यादित्यबुद्धिः... | ... | ... | ९ | ३०९ | ३११ |
| अतिक्रान्तादित्यसप्तविधसामोपासनम् ... | ... | ... | १० | ३११ | ३१२ |
| प्राणेषु गायत्रसामोपासनम् ... | ... | ... | ११ | ३१३ | ३१३ |
| अग्नी रथंतरसामोपासनम् ... | ... | ... | १२ | ३१३ | ३१४ |
| मिथुने धामदेव्यसामोपासनम् ... | ... | ... | १३ | ३१४ | ३१५ |
| आदित्ये वृहत्सामोपासनम् ... | ... | ... | १४ | ३१५ | ३१५ |
| पर्जन्ये धैरूप्यसामोपासनम् ... | ... | ... | १५ | ३१६ | ३१६ |
| ऋतुषु धैराजसामोपासनम् ... | ... | ... | १६ | ३१६ | ३१७ |
| पृथिव्यादिदृचा शक्रसामोपासनम् ... | ... | ... | १७ | ३१७ | ३१७ |
| पशुदृचा रेवतीसामोपासनम् ... | ... | ... | १८ | ३१७ | ३१८ |
| अद्भुतृचा यज्ञायज्ञीयसामोपासनम् ... | ... | ... | १९ | ३१८ | ३१८ |
| देवतादृचा राजनसामोपासनम् ... | ... | ... | २० | ३१८ | ३१९ |
| अपोविद्यादिदृचा सामोपासनम् ... | ... | ... | २१ | ३१९ | ३२० |
| गानविशेषोपदेशः ... | ... | ... | २२ | ३२० | ३२२ |
| ओंकारेण ब्रह्मोपासनविधिः... | ... | ... | २३ | ३२२ | ३२४ |
| फाल्गुनचिरमर्माङ्गाणि... | ... | ... | २४ | ३२४ | ३२६ |

अथ तृतीयः प्रपाठकः ।

| | | | | | |
|--|-----|-----|-----|-----|-----|
| आदित्यादौ मध्यादिदृष्टिः ... | ... | ... | १ | ३२८ | ३२९ |
| दक्षिणादिदक्षिणरश्म्यादौ मधुनादृष्टिः... | ... | ... | २ | ३२९ | ३३० |
| पश्चिमदिक्पश्चिमरश्म्यादौ मधुनादृष्टिः... | ... | ... | ३ | ३३० | ३३० |
| उत्तरदिक्पश्चिमरश्म्यादौ मधुनादृष्टिः... | ... | ... | ४ | ३३१ | ३३१ |
| ऊर्ध्वदिक्पश्चिमरश्म्यादौ मधुनादृष्टिः... | ... | ... | ५ | ३३१ | ३३२ |
| यमूपजीवनमृतयथामृतोपासने यमुत्ययातिपूर्वकब्र- | ... | ... | ... | ... | ... |
| ह्मपातिः ... | ... | ... | ... | ६ | ३३२ |

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| रुद्रोपजीवनभूतद्वितीयामृतोपासने रुद्रत्वप्राप्तिपूर्व- | | | |
| कब्रह्मप्राप्तिः | ७ | ३३३ | ३३४ |
| आदित्योपजीवनभूततृतीयामृतोपासन आदित्यत्व- | | | |
| प्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्राप्तिः | ८ | ३३४ | ३३४ |
| मरुदुपजीवनभूतचतुर्थामृतोपासने मरुत्वप्राप्तिपूर्वक- | | | |
| ब्रह्मप्राप्तिः | ९ | ३३५ | ३३५ |
| साध्योपजीवनभूतपञ्चमामृतोपासने साध्यत्वप्राप्तिपूर्- | | | |
| वकब्रह्मप्राप्तिः | १० | ३३५ | ३३६ |
| नामरूपकृत्यादिरहितकार्यावस्थारहितादित्यजीवश- | | | |
| रीरकब्रह्मोपासनम् | ११ | ३३६ | ३३७ |
| मधुविद्यासंप्रदायः | ११ | ३३७ | ३४५ |
| ब्रह्मणि गायत्रीसादृश्यानुसंधानम् | १२ | ३४६ | ३४९ |
| द्वारपोपासनम् | १३ | ३५० | ३५१ |
| परस्य ब्रह्मण आभिरूप्यकीर्तिमत्त्वरूपफलविशे- | | | |
| पार्थ कौक्षेयज्योतीरूपत्वेनोपासनम् | १३ | ३५१ | ३५४ |
| शाण्डिल्यविद्या | १४ | ३५४ | ३६० |
| पुत्रदीर्घायुष्यफलकत्रैलोक्यात्मककोशविज्ञानम् | १५ | ३६० | ३६२ |
| दीर्घायुष्यफलकपुरुषविद्या | १६ | ३६२ | ३६५ |
| पुरुषस्य यज्ञसादृश्यनिरूपणम् | १७ | ३६५ | ३६८ |
| अध्यात्मं मनस्यधिदैवतमाकाशे च ब्रह्मवृष्टिः | १८ | ३६८ | ३७० |
| आदित्ये सकलब्रह्मवृष्टिः | १९ | ३७० | ३७२ |

अथ चतुर्थः प्रपाठकः ।

| | | | |
|--|---|-----|-----|
| संवर्गविद्यास्तुत्यर्थाऽऽख्यायिका जानश्रुतेर्हंसोक्त्या रैक- | | | |
| निकटे क्षत्रप्रेरणम् | १ | ३७३ | ३७७ |
| रैकाय जानश्रुतेर्धनादिदानम् | २ | ३७७ | ३७९ |
| आख्यायिकासहिता सार्वज्ञ्यब्रह्मलक्षणान्नानुभवफला | | | |
| संवर्गविद्या | ३ | ३७९ | ३८६ |
| पोडशकलब्रह्मविद्या तत्र सत्यकामेन ब्रह्मचर्याध | | | |
| गौतमस्य गोचारणम् | ४ | ३८६ | ३८८ |
| बलीवर्दस्य सत्यकामाय ब्रह्मणः प्रथमपादोक्तिः | ५ | ३८८ | ३८९ |
| अग्नेः सत्यकामाय ब्रह्मणो द्वितीयपादोक्तिः | ६ | ३८९ | ३९० |

| | | | | | | |
|---|-----|-----|-----|-----|-----|-----|
| हंसस्य सत्यकामाय तृतीयपादोक्तिः | ... | ... | ७ | ३९० | ३९१ | |
| मद्वोः सत्यकामाय चतुर्थपादोक्तिः | ... | ... | ८ | ३९१ | ३९१ | |
| सत्यकामस्य गुरुकुले पुनर्गमनम् | ... | ... | ९ | ३९२ | ३९३ | |
| उपकोसलविद्या | ... | ... | ... | १० | ३९३ | ३९५ |
| गार्हपत्याग्निविद्या | ... | ... | ... | ११ | ३९५ | ३९७ |
| अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या | ... | ... | ... | १२ | ३९७ | ३९७ |
| आहवनीयाग्निविद्या | ... | ... | ... | १३ | ३९८ | ३९८ |
| अग्नीनामुपकोसलं प्रति वचनम् | ... | ... | ... | १४ | ३९८ | ४०० |
| अक्षिपुरुषोपासना | ... | ... | ... | १५ | ४०० | ४०४ |
| यज्ञे क्षत उत्पन्ने व्याहृतयः प्रायश्चित्तार्थहोममन्त्रतया विधातव्यास्तदभिज्ञस्यैव ब्रह्मत्वलक्षणमाविश्यं तस्य च ब्रह्मणो मौनमावश्यकमित्यादिविधानम् | ... | ... | ... | १६ | ४०४ | ४०६ |
| यज्ञभ्रंशे व्याहृतिहोमः प्रायश्चित्तम् | ... | ... | ... | १७ | ४०६ | ४०८ |

अथ पञ्चमः प्रपाठकः ।

| | | | | | | | |
|---|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|
| प्राणविद्या | ... | ... | ... | ... | १-२ | ४०९ | ४२१ |
| संस्तुतिवैराग्यहेतुमूतप्रकृतविविक्तजीवयाथात्म्यवि- षयपञ्चाग्निविद्यार्थं श्वेतकेतुप्रवाहणसंवादः | ... | ... | ... | ... | ३ | ४२१ | ४२५ |
| चिरकालमुपितवते गौतमाय राजकृतविद्योपदेशः, तत्र वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप इति पञ्चम- प्रश्नस्य प्रतिवचनम् | ... | ... | ... | ... | ४-९ | ४२५ | ४२९ |
| वेत्थ यथा देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति तृतीयप्रश्नस्य प्रतिवचनम् | ... | ... | ... | ... | १० | ४२९ | ४३१ |
| वेत्थ षडितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति प्रथमप्रश्नस्य प्रति- वचनम् | ... | ... | ... | ... | १० | ४३२ | ४३२ |
| वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त इति द्वितीयप्रश्नस्य प्रतिव- चनम् | ... | ... | ... | ... | १० | ४३२ | ४३५ |
| वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यत ३ इति चतुर्थ- प्रश्नस्य प्रतिवचनम् | ... | ... | ... | ... | १० | ४३५ | ४४४ |
| औपमन्यवाग्निभिः पञ्चमिरुद्वाल्केन सहितैः कैके- यस्य संवादः | ... | ... | ... | ... | ११ | ४४५ | ४४७ |

| | | | | | |
|--|-----|-------|-------|-----|-----|
| औपमन्यवकैकेयराजसंवादः | ... | ... | ...१२ | ४४८ | ४४९ |
| सत्ययज्ञकैकेयराजसंवादः... | ... | ... | ...१३ | ४४९ | ४४९ |
| इन्द्रद्युम्नकैकेयराजसंवादः | ... | ... | ...१४ | ४५० | ४५० |
| जनकैकेय संवादः | ... | ... | ...१५ | ४५० | ४५१ |
| बुडिलकैकेयसंवादः | ... | ... | ...१६ | ४५१ | ४५१ |
| उद्दालककैकेयसंवादः | ... | ... | ...१७ | ४५२ | ४५२ |
| सर्वैः सह कैकेयसंवादः | ... | ... | ...१८ | ४५२ | ४५५ |
| विद्वदोऽग्निहोत्रसिद्ध्यर्थं प्राणाय स्वाहेतिप्रथमाहु- | | | | | |
| तिकथनम् | ... | ... | ...१९ | ४५५ | ४५६ |
| व्यानाय स्वाहेतिद्वितीयाहुतिकथनम् | | | | | |
| अपानाय स्वाहेतितृतीयाहुतिकथनम् | | | | | |
| समानाय स्वाहेतिचतुर्थाहुतिकथनम् | ... | २०-२३ | ४५६ | ४५८ | |
| उदानाय स्वाहेतिपञ्चमाहुतिकथनम् | | | | | |
| एवंविदोऽग्निहोत्रफलम् | ... | ... | ...२४ | ४५८ | ४६२ |

अथ पष्ठः प्रपाठकः ।

| | | | | | |
|---|-----|-----|--------|-----|-----|
| सद्विद्योपदेशार्थमाख्यायिका | ... | ... | १ | ४६३ | ४७२ |
| अन्यपक्षनिरसनपूर्वकस्वमतोपन्यासः | ... | ... | २ | ४७२ | ४७७ |
| ब्रह्मव्यतिरिक्तेतरसर्वस्यापि तेजोब्रह्मात्मकबीजव्रण- | | | | | |
| प्रसूतत्वम् | ... | ... | ...३-४ | ४७८ | ४८४ |
| अज्ञाद्यशितं त्रेधा भवतीति | ... | ... | ... | ५ | ४८४ |
| मक्ष्यमाणस्याणीयमागो मज्जादिर्मवसीति | ... | ... | ... | ६ | ४८५ |
| षोडशकलपुरुषोपदेशः | ... | ... | ... | ७ | ४८६ |
| सुपुत्तिकालस्थित्युपदेशः | ... | ... | ... | ८ | ४९५ |
| सुपुत्तौ प्रजानां सत्संपत्तिर्न अज्ञेयेति मन्वानस्य | | | | | |
| श्वेतकेतो रसदृष्टान्तेनोपदेशः | ... | ... | ... | ९ | ५११ |
| सुप्तोत्थितस्य गृहादागतोऽस्मीतिप्रतिसंधानवस्तुषु- | | | | | |
| सिदशायां परमात्मनि संपन्नस्य सुषुप्त्यनन्तरं | | | | | |
| सत आगतोऽस्मीति प्रतिसंधानं स्यादिति शङ्क- | | | | | |
| मानस्य श्वेतकेतोर्नदीदृष्टान्तेनोपदेशः | ... | ... | ...१० | ५१२ | ५१३ |
| देहवियोगसमये जीवस्य नाशः कस्मान्न भवती- | | | | | |

| | | | |
|---|----|-----|-----|
| त्याशङ्क्यमानस्य श्वेतकेतोर्वृक्षदृष्टान्तेनोपदेशः | ११ | ५१४ | ५१५ |
| सच्छब्दितस्यानेकब्रह्माण्डहेतुत्व आशङ्क्यमानस्य | | | |
| श्वेतकेतोर्वृक्षदृष्टान्तेनोपदेशः... | १२ | ५१५ | ५१६ |
| कारणानुगतस्य परमात्मनोऽनुपलम्भे शङ्क्यमानस्य | | | |
| श्वेतकेतोर्लवणदृष्टान्तेनोपदेशः... | १३ | ५१६ | ५१७ |
| सर्वव्यापिनः सच्छब्दितस्याधगत्युपायप्रदर्शनार्थं | | | |
| गन्धारदेशानीतपुरुषदृष्टान्तेनोपदेशः... | १४ | ५१८ | ५२० |
| देहराहित्योपजीविनी ब्रह्मसंपत्तिरपि न श्रद्धेयेति | | | |
| मन्यानस्य श्वेतकेतोर्मुर्मुर्पुरुषदृष्टान्तेनोपदेशः | १५ | ५२० | ५२१ |
| सत्प्रभूतं सवात्मकत्वमनुसंधानस्यैवानर्थनिवृत्ति- | | | |
| रिति चौरपरशुग्रहणदृष्टान्तेन कथनम्... | १६ | ५२१ | ५२५ |

अथ सप्तमः प्रपाठकः ।

| | | | |
|--|----|-----|-----|
| नारदाय सनत्कुमारोपदेशः... | १ | ५२५ | ५२८ |
| वाङ्मनासो भूयसीति... | २ | ५२८ | ५२९ |
| मनो वाचो भूय इति... | ३ | ५३० | ५३० |
| संकल्पो मनसो भूयानिति... | ४ | ५३१ | ५३३ |
| चित्तं संकल्पाद्भूय इति... | ५ | ५३३ | ५३४ |
| ध्यानं चित्ताद्भूय इति... | ६ | ५३४ | ५३६ |
| विज्ञानं ध्यानाद्भूय इति... | ७ | ५३६ | ५३७ |
| बलं विज्ञानाद्भूय इति... | ८ | ५३७ | ५३८ |
| अन्नं बलाद्भूय इति... | ९ | ५३८ | ५३९ |
| आपोऽन्नाद्भूयस्य इति... | १० | ५३९ | ५४० |
| तेजोऽद्भ्यं भूय इति... | ११ | ५४० | ५४१ |
| आकाशस्तेजसो भूयानिति... | १२ | ५४१ | ५४२ |
| स्मरणमाकाशाद्भूय इति... | १३ | ५४२ | ५४३ |
| आशा स्मरणाद्भूयसीति... | १४ | ५४३ | ५४३ |
| प्राण आशाया भूयानिति... | १५ | ५४४ | ५४६ |
| सत्यं त्वेयं विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः... | १६ | ५४७ | ५४८ |
| विज्ञानं त्वेयं विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः... | १७ | ५४८ | ५४९ |
| मतिस्त्येयं विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः... | १८ | ५४९ | ५४९ |

| | | | | |
|---|-----|-------|-----|-----|
| श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... | ...१९ | ५५० | ५५० |
| निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... | ...२० | ५५० | ५५० |
| कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदेशः | ... | ...२१ | ५५१ | ५५१ |
| सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदेशः | ... | ...२२ | ५५१ | ५५१ |
| भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्युपदेशः | ... | ...२३ | ५५२ | ५५२ |
| भूमात्पयोः स्वरूपकथनम् | ... | ...२४ | ५५३ | ५५५ |
| सर्वात्मभूतस्य भूम्न उपासनप्रकारः... | ... | २५-२६ | ५५६ | ५५९ |
| उपासकः सात्त्विकाहारसेवी भवेदित्युपदेशः | ... | २६ | ५६० | ५६२ |

अथाष्टमः प्रपाठकः ।

| | | | | | | | |
|--|-----|-----|-----|-----|---|-----|-----|
| दहरविद्योपासनम् | ... | ... | ... | ... | १ | ५६३ | ५७२ |
| दहरविद्योपासनफलम् | ... | ... | ... | ... | २ | ५७२ | ५७४ |
| असत्यापिहितसत्योपासनं नामाक्षरोपासनं च | ... | ... | ... | ... | ३ | ५७४ | ५७९ |
| सेतुरुपात्मोपासनम् | ... | ... | ... | ... | ४ | ५७९ | ५८१ |
| ब्रह्मचर्यप्रशंसा... | ... | ... | ... | ... | ५ | ५८१ | ५८३ |
| मूर्धन्यनाडीगमनप्रशंसा | ... | ... | ... | ... | ६ | ५८४ | ५८७ |

अथ प्रत्यगात्मविद्या तत्रेन्द्रविरोचनयोः प्रजाप-

| | | | | | | | |
|-------------------------------------|-----|-----|-----|-----|----|-----|-----|
| तिसकाशं गमनम् | ... | ... | ... | ... | ७ | ५८७ | ५९० |
| इन्द्रविरोचनयोरुद्देशाव आत्मदर्शनम् | ... | ... | ... | ... | ८ | ५९० | ५९३ |
| इन्द्रस्य पुनरागमनम्... | ... | ... | ... | ... | ९ | ५९३ | ५९५ |
| इन्द्राय स्वप्नपुरुषोपदेशः | ... | ... | ... | ... | १० | ५९५ | ५९६ |
| सुषुप्तपुरुषोपदेशः | ... | ... | ... | ... | ११ | ५९६ | ५९८ |
| मर्त्यशरीराद्युपदेशः | ... | ... | ... | ... | १२ | ५९८ | ६०६ |
| श्यामाच्छबलमिति मन्त्रः | ... | ... | ... | ... | १३ | ६०७ | ६०८ |
| कारणत्वेनाऽऽकाशाख्यब्रह्मोपदेशः | ... | ... | ... | ... | १४ | ६०८ | ६१० |
| परम्परागतमात्मज्ञानमित्युपदेशः | ... | ... | ... | ... | १५ | ६१० | ६१२ |

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

रङ्गरामानुजविरचितप्रकाशिकोपेता

छान्दोग्योपनिषत् ।

अतसीगुच्छसच्छायमश्रितोरःस्थलं श्रिया ।
अञ्जनाचलशृङ्गारमञ्जलिर्मम गाहताम् ॥ १ ॥
श्रीशैलपूर्णवंशाधिकौस्तुभस्य जगद्गुरोः ।
श्रीमतस्तातपार्यस्य चरणौ शरणं वृणे ॥ २ ॥
श्रीतातगुरुसेवातवेदान्तयुगलाशयः ।
घातस्नानन्तगुरुः श्रीमाञ्जयेसे मेऽस्तु भूपसे ॥ ३ ॥
परसेवाचैमवाहृब्धा मया परमहंसता ।
तमहं शिरसा धन्दे परकालमुनीश्वरम् ॥ ४ ॥
व्यासं लक्ष्मणयोगीन्द्रं प्रणम्यान्पान्गुरुनपि ।
छन्दोगोपनिषद्भाष्यां करवाणि यथामति ॥ ५ ॥

ब्रह्मविद्योपचिकं कर्माङ्गविषयमादावुपासनमुपदिश्यते—

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।

उद्गीथमक्त्यवयवभूतमोमित्येतदक्षरमुपासीतेत्यर्थः । ओमित्यक्षरस्यो-
द्गीथत्वासंभवेन सामानाधिकरण्यार्थमुद्गीथपदस्य वाऽक्षरपदस्य वा
मुख्यार्थत्यागेन लक्षणायां समाश्रयणीयायामेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यान-
मित्युपसंहारानुगुण्यादुद्गीथशब्दस्य जघन्यतया च तस्यैवोद्गीथावयव-
लक्षकत्वं युक्तं न तु मुख्यस्योमित्येतदक्षरमित्यस्योकारावयवयुक्तोद्गीथलक्ष-
कत्वं युक्तमिति द्रष्टव्यम् । स्वयमेव श्रुतिरोंकारस्योद्गीथशब्दप्रतिपाद्यत्वे
हेतुमाह—

ओमिति ह्युद्गायति ।

लोक ओमिति ह्यारभ्यैवोद्गायति । अत उद्गीथावयवत्वादुद्गीथशब्द-
प्रतिपाद्यत्वं युक्तमित्यर्थः ।

तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

तस्याक्षरस्यैवमुपासनमेवं विभूतिरेवं फलमित्यादिकथनमुपव्याख्यानं
क्रियत इति शेषः ॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः ।

एषां स्थावरजङ्गमात्मकभूतानां पृथिवी रसः परायणं भूतानां पृथिव्याधारकत्वादिति भावः ।

पृथिव्या आपो रसः ।

तस्या जलप्रकृतिकत्वादिति भावः ।

अपामोषधयो रसः ।

तत्परिणामत्वादिति भावः ।

ओषधीनां पुरुषो रसः ।

अन्नपरिणामत्वाच्छरीरस्येति भावः ।

पुरुषस्य वाग्रसः ।

पाचोऽत्युपकारकत्वादिति भावः ।

वाच ऋग्रसः ।

ऋचां गन्मीरार्धकत्वादिति भावः ।

ऋचः साम रसः ।

गीतिसारत्वात्साम्रामिति भावः ।

साम उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

भाष्यत्वात्सार इत्यर्थः । अत्रोद्गीथशब्देनोद्गीथावयव ओंकार उच्यते ॥ २ ॥

स एष रसानां रसतमः परमः ।

स एष ओंकारो भूतादीनामुत्तरोत्तररसानामतिशयितो रसः ।

पराध्वोऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

पराध्वः परस्य ब्रह्मणोऽर्धमर्धशब्दः स्थानवाची स्थानमहंति स परार्धः । उन्द्रासि चेति यत् । ब्रह्मवदोंकारस्याप्युपास्यत्वादिति भावः । अष्टमोऽष्टमुद्गीथः । पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रस इति परिगणना-
यामष्टम इत्यर्थः । यदुद्गीथो य उद्गीथ इत्यर्थः ॥ ३ ॥

वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम उद्गीथो रस इत्यृक्सामोद्गीथानां
प्रस्तुतत्वात्तानि विमृशति कतमा कतमङ्गिति—

कतमा कतमर्क ।

कतमा कतमेति वीप्साऽऽदरार्था का ऋगित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ।

कतमत्कतमत्साम कतमः कतम

उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

प्राचीनैर्विमर्शः कृतो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

विमर्शनिष्पन्नमर्थमाह—

वागेवर्क प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ।

ऋचो वागिन्द्रियोच्चारणसाध्यत्वाद्वागेवर्कः । सामगानस्य प्राणरूप-
श्वासधारणसाध्यत्वात्प्राण एव साम । उद्गीथमवस्यव्यवत्वादोमित्यक्ष-
रमेवोद्गीथ इत्यर्थः ।

तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्च ।

खीलिङ्गशब्दवाच्यतया वाचः खीत्वं, प्राणस्य पुंलिङ्गशब्दवाच्यतया
पुंस्त्वमिति भावः ।

ऋक्च साम च ॥ ५ ॥

अत्रापि तदेतन्मिथुनमित्यनुपज्यते । उक्तरीत्या वाक्प्राणयोर्मिथुन-
त्वेन तद्विमिश्रत्वेन कर्त्तामयोरपि मिथुनत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते ।

ऋक्सामात्मकं तदेतन्मिथुनमोमित्यस्मिन्नक्षर उद्गीथावयवभूते संसृ-
ज्यते । उद्गीथस्य गार्कटसाममक्तिरूपत्वेन कर्त्तामरूपतयोद्गीथावयवप्रण-
वस्य कर्त्तामाभ्यां संसृष्टत्वात्तदात्मकमिथुनेन संसृष्टत्वमित्यर्थः । वाक्प्रा-
णात्मकमिथुनाध्यासविशिष्टकर्त्तामसंसृष्टतयोद्गीथावयवप्रणवोपासनं कर्त्त-
व्यमित्यर्थः ।

यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो

वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

यदा द्वंपती मिथुनीभूतौ ग्राम्यधर्माय संसृज्येयातां तदाऽन्योन्यकाम-

प्रापकत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः । मिथुनाविति पुंस्त्वद्वियचने छान्दसे ततश्चो-
कारोऽपि स्वात्मसंसृष्टमिथुनेन कामप्रापक इति भावः ॥ ६ ॥

तदुपासकोऽप्युद्गाता स्योपास्योत्कारवद्यजमानकामप्रापक इत्याह—

आपयिता ह वै कामानां भवति य एत-

देवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

कामाप्त्वादिविशिष्टोद्गीथावयवोपासनस्य यजमानगतकामाप्तिरेव
फलमित्यर्थः ॥ ७ ॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरम् ।

ओंकारोऽनुज्ञाक्षरमित्यर्थः ।

तदेवोपपादयति—

यद्धि किञ्चानुजानात्योमित्येव तदाह ।

लौके ह्यनुज्ञां प्रयच्छन्पुरुष ओमित्यनुजानाति ।

एषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा ।

लौके समृद्धो ह्योमित्यनुज्ञां प्रयच्छति । अतोऽनुज्ञारूपस्योत्कारस्य
समृद्धिमूलकत्वादनुज्ञारूप ओंकार एव समृद्धिरित्यर्थः ।

एवं समृद्धिगुणविशिष्टोत्कारोपासनस्य फलमाह—

समर्पयिता ह वै कामानां भवति य

एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

यजमानस्य कामसमृद्धिं करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

उपास्यमोत्कारं प्ररोचनार्थं स्तोति—

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ।

तेन प्रकृतेनोपास्येनोत्कारेण त्रयी विद्या त्रयीविहितं कर्म प्रव-
र्तत इत्यर्थः ।

तदेवोपपादयति—

ओमित्याथावयव्यामिति शस्मत्योमित्युद्गायति ।

ओंकारपूर्वकत्वादाभायणशंभनोद्गानानामित्यर्थः ।

किमित्पोंकारपूर्वकमेवाऽऽधावणादिकं क्रियत इत्यत्राऽऽह—

एतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

रसेन सारभूतेन महिम्ना आहात्म्येन युक्तस्पोंकारलक्षणस्यापचित्यै-
पूजार्थमित्यर्थः ॥ ९ ॥

मन्वनेवंविद्धिरपि कर्मणोऽनुष्ठीयमानत्वदर्शनाद्विद्याया वैषष्ट्यमि-
त्याशङ्क्य सत्यं विद्वद्भिरविद्वद्भिरपि लोक ओंकारेण कर्मानुष्ठीयतेऽ-
थापि विद्याविद्ये विलक्षणफले । विद्यया क्रियमाणं हि कर्म धीर्य-
वत्तरं भवति, अतादृशं तु न तथेत्याह—

तेनोभौ कुरुतो यश्चेतदेवं वेद यश्च न वेद ।

नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति

श्रद्धयोपनिषदा तदेव धीर्यवत्तरं भवति ।

विद्योपासनं श्रद्धाऽऽस्तिकपद्धतिः । उपनिषच्छब्देनोपनिषज्जन्यं
ब्रह्मात्मकज्ञानमुच्यते । कर्मणो धीर्यवत्तरत्वं नाम प्रबलकर्मन्तराप्रति-
बन्धफलकत्वम् ।

इति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

रसतमत्वकामाप्तिरसमुद्धिगुणकत्वादिभिरुक्तप्रकारैर्विशिष्टमभिहितमु-
पासनं सर्वमेतदक्षरविषयकमेवेत्यर्थः । ततश्चोपास्यमेदशङ्का न कार्येति
भावः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयाधिकरणान्पुष्पन्यस्यन्तेऽङ्गपादे ।
'स एष रसानां रसतमः परमः परार्थोऽष्टमो यदुद्गीथः' [छा० १ ।
१ । ३] इत्येवंजातीयकानाम् 'इयमेव जुहुः स्वर्लोक आहवनीयः'
इत्यादिवाक्यवत्सत्तावकत्वमेव न तु रसतमत्वादिलक्षणोपास्यगुणसमर्प-
कत्वम् । ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेति नोपासनं विधीयते । उद्गी-
थविधिसिद्धानुष्ठानौपयिकज्ञानसामान्यवाची ह्युपासनशब्दः । अतोऽ-
नुवाद एव । ततश्च रसतमत्वादिवाक्ये सममिव्याहृतविध्यभावेन तदे-

जातिव्यक्ती गृहीत्वेह वयं तु श्रुतिलाक्षिते ।

कल्प्यादि यदि मुञ्चामः का श्रुतिस्तत्र पीड्यते ॥

इत्युक्तन्यायेन श्रुत्यर्थभूतायाः पदत्वजातेर्लक्ष्याया व्यक्तेश्चापरित्यागेन पदश्रुत्यबाध इत्युक्तरीत्योद्गीथश्रुतेरप्यबाधात्तत्तच्छाखागतोद्गीथमात्राधिपत्यमेवेति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘अङ्गावचद्वास्तु न शाखास्तु हि प्रतिवेदम् ।’ [ब्र० सू० ३ । ३ । ५५] तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । उद्गीथाद्यङ्गावचद्वा उपासनास्तत्तच्छाखागतोद्गीथम्यत्किञ्च न व्यवतिष्ठेरज्ञापि तु प्रतिशास्त्रं संबध्येन् । शुक्लं पदमानयेत्यादौ शुक्लपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या विशिष्टैकार्थप्रत्यायनायाविशेषप्रवृत्तश्रुतेः पीडनेऽपि प्रकृते तादृशबाधकामवेनाविशेषप्रवृत्तोद्गीथश्रुतेः संनिधिमात्रेण संकोचासंभवाच्छाखान्तरगतः क्रतुमध्ये प्रयुज्यमान उद्गीथः शाखान्तरोक्तोपासनप्रकारेणाप्युपास्य इत्यर्थः । ‘मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ।’ [ब्र० सू० ३ । ३ । ५६] शाखान्तरान्नातानां मन्त्रादीनां शाखान्तरान्नातक्रतुसंबन्धवच्छाखान्तरगतोपासनानामपि शाखान्तरगतोद्गीथसंबन्धे विरोधाभावादिति स्थितम् । तथा गुणोपसंहारपादे ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुरासीत् ।’ इत्यादिना विहितानामङ्गावचद्वा उपासनानामव्यभिचरितक्रतुसंबन्धिजुहूपस्थापितक्रतुफलनिराकाङ्क्षपर्णतादिवदव्यभिचरितक्रतुसंबन्धुद्गीथापस्थापितक्रतुफले नैराकाङ्क्षयात् । ‘तदेव धीर्यवत्तरं भवति’ [छा० १ । १ । १०] इति धीर्यवत्तरत्यादिश्रवणानामर्थवात्त्वाद्गीहिप्रोक्षणपर्णतादिवद्वृत्त्यादुपासनानि क्रतौ नियमेनोपाक्षेपानीति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्व्यप्रतिबन्धः फलम्’ [ब्र० सू० ३ । ३ । ४२] निर्धारणं निश्चयेन मनःसंस्थापनं ध्यानमित्यर्थः । तस्योपासनस्यानियमो नियमेनानुष्ठानं ‘तेनोमौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद’ [छा० १ । १ । १०] इत्यनियमदर्शनात् । तस्योपासनस्य प्रबलकर्माप्रतिबन्धरूपधीर्यवत्तरत्वलक्षणफलान्तरवत्त्वेन कर्माङ्गत्वायावादित्यर्थः । अयं भावः—पर्णतोदुम्बरतादिस्थले विधिविमक्त्यश्रवणादर्थवादेनैव विधिशक्तिमुपजनय्य पुनस्तेनैव फलसमर्पणे विरम्य व्यापाराद्वाक्यं मिश्रेत । उपासनायां तु विस्पष्टविधिश्रवणान्न फलविधित्वेऽपि वाक्यभेदशङ्का । अतः पर्णतोदुम्बरतादिविध्यपेक्षयोपासनविधेर्वैयर्थ्यात्फलविधित्वं संभवतीति स्थितम् । तथाऽङ्गनादे मुक्तिव्यतिरिक्तफलकोपासनाना-

मुद्गीथविद्यारहितयज्ञादिकर्मनिष्पाद्यानामपि यज्ञादिरूपसाधननिष्पत्तौ सत्यां विलम्बे हेत्वभावादिह जन्मन्येव निष्पात्तिरिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।' [अ० सू० ३ । ४ । ५१] मुक्तिव्यतिरिक्तफलकमुपासनमप्रस्तुतप्रतिबन्धे प्रतिबन्धाभावा ऐहिकमिहैव जन्मनि भवमिहैव जन्मनि भवति । सति प्रतिबन्धे जन्मा-
न्तरे । न च प्रतिबन्धासंभवः शङ्कनीयः । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव यीर्यवत्तरं भवति ।' [छा० १ । १ । १०] इत्युद्गीथविद्यायाः प्रबलकर्मान्तराप्रतिबन्धफलत्वावेवनेन प्रबलकर्मान्तर-
प्रतिबन्धस्यानुज्ञातत्वात् । न च 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदि-
षन्ति' [अ० ४ । ४ । २२] इति यज्ञादेर्वदनसाधनत्वश्रवणात्कारीर्य-
मिचारादिवन्नियतेहिकत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम् । शुष्यच्छालि-
संपत्तिवैरिविशेषविपत्तिफलकत्वेन विहितानां तेषां नियतेहिकत्वेऽपि
'विद्यासाधनयज्ञादिकर्मणां सज्जन्मनि विद्योद्देशेनाविहिततया पश्चा-
दिकलकचिन्नेष्ट्यादिवन्नियतेहिकत्वाभावात्, पूर्वतन्त्रे चतुर्धाध्याये
योगसिद्ध्यधिकरणे तथा निर्णयित्वादिति स्थितम् । तथा तदुत्तरा-
धिकरणे पक्षानुरूपो षलिरिति न्यायेन बलवत्कर्मसाध्यानां मुक्तिफल-
कब्रह्मोपासनानां प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धासंभवान्नियतेहिकत्वमेवेति पूर्व-
पक्षे प्राप्त उच्यते—'एवं मुक्तिफलानियमस्तद्वस्थावधृतेस्तद्वस्थावधृतेः'
[अ० सू० ३ । ४ । ५२] मुक्तिफलकविद्यानामप्येहिकत्वनियमो नास्ति ।
अप्रस्तुतप्रतिबन्धत्वरूपावस्थाया विशेषेण तन्नाप्यवधृतत्वात्तन्नापि प्रच-
लानां ब्रह्मविदपचारादिप्रतिबन्धकानां संभवात् । हिरुक्तिरध्यायसमा-
प्यर्था । प्रकृतमनुसरामः ॥ १० ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

उद्गीथाद्येव ओङ्कारे मुख्यप्राणहृदि विधातुमाख्यायिकां प्रस्तौति—
देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्याः ।

द्विविधाः प्राजापतिमुता देवासुरा यस्मिन्काले परस्परं युद्धं कृत-
वन्त इत्यर्थः । प्राजापत्या इत्यपत्यार्थे दित्यादित्यादित्यपत्युत्तरपदा-
ण्य इति ण्यः ।

तद्ध देवा उद्गीथमाजहूरनेनैनानभिषाविष्याम इति ॥ १ ॥

तदा देवा अनेनोद्गीथावयवेनोङ्कारेणोपासितेनासुराऽप्येष्याम इत्य-
भिसंधायोद्गीथं प्राणमुपायत्वेन स्वीकृतवन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचकिरे ।

ते देवा घ्राणेन्द्रियत्वेनोद्गीथमुपासितवन्त इत्यर्थः । नासिकायां मर्बं
नासिक्यं शरीरावयवाच्चेति यत् ।

तः हासुराः पाप्मना विविधुः ।

तं नासिक्यं प्राणमसुराः स्वकीयेन पाप्मना संयोजितवन्तः पापहेतु-
मृतवृत्त्या संयोजितवन्त इति यावत् ।

तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च

दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

तस्मात्पापसंसर्गाद्धेतोः पुरुषो घ्राणेन सुरभि च दुर्गन्धि चोभयं
जिघ्रति । तस्मान्नासिक्यः प्राणः पापविद्ध एवेत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचकिरे ताः हासुराः

पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं वदति सत्यं

चानृतं च पाप्मना ह्येष विद्धा ॥ ३ ॥

पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचकिरे तद्धासुराः

पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं

चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

अदर्शनीयममेध्यादिकमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचकिरे तद्धासुराः

पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रव-

णीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

अश्रवणीयं पापवचनमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचकिरे तद्धासुराः पाप्मना
विविधुस्तस्मात्तेनोभयः संकल्पयते संकल्पनीयं
चासंकल्पनीयं च पाप्मना होतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

असंकल्पनीयं पापमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ ह य एवायं मुख्यः

प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचकिरे ।

उद्गीथावयवमोकारं मुख्यप्राणस्येनापासितवन्त इत्यर्थः ।

तः हासुरा कृत्वा विदध्वंसुः ।

तं मुख्यप्राणं पाप्मना येन प्रवृत्ता असुरास्तं प्राप्य स्वयमेव विदध्वंसुर्विध्यस्ता अभवन्नित्यर्थः । तत्र वृष्टान्तमाह—

यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेतैवम् ॥ ७ ॥

आखण्यत इत्याखणं मृत्पिण्डः । यथा मृत्पिण्डोऽश्मानं प्राप्य विध्वंस्तो भवति एवमिति व्यासार्थव्याख्यातम् । आखणमिति च्छान्दसं णत्वं नपुंसकत्वं च ॥ ७ ॥

एतद्विद्यायाः फलमाह—

यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते

एवमसं विध्वंसते य एवंविदि

पापं कामयते यश्चैनमभिदासति ।

एवंविदि एतद्विद्यानिष्ठे यः पापं कर्तुं कामयते । यश्चैनमभिदासति हिनस्ति सोऽश्मप्राप्तलोहवद्व्यस्तो भवतीत्यर्थः । दापयन इत्यतो दोऽपराण्डन इत्यतो वा लेटि मिच्यदुलं लेटीति सिपि दासतीति रूपम् ।

स एषोऽश्माखणः ॥ ८ ॥

न एष एतद्विद्यानिष्ठे पापकामोऽश्मप्राप्ताखण इत्यर्थः । एतेन खनो य चेति यप्रत्ययस्य करणाधिकरणयोरित्यनुवृत्त्या कमण्यमायात्करणार्थ

एव घप्रत्ययो वक्तव्यः । अत आखणशब्दस्याश्मविशेषणत्वमेव वक्तव्यम् । खननसाधनतया दृढमश्मानं प्राप्य यथा लोटादिकं ध्वंसत इति हि तस्यार्थः । अत एव स एषोऽश्माखण इति वाक्यशेषेऽश्मविशेषणत्वमेवाऽऽखणस्य श्रूयत इति शङ्काऽपास्ता । धाजसनेयके समानप्रकरणे 'यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेत' [वृ० १।३।७] इति भवणेन तत्समानार्थत्वस्य वक्तव्यतयाऽऽखणशब्दस्य लोष्टवाचित्वस्यैवोचितत्वात् । बहुलग्रहणेन कर्मण्यपि घप्रत्ययस्योपपत्तेः । इतरथा कर्तृवाचिपदाध्याहारप्रसङ्गात्स एषोऽश्माखण इत्यत्राश्माखणशब्दस्य समस्तस्याश्मप्राप्ताखणवाचित्वेनाश्मशब्दसामानाधिकरण्येनाऽऽखणशब्दस्याश्मविशेषणत्वामावात्पूर्ववाक्ये नपुंसकलिङ्गनिर्विष्टस्यापि स एष इति पुंलिङ्गसामानाधिकरण्येनाऽऽखणशब्दस्य पुंलिङ्गस्योपपत्तेश्चेति ब्रह्मण्यम् ॥ ८ ॥

इतरप्राणाद्यपेक्षया तस्य घेयम्यमाह—

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि च विजानाति ।

एतेन मुख्यप्राणेनेत्यर्थः । पुरुष इति शेषः । तत्र हेतुमाह—

अपहतपाप्मा ह्येषः ।

स्पष्टोऽर्थः ।

तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति ।

तेनैव हेतुना तस्यापहतपाप्मत्वादेव प्राणान्तरवदात्मंमरित्वा प्राणास्वाशितपीतादिनेतरान्प्राणान्क्षतीत्यर्थः ।

एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति ।

यत एव घ्राणादिप्राणसमुदायो मुख्यप्राणाशितपीतलब्धसत्ताकाऽत एवान्ततो मरणकाले मुख्यप्राणाशितादेरभावेनैतमावित्त्वाऽलब्धोत्क्रामतीत्यर्थः । विद्वल लाम इति हि धातुः ।

व्याददात्येवान्त इति ॥ ९ ॥

अन्ततो मरणकाले सर्वप्राणानामुत्क्रमणादेवाऽऽप्यव्यादानं करोतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचके ।

तमध्यस्तप्राणभावमुद्गीथावयवमोंकारमङ्गिरा ऋषिरुपासांचक इत्यर्थः । केचित्त्वङ्गिरसोपास्यमेव मुख्यप्राणमाङ्गिरसं वदन्तीत्याह—

एतमु एवाऽऽङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यदसः ॥ १० ॥

अङ्गानां प्राणाधीनस्थितित्वेन प्राणस्याऽऽङ्गिरसत्वमिति भावः । अङ्गरसमाङ्गिरसं वदन्ति परोक्षप्रियत्वाद्देवानामिति भावः ॥ १० ॥

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचके ।

तेनाऽऽङ्गिरसत्वेन गुणेन बृहस्पतिरुपासितवानित्यर्थः ।

एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्धि

बृहती तस्या एष पतिः ॥ ११ ॥

वाग्निन्द्रियस्य सर्वार्थप्रकाशकत्वादिना बृहत्त्वम् । तस्य च मुख्यप्राणाधीनत्वात्प्राणस्य वाक्पतित्वम् । अत उपास्यस्यैव बृहस्पतित्वं मन्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

तेन तं हायास्य उद्गीथमुपासांचके ।

तेन बृहस्पतित्वेनायास्य ऋषिरुपासितवानिति ।

एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्यायदयते ॥ १२ ॥

आस्यान्मुसादयते निर्गच्छतीत्यर्थः ॥ २ ॥

तेन तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार ।

तेन पूर्वोक्ताङ्गिरसत्वबृहस्पतित्वायास्यत्वादिगुणविशिष्टतया दलभ्युतो बकनामोपासितवानित्यर्थः ।

स ह नैमिषीयाणामुद्रात्ता बभूव ।

स्पष्टोऽर्थः ।

स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

स दाल्भ्यो बरु एभ्यो नैमिषीयेभ्यो यजमानेभ्यः शत्रुपरामवादीन्कामानानेन विद्यामाहात्म्यात्संपादितवानित्यर्थः । आगायति स्म 'उद्गमे' इति उद्गमतेऽपि ॥ १३ ॥

आगाता ह वै कामानां भवति य
एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ।

एवमुपासको यजमानकामानां गानेन संपादयिता भवतीत्यर्थः ।

इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयः

खण्डः ॥ २ ॥

अध्यात्ममुद्गीथोपासनं समाप्तमित्यर्थः । आत्मशब्देनेन्द्रियमनःप्राणा-
दिसंघात उच्यते । अध्यात्ममात्मनीत्यर्थः । आत्मविषयमिति पाषत् ।
एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यतेऽङ्गपादे । ऋत्विक्परि-
क्रयस्याङ्गानुष्ठानमात्रार्थत्वाद्ङ्गावबन्धोपासनानां च 'तन्निर्धारणानियम-
स्तद्वृत्तेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम्' [ब० सू० ३।३।४२] इतिसूत्रोक्त-
न्यायेनानङ्गत्वाच्छास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायेन यजमानगामिफलसाध-
नमूतोपासनस्य यजमानेनैव कर्तव्यत्वात् । 'गोदोहनेन पशुकामस्य
प्रणयेत्' इतिश्रुतपञ्चमर्थगोदोहनादेरनङ्गत्वेऽप्युत्तिकर्तृकप्रणयननिर्वाह-
कस्य गोदोहनस्य यजमानेनोपादानुमशक्यतयात्तिकर्तृकत्वेऽप्युद्गातृकर्तृक
उद्गीथे यजमानस्योपासनसंभवादुपासनं यजमानकर्तृकमेव । औद्गात्रस-
माख्यानं तु शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायविरोधादुपेक्षणीयम् । अतः
फलस्य स्वामिगतत्वात्फलस्वामियजमानकर्तृकमेवोपासनमित्यात्रेयमत-
मिति 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः' [ब० सू० ३।४।४४] इति
सूत्रेण पूर्वपक्षं कृत्वा, उपासनान्यप्युत्तिकर्माण्येव स्युः । प्रयोगाङ्गस्य-
त्विजः प्रयोगान्तःपात्युद्गीथाद्युपासनेऽपि तत्कर्तृकत्वसंभवात् 'तं ह
वको दात्म्यो विदांचकार । स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः
कामानागायति' [छा० १।२।१३] इत्युद्गातृदात्म्यागतविद्याया
यजमानकामसंपादकत्वदर्शनलिङ्गान्वात्तिकर्तृकमेवोपासनम् । न चात्तिक-
र्तृजोपासनस्य फलमुत्तिग्गतमेव स्यादिति शक्यशङ्कम् । ऋत्विजां परार्थ-
तया तेषां वचनमन्तरेण फलसंबन्धानुपपत्तेः । 'यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज
आशिषमाशासते यजमानायैवैतामाशिषमाशासते' [शत० १।३।१।२६]

अथाधिदैवतम् ।

उद्गीथस्योपासनमुच्यत इति शेषः । अधिदैवतं देवतायामित्यर्थः ।
देवताविषयमिति यावत् ।

य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत ।

आदित्यदृष्टचोद्गीथमुपासीतेत्यर्थः । कर्माङ्गमूतोद्गीथापेक्षया कर्मरि-
ष्यस्याऽऽदित्यस्योत्कृष्टत्वादपकृष्ट उत्कृष्टदृष्टेरेव न्याय्यत्वादादित्यदृष्टचो-
द्गीथस्योपास्यत्वं द्रष्टव्यम् । अयमर्थः 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः'
[ब० सू० ४ । १ । ६] इत्यधिकरणसिद्धः । तच्चाधिकरणं बृह-
दारण्यकप्रकाशिकायामुपन्यस्तं तत्रैवानुसंधेयम् । उद्गीथेऽध्यस्यमान-
स्याऽऽदित्यस्योद्गीथसाम्यमाह—

उयन्वा एष प्रजाभ्य उद्रायति ।

उयश्स्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै

भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

यैशब्दोऽवधारणे एष आदित्य उद्गच्छन्नेव प्रजानामर्थप्रकाशनं
कुर्वन्नुद्गायतीष भवति । उद्गीथोऽपि प्रजानामुद्गायतीष भवतीत्यर्थः ।
उयन्नेवाऽऽदित्यस्तमोजनितं प्राणिनां भयमपहन्ति । तमोभयापहन्तृ-
त्वगुणविशिष्टतयोद्गीथ आदित्योपासनस्य फलमाह—अपहन्तेत्यादि ।
अन्धकारादिप्रयुक्तभयापहन्ता भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

समान उ एवायं चासौ च ।

अध्यात्मप्रकरण उक्तोऽयं प्राणश्चाधिदैवतप्रकरण उच्यमानोऽसावा-
दित्यश्च समान एवेत्यर्थः । तदेव दर्शयति—

उष्णोऽयमुष्णोऽसौ ।

अयं प्राण उष्ण उच्छ्वासस्योष्णतयोपलभ्यमानत्वात् । उष्णोऽसौ
सवितुश्चोष्णत्वं स्पष्टमेवेति भावः ।

स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुम् ।

इमं प्राणं स्वर इत्याचक्षते । स्वरो गन्तेत्यर्थः । स्वं शब्दोपतापयोरि-
पस्माद्धातूनामनेकार्थत्वात्कर्तर्येचि रूपम् । अमुमादित्यं स्वर इति

प्रत्यास्वर इति चाऽऽचक्षते । उदयास्तमययोगमिनप्रत्यागमनवत्त्वात् । प्राणस्य वायुरूपतया सदागतित्वेन प्रत्यागमनाभावान्न प्रत्यास्वरसंज्ञेति भाषः । अतः स्वरसंज्ञावत्त्वादौष्ण्याच्च प्राणादित्यौ परस्परसमानावित्यर्थः ।

तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

तस्मादुभयोरपि समत्वादिमं प्राणं वाऽमुमादित्यं वैतमेतादृशगुणकमुद्गीथमुपासीत । उद्गीथेऽध्यस्तमुपासीतेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनमाह—

अथ खलु ध्यानमेवोद्गीथमुपासीत ।

उद्गीथं ध्यानत्वेनोपासीतेत्यर्थः । को ध्यान इत्यत्राऽऽह—

यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपा-

नोऽथ यः प्राणापानयोः संधिः स ध्यानः ।

पुरुषो मुखनासिकेन यत्प्राणिति यं वायुं बहिर्निःसारयति स प्राणा-
रूपो वायोवृत्तिविशेषः । मुखनासिकेन यं वायुमन्तराकर्षयति सोऽपानारूप-
वृत्तिविशेषः । तयोरन्तर्वृत्तिविशेषरूपः संधिर्व्यान इत्यर्थः । उद्गीथे
ध्यानाध्यासहेतुमाह—

यो ध्यानः सा वाक् ।

वाचो ध्याननिर्वर्त्यत्वाद्वाग्ध्यान एवेत्यर्थः । वाचो ध्याननिर्वर्त्यत्व
युक्तिमाह—

तस्मादप्राणन्नपानन्वाचमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

तस्माद्वाचो ध्याननिर्वर्त्यत्वादेव हेतोः श्वासमोक्षाकर्षणलक्षणप्राणा-
पानौ विनैव तत्संधिरूपया ध्यानवृत्त्या वाचमभिव्याहरतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

या वाक्सर्कतस्मादप्राणन्नपानन्नृचमभिव्याहरति

यर्कतत्साम तस्मादप्राणन्नपानन्साम गायति यत्साम

स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्नपानन्नृचायति ॥ ४ ॥

अप्राणताऽनपानता पुंसः कियमाणत्वादेव ध्यानस्य वागृक्सामो-
द्गीथानां चैक्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवान्ति कर्माणि
यथाऽग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष
आयमनमप्राणन्ननपानस्तानि करोत्ये-
तस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

लोकेऽग्निमन्थनमर्यादाधायनदृढधनुरारोपणादिवीर्यवत्तराणि कर्माणि
व्यानसाध्यान्पेव । अतो हेतोरुद्गीथाख्यवीर्यवत्कर्मणोऽपि व्यानसा-
ध्यत्वाद्यानमेवोद्गीथमुपासीतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ स्तलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति ।

घ्राणपुद्गीथनामानुप्रविष्टान्यक्षराण्येवोपासीतेत्यर्थः ।

प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति ।

उदित्यक्षरे प्राणबुद्धिः कार्येत्यर्थः । तत्र हेतुः प्राणेन ह्युत्तिष्ठति ।

वाग्मीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षते ।

गीरित्यक्षरे वाग्बुद्धिः कार्या । वाचो गीःशब्दवाच्यत्याद्वीरित्यसं-
वागव्यासाधिष्ठानत्वमुपपद्यत इति भावः ।

अन्नं धम् ।

धमित्यक्षरेऽन्नबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—

अन्ने हीदः सर्वः स्थितम् ॥ ६ ॥

अन्नस्य सर्वस्थानत्वेन चकारवत्त्वसाम्यात्प्रशब्देऽन्नबुद्धिर्युज्यत इति
भावः ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनमाह—

यौरिवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी यमा-

दित्य एवोद्गायुर्गिरिस्थः सामवेद

एवोयजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थम् ।

उदक्षरे ब्रुलोकादित्यसामवेदवृष्टिर्गिरक्षरेऽन्तरिक्षवायुयजुर्वेदवृष्टिस्-
मक्षरे पृथिव्यग्न्यवेदवृष्टिश्च कार्येत्यर्थः । उक्तस्य चतुर्विधस्योद्गीथनाम
क्षरोपासनस्य फलमाह—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम् ।

वागस्या उपासकाय सकामाय दोहं दोग्धि । कं दोहमित्यत्राऽऽह—
यो वाचो दोहः ।

वाक्साध्यं फलमित्यर्थः । फलान्तरमप्याह—
अन्नवानन्नादो भवति ।

प्रभूताज्ञो वींताग्निश्च भवतीत्यर्थः ।

य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥
स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत ।

आशीःसमृद्धिहेतुभूतान्युपासनानीति मत्वोपासनं कुर्यादित्यर्थः ।
कृषामुपासनं कार्यमित्यत्राऽऽह—

येन साम्ना स्तोप्यन्स्यात्तन्नामोपधावेत् ॥ ८ ॥

उपधावेच्चिन्तयेदुपासीतेत्यर्थः ॥ ८ ॥

यस्यामृचि तामृचम् ।

यस्यामृचि साम्ना स्तोप्यन्स्यात्तामृचं चिन्तयेदित्यर्थः ।

यदार्पयं तमृषिम् ।

अपिसंबन्धपार्पयमृषिहृष्टमित्यर्थः । यस्याऽऽर्पयं यदार्पयं शिवमा-
वतवत्समाप्तः । साम यदृषिकं तमृषिं चिन्तयेदित्यर्थः ।

यां देवतामग्निष्टोप्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

येन च्छन्दसा स्तोप्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेत् ।

छन्दो गापऽयादिकमित्यर्थः ।

येन स्तोमेन स्तोप्यमाणः

स्याच्च स्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

स्तोमस्त्रिवृत्पञ्चदशादिलक्षण ऋक्संख्याविशेषः ॥ १० ॥

यां दिशमग्निष्टोप्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

यदिदिग्भिमुखतया स्तोप्यन्स्यात्तां दिशं च ध्यायेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परि-
पश्येदेवं पर्यपश्यद्वाचि साम्नि यजुषि ।

उशब्दो निरर्थकः । तान्देवान्कर्मपरान्यथा मत्स्यग्राह्युदके मत्स्यं परि-
पश्यत्येवं मृत्युर्ब्रह्मणीविहितं कर्मानुमविष्टान्कर्मघ्नंशसमयं प्रतीक्ष्य ग्रही-
तुमेच्छत् ।

ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो
यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

ते देवा मृत्योर्ब्रह्मणीपितं ज्ञात्वा ब्रह्मणीविहितयज्ञादिकर्मस्य उद्भूताः
कर्मनिर्मलीकृतान्तःकरणाः सन्तः स्वरशब्दितमोकारमुपासितुं प्रवृत्ता
इत्यर्थः । नुशब्दः खल्वर्थः ॥ ३ ॥

कथं पुनः स्वरशब्दवाच्यत्वमोकारस्येत्यन्नाऽऽहु—

यदा वा ऋचमामोत्योमित्येवातिस्वरत्येव* सामैवं यजुः ।

यदा यगादिकमारभते तदोमिति शब्दं करोतीत्यर्थः ।

एष उ स्वरः ।

तस्मादेष ओंकारः स्वर इत्यर्थः ।

उपास्त इति यावत् । तादृशामृतत्वादिगुणकं प्रणवं प्रविश्य देवा पाह-
शामृतत्वयुक्तास्तादृशो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

प्रणवोऽद्वीथयोरैकत्वविज्ञानमनेकपुत्रफलकमुपदिश्यते—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति ।

उद्गात्रा प्रयुज्यमानो य उद्गीथ उद्गीथावर्णोकारः स एव होत्रा
प्रयुज्यमानः प्रणवः । यश्च होत्रा प्रयुज्यमानः प्रणवः स एवोद्गात्रा
प्रयुज्यमान उद्गीथावर्णोकार इतीतरेतरेकवाध्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ।
एवं तपोरैक्यं कृत्वा तत्राऽऽदित्यवृष्टिमुपदिशति—

असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवः ।

कथमादित्यस्य प्रणवन्वमित्यद्याऽऽह—

ओमिति शेष स्वरन्नेति ॥ १ ॥

एष आदित्य ओमिति स्वरन्कर्तव्यकर्मणामोमित्यनुज्ञां कुर्वन्निवो-
देति । स्वृ शब्दोपतापयोरिति हि धातुः । अतः सविता प्रणवोऽत एवो-
द्गीथश्चेति भावः ॥ १ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिपं तस्मान्मम त्वमे-

कोऽसीति ह कीपीतकिः पुत्रमुवाच ।

एतमादित्यमेवोद्गीथं गीतवानस्मि न तु बहुरश्मिगुणविशिष्टतयोपा-
सितवानस्मि । तेन दोषेण मम त्वमेक एव पुत्रोऽभूरिति कीपीतकिः
स्वपुत्रमुवाचेत्यर्थः ।

रश्मींश्स्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्ति ।

तस्मात्त्वं बहुरश्मिविशिष्टादित्यविज्ञानावृत्तिं कुरु तव रश्मिबहुत्व-
ज्ञानमहिम्ना बहवः पुत्रा भविष्यन्तीत्यप्युवाचेति पूर्वेण संबन्धः ।
पर्यावर्तयादिति पुरुषव्यत्ययद्वयान्दमो लेटि उदोऽडाटावित्पा-
डागमः ।

इत्यर्पिद्वयतम ॥ २ ॥

उपदिष्टमिति शेषः ॥ २ ॥

अथाध्यात्मम् ।

उपदिश्यत इति शेषः ।

य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीत ।

स्पष्टोऽर्थः ।

ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

एष प्राणो वागादिप्राणप्रवृत्त्यर्थमोमित्यनुज्ञां कुर्वन्निव संचरति
तस्मात्प्राण एव प्रणय उद्गीथश्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिपं तस्मान्मम त्वमे-

कोऽसीति ह कौपीतकिः पुत्रमुवाच ।

पूर्ववदर्थः ।

प्राणाश्स्त्वं भूमानमभिगायताह-

हवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

मे ब्रह्मवः पुत्रा भविष्यन्तीत्याभिसंधाय मुख्यं प्राणमुपासीनस्त्वं
भूमानं बहुत्वमाभितान्वागादीन्प्राणांश्च मुख्यप्राणेन सहामिसंधायामि-
गायताबुद्धानं कुर्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

उक्तप्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानफलमाह—

अथ खलु य उद्गीथः । स प्रणवो यः

प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाच्चेवापि दुरु-

द्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य पञ्चमः

खण्डः ॥ ५ ॥

अपि दुरुद्गीथं वेदनहीनमप्युद्गीथमित्यर्थः । होतृषदनाद्धोतृकर्तृको-
द्गीथप्रणवेक्यज्ञानादित्यर्थः । होतृषदनादित्यत्र पूर्वषदादितिपत्वम् । अयं
भावः—उद्गीथप्रणवेकत्वविज्ञानं होत्राऽपि कर्तव्यमुद्गात्राऽपि कर्तव्यं
प्रणवे होतुरुद्गीथ उद्गातुश्च कर्तृत्वात् । तत्रोद्गातुरेतादृशैकत्वविज्ञानामा-

वेन दोषयुक्तमप्युद्गात्रा प्रयुज्यमानमुद्गीथं होता स्वीयोद्गीथप्रणवैकत्व-
 विज्ञानमाहात्म्यादनुसमाहरति समाध्यात्यदुष्टं करोतीति । द्विरुक्तिर्वि-
 द्यासमाप्त्यर्था । एतत्क्षणहान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते
 गुणोपसंहारपादे ' अङ्गेषु यथाश्रयभावः ' [ब० सू० ३ । ३ । ६१]
 अङ्गेष्वाश्रितानामुपासनानां क्रतोर्बाहिः प्रयोगासंभवेनाऽऽश्रयतन्त्रत्वस्य
 वक्तव्यतया प्रयोगवचनेनाऽऽश्रयाणामुद्गीथादीनां समुच्चयनियमेनाऽऽश्रि-
 तानामपि समुच्चयनियमो युक्तः । इतरथा तदाश्रितत्वानुपपत्तेरित्यर्थः ।
 ' शिष्टेभ्य ' [ब० सू० ३ । ३ । ६२] गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणवेवि-
 तिबद्धिकारान्तराश्रवणेनोद्गीथमुपासीतेत्युद्गीथाङ्गत्वोपासनविधानाच्च
 नियमेनोपासनोपादेया । न च वीर्यवत्तरत्वरूपफलार्थत्वस्य ' तन्निर्धा-
 रणानियमः ' [ब० सू० ३ । ३ । ४२] इत्यत्रोक्तत्वात्कथं तस्यो-
 द्गीथाङ्गत्वमिति वाच्यम् । उद्गीथमुपासीतेतिवाक्येनोपासनस्योद्गीथरू-
 पाभ्यसंबन्धे वीर्यवत्तरत्वरूपफलसंबन्धे च बोध्यमाने वाक्यभेदप्रस-
 ङ्गात् । न च वाक्यभेदभीत्या तस्य फलविधित्वासंभवेऽपि तस्य फला-
 काङ्क्षायां रात्रिसिद्ध्यन्यायेन वीर्यवत्तरत्वरूपैवाऽऽर्थवादिकस्य फलत्वक-
 ल्पनं संभवतीति वाच्यम् । पर्णतादावपि तथा प्रसङ्गात् । ' समाहारात् '
 [ब० सू० ३ । ३ । ६३] होतुपदनाद्वैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति
 [छा० १ । ५ । ५] इत्युपासनस्य समाहारनियमो दृश्यते । उद्गा-
 तृकृतवेदनहानिप्रयुक्तोद्गीथवैगुण्यस्य होतुकर्तृकप्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानेन
 समाधानोक्त्योपासनस्याऽऽवश्यकत्वप्रतीतेरित्यर्थः । ' गुणसाधारण्यश्रु-
 तेष्व ' [ब० सू० ३ । ३ । ६४] उपासनगुणस्योपास्यस्य प्रणवस्य
 ' तिनेषं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याभावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गाय-
 तीति ' [छा० १ । १ । ९ ।] इति साधारण्यश्रुतेर्ध्वोपासनावश्यकता
 गम्यते । प्रकृतपरामर्शना तैनेतिशब्देन सोपासनस्य प्रणवस्यैव प्रतीते-
 रूपासनानियमोऽस्तीति प्राप्त उच्यते—' न वा तत्सहमावाश्रुतेः ' [ब०
 सू० ३ । ३ । ६५] न वा क्रतुषूपादाननियम उद्गीथोपासनादेः । कुतः ।
 तत्सहमावाश्रुतेरुद्गीथमावाश्रुतेरित्यर्थः । वीर्यवत्तरत्वरूपफलार्थतया
 गोदोहनतुल्यत्वेन कर्त्तव्यत्वाभावादिति भावः । न च पर्णतादेरपि पुरु-
 षार्थत्वप्रसङ्गः । पर्णताया जुहूसंबन्धेऽप्यध्वोपासरूपतया फलनिष्पावक-
 त्वाभावेन फलाकाङ्क्षाया एवाभावात्फलकल्पनाया अप्रसक्तेः । अतः
 फलाकाङ्क्षासिद्ध्यर्थं क्रतुपरागेण ध्वोपासरूपतां संपादयितुं जुह्वलित्वेन
 क्रतुमुपस्थाप्य तत्संबन्धबोधकः शब्दो वा कल्प्यः । जुह्वशब्दस्य जुह्वसं-

बन्धिकतुलक्षकत्वं वा कल्प्यम् । ततश्च क्रतुफलेनैव नैराकाङ्क्षाद्वा-
त्रिसत्रन्यायेनाऽऽर्थवादिकफलकल्पना न समुन्मिषति । इहोपासनायाः
स्वयं व्यापाररूपायाः क्रतूपरागमन्तरेणैव फलाकाङ्क्षा संभवति ।
सत्यां च फलाकाङ्क्षार्या वाक्यशेषस्यैव फलसमर्पकतया परि-
णामसंभवे फलवत्कर्मान्तरबोधकवाक्यकल्पनाद्यनपेक्षणात्तस्माद्वाक्य-
शेषश्रुताय तस्मै फलायोद्गीथाद्याश्रयविशिष्टोपासनविधिरित्येव यु-
क्तम् । न चोपासनानामाश्रयतन्त्रत्वात्सत्याश्रये तत्तन्त्राणामुपासना-
नामप्यावश्यकत्वमिति वाच्यम् । इदमेव ह्युपासनानामाश्रयतन्त्रत्वं
यदाश्रये सत्येव वृत्तिर्नान्यदाऽस्तीति न तु यावदाश्रयसत्त्वं वृत्तिरिति ।
ततश्च कामोपचञ्चत्वादुपासनानां कामानां चानित्यत्वात्तदवचञ्चानाम-
प्युपासनानामनित्यत्वमेव । 'दर्शनाच्च' [ब० सू० ३ । ३ । ६६]
'एवं विद्धु वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाभ्यर्त्विजोऽभिरक्षति' [छा०
४ । १७ । १०] इति ब्रह्मणो वेदनेनैव सर्वेषां रक्षणं भवतीति श्रुति-
ब्रह्मातृप्रभृतीनां वेदनस्यानियमं दर्शयतीति स्थितम् । केचिन्नुद्गीथवि-
द्यायाः क्रत्वर्थत्वाभावे 'अभ्यधात्वं' शब्दादिति चेत् । [ब० सू०
३ । ३ । ६] इत्यधिकरण उद्गीथविद्यायाः क्रत्वर्थत्वेन क्रतुसाव-
र्ण्यफलकत्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तद्विरुद्धं ग्राह्यमिति देवताधि-
करणे प्रतिपादितमिति भाष्यं विरुध्येत । तथा पुरुषार्थाधिकरणे 'यदेव
विद्याया करोति' [छा० १ । १ । १०] इति विद्यायास्तृतीयाश्रुत्या कर्माङ्ग-
त्वप्रतिपादनाच्च विद्यातः पुरुषार्थ इति 'तच्छ्रुतेः' [ब० सू० ३ । ४ । ४]
इति सूत्रेण पूर्वपक्षे कृते तत्र विद्याशब्दस्य प्रकृतोद्गीथवि-
द्याविषयत्वेनोद्गीथविद्यामात्रस्य कर्माङ्गत्वेऽपि न ब्रह्मविद्यायाः कर्मा-
ङ्गत्वमस्तीत्येतदर्थप्रतिपादकयोः 'असार्धत्रिकी' [ब० सू० ३ । ४ । १०] इति
सूत्रतन्त्राप्ययोर्विरोधश्च स्यादतथास्त्येव क्रत्वर्थत्वम् । न च 'तन्निर्धार-
णानियमः ।' 'अङ्गेषु यथाश्रयमावः' [ब० सू० ३ । ३ । ४२ । ६१] इत्य-
धिकरणद्वयविरोधः । तयोर्नियतक्रत्वर्थत्वप्रतिक्षेपमात्रपरत्वात् । न च
क्रत्वर्थत्वेऽप्यार्थवादिकफलस्वीकारे पर्णताया अप्यपापश्लोकश्रवणफ-
लकत्वप्रसङ्ग इति शङ्क्यम् । प्रस्तरप्रहरणस्य क्रत्वर्थस्यापि सूक्तवा-
कमन्त्रप्रतिपाद्यफलार्थत्ववदुपकोसलविद्याङ्गभूताग्निविद्यायाः 'नास्पा-
वरपुरुषाः क्षीयन्ते' [छा० ४ । १ । १२] इति प्रतिपन्नब्रह्मविद्याविरोधि-
तदुपयोगिफलाथत्ववच्च क्रत्वर्थस्या अपि पर्णताया अर्थवादप्रतिपन्नक्र-

त्वविरुद्धफलार्थत्वे न दोष इति भाष्यकाराशय इति वदन्ति । अन्ये तु 'अन्यथात्वं शब्दात्' [ब०सू० ३।३।६] इत्यत्र भाष्यस्यान्वारुह्योक्त-
त्वात्कत्वर्थत्वं न भाष्यकृदभिमतमिति वदन्ति । प्रकृतमनुसरामः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेणोद्गीथोपासनं प्रस्तूयते—

इयमेवर्गग्निः साम ।

ऋचि पृथ्वीदृष्टिः साम्न्यग्निदृष्टिश्च कर्तव्येत्यर्थः ।

तदेतदेतस्यामृच्यध्युदः साम ।

तदेतदमृच्यध्युदं सामेतस्यां पृथिवीरूपायामृच्यध्युदमुपरिस्थितमि-
त्यर्थः । अत एवाद्याप्यृगाकृदमेव साम गीयत इत्याह—

तस्मादृच्यध्युदः साम गीयते ।

एवमुक्तसामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिं विधाय सामनागावयवभूतयोः साश-
ब्दामशब्दयोः पृथिव्यग्निदृष्टिः कर्तव्येत्याह—

इयमेव साऽग्निरमः ।

उक्तोऽर्थः ।

तत्साम ॥ १ ॥

तत एव परस्परसंसृष्टपृथिव्यग्निरूपसाशब्दामशब्दमेलनेन सामन्यव-
हारो लोके प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्गवायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्युदः
साम तस्मादृच्यध्युदः साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा
वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

यैरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्युदः साम
तस्मादृच्यध्युदः साम गीयते यैरेव साऽऽदित्योऽ-
मस्तत्साम ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्कुचन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः
साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते नक्षत्राण्येव सा
चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्कु ।

शुक्लं भाः शुक्ला वीसित्तिर्यथः । शुक्लमिति लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः ।

अथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम ।

परः कृष्णमतिशयेन काष्ण्यरूपं परः कृष्णमिति प्रसिद्धं पक्षीलं
तत्सामेत्यर्थः । आदित्ये काष्ण्यस्य समाहितवृष्टिभिरीक्ष्यमाणत्वात्तद्व-
स्तीति द्रष्टव्यम् । अत्र परः शब्दः सान्तो द्रष्टव्यः ।

तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते ॥ ५ ॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ

यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ।

एषमुचि पृथिव्यन्तरिक्षद्युमक्षत्रादित्यगतशुक्लमाख्यत्ववृष्टिं सामान्य-
मिवाप्यादित्यचन्द्रादित्यगतनीलमाख्यत्ववृष्टिं च विधायाऽऽह—

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते ।

आदित्यमण्डलस्यान्तर्हिरण्मयो रमणीयो यो योगिभिर्दृश्यत इत्यर्थः ।
'दृश्यते त्वत्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' [क० १।३।१२] इति श्रुत्यै-
कार्थ्याद्विरण्मय इति रूपसामान्याच्चन्द्रमुख्यवदिति वाक्यकारः । ततश्च
हिरण्मयशब्दस्य न मुख्यार्थो ग्राह्य इति वाक्यकाराभिप्रायः । ततश्च
हिरण्मयत्वमुज्ज्वलत्वमित्यर्थः । ततश्च नीलतोयदामस्यापि हिरण्मयत्वे
नानुपपत्तिः । यद्वा कश्चिन्न तद्धेमसमानवर्णं तस्याऽऽननमिति श्रीरामाय-
णप्रयोगात् 'पश्यते रुक्मवर्णम्' [मु० ३।१।३] इति श्रुतेश्च
नीलतोयदामस्यापि रुक्मवर्णत्वं संभवति । तत्र हेतुश्च संप्रदायगम्यः ।
एतत्सर्वं वेदार्थसंग्रहप्रकाशिकायां स्पष्टं तत एवावगन्तव्यम् । अत्र
केचित् 'कप्पासं पुण्डरीकम्' [छा० १।६।७] इति वाक्ये
कप्पासशब्देनाऽऽदित्यमण्डलमुच्यते पुण्डरीकमित्यनेन हृदयपुण्डरीक-
मुच्यते । अतश्च यथा सूर्यमण्डलं हृदयपुण्डरीकं चोपासनस्थानमेवमु-

पासकस्याक्षिणी अपि परमात्मन उपासनस्थानमिति परोक्तव्याख्यान-
वृषणावसरे व्यासार्थैरादित्यमण्डलरूपस्थानावरुद्धेऽक्ष्णोः स्थानतया
विधानं न संभवतीत्युक्तेरादित्यमण्डलस्थानमुत्पत्तिशिष्टमिति प्रतीयते ।
ततश्च य एषोऽन्तरादित्य इति वाक्यमुपासनोत्पत्तिपरम् । ततश्च पुरुषो
दृश्यत इत्यत्र द्रष्टव्य इत्यर्थ इति व्यासार्थाभिप्रायः । न चाऽऽदित्यमण्ड-
लस्योत्पत्तिशिष्टत्वं उत्पत्तिशिष्टस्थानावरुद्धे भाष्यकृदभिमतपुण्डरीक-
बलामलायताक्षत्वादेः कथं विधानमिति वाच्यम् । पुण्डरीकाक्षत्वादेरुत्प-
त्तिशिष्टादित्यमण्डलस्थानावरुद्धत्वादुत्पत्तिशिष्टावरुद्धगुणानां विधा-
नसंभवात् । नन्वेवं ' सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ' [ब० सू० १ । २ । १]
इत्यत्र ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ' [छा० ३ । १४ । १]
इत्युत्पत्तिशिष्टसार्वात्म्यावरुद्धे मनोमयत्वादीनां विधानं न संभवती-
त्याक्षिप्य सर्वं खल्विति वाक्यस्योपासीतेत्यनेनैकवाक्यत्वाभावेन सार्वा-
त्म्यस्य नोत्पत्तिशिष्टत्वमिति व्यासार्थैः समर्थनमयुक्तं स्यात् । मनोमय-
त्वादीनामुत्पत्तिशिष्टसार्वात्म्याविरोधादित्येव परिहारसंभवेन वाक्यभे-
दनाभित्य सार्वात्म्यस्योत्पत्तिशिष्टत्वाभावसमर्थनं मुधेति चेदुपायान्तर-
स्योपायान्तरावृणक्त्यादिति वदन्ति । अन्ये त्वादित्यमण्डलस्थानावरुद्ध
इत्यस्य नोत्पत्तिशिष्टस्थानावरुद्धत्वमभिप्रेतमपि तु पुनपदनुपसंहरणी-
यादित्यमण्डलाक्षिरूपस्थानद्वयविधानेऽष्टदोषदुष्टविकल्पप्रसङ्गादित्येव
तात्पर्यमित्याहुः । ' यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् ' [मु० ३ । १ । ३]
इति प्रकरणे मनसा तु विशुद्धेनेति रुक्मवर्णविग्रहविशिष्टस्य शुद्ध-
मनोग्राह्यत्वात्तेरारोपिताकारस्य विशुद्धमनोग्राह्यत्वाभावादनारोपितत्वं
सिद्धम् । ' ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ' [ब० सू० १ । ३ । ३] इत्यत्रेक्षणस्य पर-
मात्मविषयत्वं वक्तव्यमिति परैरप्यङ्गीकृतत्वात् । ' आदित्यवर्णं तमसः
परस्तात् ' [श्वे० ३ । ८] इति तमःपारवर्तिन आदित्यवर्णविग्रहविशि-
ष्टत्वाभिधानेन कल्पितत्वाप्रसक्तेः । न हि कल्पितस्य तमःपारवर्तित्वं
संभवति ।

हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आग्रणस्तान्तर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

रमणीयश्मश्रुकेशो रमणीयसर्वायय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ।

कं पिबतीति कपिरादित्यस्तेनाभ्यते क्षिप्यते विकास्यत इति कप्या-
गम । तथाऽऽह वाक्यकारः—आदित्यक्षिप्तं या श्रीमत्त्वादिति । यद्वा

कं पिबतीति कपिर्मांलं तस्मिन्नास्त इति कप्यासम् । अपचितावपि पङ्कजाक्षालस्थस्य पुण्डरीकस्य शोभातिशयशालित्वात्तादृशमिह विवक्षितम् । यद्वा कं जलम् । आस उपवेशन इति धातुरपिपूर्वकः । वष्टि भागुरिरहोपगधाप्योरुपसर्गयोरिति वचनाव्कारलोपः । के जलेऽप्यास्त इति कप्यासं सलिलस्थमित्यर्थः । एवमस्यार्थत्रयस्योपपन्नतया वाक्यकारेण सिद्ध्यन्तितत्त्वमभिप्रेत्य भगवता माप्यकारेण वेदार्थसंग्रहे—‘गम्भीराम्भःसमुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलापतेक्षण’ इत्यभिहितम् । मर्कटजघनसदृशपुण्डरीकसावृण्याद्यर्थान्तरं तदश्लीलत्वाद्विषोपद्रुततया वाक्यकृदभाद्रतयाञ्जाध्यकारेणाप्यनावृतम् । पद्यप्यभरकोशे पुण्डरीकं सिताम्भोजमित्यनुशिष्टं तथाऽपि शयरस्वामिना जवमाभ्याये मौढ्यं चरुं निर्वपेच्छ्रिये भीकाम इति विहितायामिष्टौ पौण्डरीकाणि बर्हीषि भवन्तीति स्तरणार्थत्वेन विहितेषु पुण्डरीकेष्वतिदेशप्राप्तस्य धर्मैः स्तृणीत हरितैरिति मन्त्रस्य दर्मण्यस्थाने पुण्डरीकपदं हरितपदस्थाने रक्तपदमूहित्यमित्युक्तत्वाद्भक्त्याम्भोजमेव पुण्डरीकमिति द्रष्टव्यम् ।

तस्योदिति नाम ।

स्पष्टोऽर्थः । तस्योन्नामकत्वे हेतुमाह—

स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः ।

सर्वपापोद्भूतत्वादुन्नामकत्वमित्यर्थः । नीडाच्छकुन्तस्योद्भूतमनवत्पापपञ्जरादुद्भूतमनरूपमुख्यार्थस्य कुञ्जाप्यभावादुद्भूतमेव तत्संबन्धराहित्यं लक्ष्यते । ‘नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्’ [छा० ८ । ४ । १] इति परमात्मनः सुकृतदुष्कृतसंबन्धभावो हि प्रतिपाद्यते तरतेः प्राप्तिवाचित्वात् । पापशब्दश्च पुण्यपापरूपोभयविधकर्मपरः । परमात्मप्रकरणेषु ‘नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते’ [छा० ८ । ४ । १] इति सुकृतेऽपि पापशब्दप्रयोगात् । पाप्मनः कालजरा-मृत्युशोकादयः संख्यातत्वादिति वाक्यकारवचनादलौकिकत्वे सत्यनिष्टफलसाधनत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तयोगात्पुण्यस्यापि पापशब्दामिधेयत्वोपपत्तेः । मुमुक्षुपेक्षया स्वर्गादीनामप्यनिष्टत्वात् ।

दिरूपमुदिति नाम ऋक्सामरूपगेष्वौ च तानि सर्वाणि भवन्ती-
त्यर्थः ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोका-
स्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति ।

एतस्मादक्षिस्थानादधोवर्तिनां लोकानां मनुष्यमोग्यादीनां च निय-
न्तेत्यर्थः ।

तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति ।

यस्मादपमीश्वरस्तस्मान्नेतोर्वीणागायकाः सर्वेऽपीममेव गायन्ती-
त्यर्थः । तस्य सर्वात्मकत्वेन देवमनुष्यादिकर्मकगानस्यापि परमात्म-
विषयायादिति भावः ।

तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

सन्निर्लभः । धनानां सन्निर्वेषां ते धनसनयः । ईश्वरगायकत्वादेव
वीणागायकानां धनलाभयत्वं न ह्यनीश्वरगातृत्वे धनप्रसक्तिरस्तीति
भावः ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति ।

अध्यात्माधिदैवतभिल्लाविद्यायुक्तः सप्सुद्वीथं यो गायति स चाक्षुषमा-
दित्यर्थं च गायतीत्यर्थः । उद्वीथस्य चाक्षुषेण परमात्मनाऽऽदित्यान्तर्ब-
र्तिना च परमात्मनैकपाध्यासविशिष्टतया तादृशोद्वीथगायकस्यैव परमा-
त्मगायकत्वादिति भावः । तस्यैवंविदः फलमुरूपते—

सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोका-
स्ताश्चाऽऽप्नोति देवकामाश्च ॥ ७ ॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोका-
स्ताश्चाऽऽप्नोति मनुष्यकामाश्च ।

स विद्वानमुनेवाऽऽदित्यान्तर्बर्तिनोपासितेन स एष तदुपासनाविशिष्ट
एतस्मादूर्ध्वलोकान्देवकामांश्चाऽऽप्नोति । अनेनाक्षयन्तर्बर्तिनोपासितेन
। मनुष्यलोकादधस्तनलोकान्मनुष्यकामांश्चाऽऽप्नोति । चक्षुरादित्यस्थानव-
र्तिपरमात्मोपासनया सर्वलोकानिर्भवतीत्यर्थः ।

तस्मादु हैवं विदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीति ।

एतादृशविधायुक्त उद्गाता यजमानं प्रति हे यजमान ते कं देवकामं मनुष्यकामं वा गानेन संपादयानीति ब्रूयादित्यर्थः । नन्वेतादृशोक्तादुद्गातुः कथं सामर्थ्यमित्यत्राऽऽह—

एष ह्येष कामगानस्येष्टे य एवं विद्वा-

न्साम गायति साम गायति ॥ ९ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

एवं विदुदः सामगस्य कामसंपादकगानसामर्थ्यमस्तीत्यर्थः । द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमाधिकरणं लिख्यते समन्वयाध्याये प्रथमपादे—अन्तरादित्येऽन्तरक्षिणि च वर्तमानत्वेन श्रुतः पुरुषो जीव एव । ‘हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः’ [छा० १।६।६] इति शरीरसंबन्धभ्रवणाच्छरीरत्वस्यैव कर्मजन्य-तायच्छेदकत्वेन कर्मजन्यशरीरासंभवात्मकमश्रुतेन शरीरित्वाल्लिङ्गेन जीवत्वे निश्चित औपसंहारिकं सर्वपापोदितत्वमापेक्षिकं नेतव्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्’ [ब० सू० १।१।२०] आदि-त्पाक्ष्यन्तर्धर्ती पुरुषः परमात्मैव परमात्मधर्मोपदेशात् । कर्मवक्ष्यतागन्ध-राहित्यलक्षणं नित्याविर्भूतं सर्वपापोदितत्वं न परमात्मनोऽन्यत्र संम-यति ततश्च चरमश्रुतमपि ‘उदेति ह वै सर्वंभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद’ [छा० १।६।७] इति फलरूपतात्यर्थलिङ्गात्प्रबलम् । तथार्जुसामगेयत्वा-क्षितं सैयर्कृतत्सामेति वाक्यश्रुतं च सार्वार्थ्यं परमात्मधर्मः । तथाऽक्षया-दित्यवर्त्येकपुरुषगतोर्ध्वाधोवर्तिलोककामेश्वरत्वरूपं निरङ्कुशं सर्वकामेश्व-रत्वमपि ‘सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराश्चो लोकास्ताऽश्वाऽऽप्नोति देवकामाश्च । अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाश्चो लोकास्ताऽश्वाऽऽप्नोति मनुष्यकामाश्च’ [छा० १।७।७।८] इति वाक्यशेषप्रतिपन्नफलरूपतात्यर्थ-लिङ्गानुगृहीतत्वात्प्रबलम् । अतः प्रबलैः परमात्मलिङ्गैः परमात्मत्वे निर्णाति—अजायमानो बहुधा विजायते ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्यामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ [गी० ४।६]

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ [गी० ४।८]

इच्छागृहीतामिमतीरुदेह इति श्रुतिस्मृत्यनुसारेणाजहस्वमायस्यैव परमात्मनो मायाशब्दितसंकल्पमात्रेणोपासकपरित्राणायप्राकृतदिव्यविग्रहपरिग्रहोपपत्तेः । एतेन नित्यस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ज्ञानार्थं प्रवृत्त्यर्थं वा करणानपेक्षणादात्मानन्दतुल्यस्य विग्रहे स्पृहासंभवाच्च विग्रहो न संभवतीति शङ्का प्रत्युक्ता । करणानपेक्षज्ञानक्रियस्यापि परमात्मन उपासकानुग्रहार्थं भोगार्थं च विग्रहस्वीकारोपपत्तेः । प्रभूतानन्दानामप्यानन्दान्तरापेक्षादर्शनेन निरतिशयानन्दस्वरूपस्यापि ब्रह्मणः प्रीतिविशेषापेक्षायाः संभवात् । न च विग्रहस्य भोग्यत्वे स्वरूपभोग्यत्ववैकल्यं शङ्क्यम् । स्वसंचन्धिभोग्यत्वस्य स्वभोग्यत्वातिशयावहत्वेन तद्वैकल्यावहत्वाभावात् । तत्र च

समस्ताः शक्तयश्चेता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः ।

तद्विश्वरूपवैकल्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥

समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर ।

देवतिर्यङ्मनुष्याख्याचेष्टावन्ति स्थलीलया ॥

‘नित्यालिङ्गस्वभावसिद्धिरिन्द्रायाकाराङ्गप्रत्यङ्गव्यञ्जनवती’ ‘उज्ज्वलाराऽऽत्मनः केशी सितकृष्णौ’ अंशंशेनावतीर्योर्व्यामित्यादिप्रमाणान्तरस्य विग्रहस्याशिथिलसंस्थानस्यैवाप्राकृतानन्तावतारहेतुत्वमुपपद्यते चतुर्मुखदेहस्य संस्थानाशिथिल्येऽप्यनेकदेहोत्पादकत्वदर्शनात् । ततश्चोपासकानुग्रहार्थं स्वेच्छासृष्टाप्राकृतशरीरसंबन्धस्य प्रमाणसिद्धस्य परमात्मनि सन्वाप्त हिरण्यविग्रहसंबन्धानुपपत्तिः परमात्मनः । अतोऽक्ष्यादित्यान्तर्यतीं परमात्मा । नन्वाऽऽदित्यपुरुषादन्यः परमात्मैव नास्तीत्यग्राऽऽह—‘भेदव्यपदेशाच्चान्यः’ [ब० सू० १।१।२१] । ‘य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद’ [बृ० ३।७।९] इत्यादिनाऽऽदित्यादिपुरुषावेद्यस्य तन्नियन्तुः परमात्मनोऽन्यस्य प्रमाणसिद्धत्वाच्चद्यतिरिक्तो नास्तीति न शङ्क्यम् । न च नित्यमुक्तव्यतिरिक्तः परमात्मा नास्तीत्यपि शक्यं वक्तुम् । आत्मनि तिष्ठन्निति

पर्याये परिशुद्धमुक्तात्मन्योऽपि भेदप्रतिपादनादतोऽन्तरादित्येऽन्तरक्षिणि
च विद्यमानः परमात्मेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥७॥८॥९॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य
सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

प्रकारान्तरेणोपासनं विधातुमास्यायिकामाह—

त्रयो होद्नीथे कुशला बभूव शिलकः शालावत्यश्वै-
कितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ।

शालावत्सुतः शिलकनामा, दल्लमगोत्रश्चिकितायनसुतः, जीवलसुतः
प्रवाहणनामा । त्रय एव उद्नीथविज्ञाने निपुणा बभूवुरित्यर्थः । शाला-
वत्यः । शालावच्छब्दादपत्यार्थेऽणि तदन्तात्स्वार्थेऽभिजिह्विद्वभृच्छाला-
वदित्पादिना यऊप्रत्ययः । दाल्भ्यः, दल्लमशब्दाद्गोत्रापत्ये गगांदिस्वा-
द्यञ् । चिकितायनशब्दादपत्येऽर्थ्य ऋषित्वाद्णि चैकितायनः । जीवल-
शब्दादत इञि जैवलिः ।

ते होचुरुद्नीथे वै कुशलाः स्मो हन्तो-
द्नीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

ययमुद्नीथविधाने कुशला मघामः । अतो विद्यादेशं वाच्यं वादकथां
परस्परं प्रवर्तयाम इत्युचुरित्यर्थः ॥ १ ॥

तथेति ह समुपविविशुः ।

तथा कुर्म इत्यन्योन्यमुक्तैकत्रोपविष्टवन्त इत्यर्थः ।

स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ।

प्रवाहणः क्षत्रियस्तौ ब्राह्मणौ प्रागल्भ्यादुवाचेत्यर्थः ।

भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मण-
योर्वदतोर्वाचः श्रोष्यामीति ॥ २ ॥

भगवन्तौ पूजावन्तौ ब्राह्मणावग्रे वादकथां कुरुतां तत्प्रकारं
श्रोष्यामीति ॥ २ ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच
हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

का साम्नो गतिरिति ।

गतिरयनं प्राप्यमित्यर्थः ।

स्वर इति होवाच ।

स्वरात्मकत्वात्साम्न इति भावः ।

स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच ।

प्राणनिर्धर्तृत्वात्स्वरस्येति भावः । एवमुत्तरत्राप्यौचित्यमनुसंधेयम् ।

प्राणस्य का गतिरित्यज्ञमिति होवाचा-

ग्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाच ।

ध्रुलोकादेव घृष्टिमभवादिति भावः ।

अमुष्य लोकस्य का गतिरिति न

स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच ।

स्वर्गं लोकमतीत्य परमाश्रयान्तरं साम न नयेत् । स्वर्गलोकव्यतिरिक्तमाश्रयान्तरं साम न प्रापयेदित्यर्थः । न वदेदिति यावत् ।

स्वर्गं वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः

स्वर्गसंस्ताव हि सामेति ॥ ५ ॥

अतो वयमपि सामाभि साम प्रत्याश्रयत्वेन स्वर्गं लोकं सम्यक्स्थापयामः । 'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः' इति श्रुत्या स्वर्गत्वेन साम्नः स्तूयमानत्वादित्यर्थः ॥ ५ ॥

त ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं

दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते ।

दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते
विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

हे दाल्भ्याप्रतिष्ठितं स्वर्गलोकं सामगतिपरम्पराविश्रान्तिभूमिं वदत-
स्तव मते सामाप्रतिष्ठितमेव स्यात् । एतस्मिन्समये यः कश्चिदागत्य
द्यादकथायामपुक्तमर्थं प्रतिजानानस्य ते मूर्धा विपतिष्यतीति पवि ब्रूया-
न्मूर्धा विपतेदेव न संशयः । मया तु सौहार्दाद्यथा नोक्तमतो जीवसीति
शिलक उक्तवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ।

तर्ह्यहं सामगतिपरम्पराविश्रान्तिभूमिं त्वतो जानीषामिति प्रार्थि-
तस्तथेत्युक्तवानित्यर्थः ।

अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाच ।

पागवानहोमादिभिर्मूलोक्तस्य स्वर्गोपजीव्यत्वादिति भावः ।

अस्यलोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमति

नयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकः सामभिः

संस्थापयामः प्रतिष्ठासंस्थाव हि सामेति ॥ ७ ॥

पृथिवीलोकस्य का गतिरिति दाल्भ्येन पृष्ठः शिलकः प्रतिष्ठां पृथि-
वीलोकमतिक्रम्य सामगतिपरम्पराविश्रान्तिभूमिमन्थं न कश्चिदपि वदेत् ।
अतो वयमपि तथैव वदामः । 'इयं वै रथंतरम्' इति श्रुत्या साक्तः
प्रतिष्ठालोकत्वेन स्तूयमानत्वात्स्वर्गस्य ज्योतिश्चकलयतया धम्भम्यमा-
णत्वेन प्रतिष्ठात्वाभावोऽपि पृथिव्यास्तु स्थिरत्वात्प्रतिष्ठात्वमित्युक्त-
वानित्यर्थः ॥ ७ ॥

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्त-

वद्वै किल ते शालावत्य साम ।

अन्तवर्ती पृथिवीं सामगतिपरम्पराविश्रान्तिभूमितया प्रतिजानानस्य
ते मते सामान्तवदेव स्यादित्यर्थः ।

यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति

मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो
वेदानीति विद्मीति होवाच ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्याष्टमः

खण्डः ॥ ८ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपा-
ठकस्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

पथमनुमतः शिलको राजानं पृच्छति—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच ।

अस्य पृथिवीलोकस्य का गतिरिति शालावत्येन पृष्टः प्रयाहण
आकाश इत्युक्तवानित्यर्थः । नित्यमत्राऽऽकाशत आकाशयतीति वा
प्युत्पत्त्याऽऽकाशशब्दो ब्रह्मपरः । 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्मिदं हि-
ता' [छा० ८ । १४ । १] इत्यादावाकाशशब्दस्य ब्रह्मण्यपि प्रसिद्ध-
त्वात् न तु भूताकाशपर इति द्रष्टव्यम् । तदेव गतित्वं प्रपञ्चयति—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याका-

शादेव समुत्पस्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति ।

विद्विदात्मकप्रपञ्च आकाशादेवोत्पद्यते तत्रैव लीयते इत्यर्थः ।

आकाशो होवैत्यो ज्यायान् ।

ज्यायस्त्वं नाम सर्वः कल्याणगुणैः सर्वेभ्यो निरतिशयनिरुपाधिको-
त्कर्षः ।

आकाशः परायणम् ॥ ३ ॥

परायणत्वं परमगतित्वं परमाप्पत्यमिति यावत् ॥ १ ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः ।

एष उक्तृष्टो वरीयान्वरीयसामपि वर इत्यर्थः । अत्र परःशब्दः
सकारान्तो द्रष्टव्यः । एवंरूप आकाश उद्गीथः परमात्मदृष्टिविशिष्ट
उद्गीथ इत्यर्थः । उद्गीथ एतादृशाकाशदृष्टिः कर्तव्येति यावत् ।

स एषोऽनन्तः ।

उद्गीथेऽध्यस्यमानोऽयमाकाशोऽनन्तोऽपरिच्छिन्न इत्यर्थः । ततश्चा-
नन्तस्याऽऽकाशशब्दितस्य परमात्मन एव सामगतिपरम्पराविभ्रान्ति-
भूमित्वान्मत्पक्षेऽन्तवद्द्वै किल ते सामेत्युक्तोऽन्तपक्षदोषो न प्रसर-
तीति भावः ।

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो
ह लोकाजयति य एतमेवं विद्वान्परो-
वरीयाऽसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

यः परोवरीयासमेतमाकाशशब्दितं परमात्मानं विद्वानाकाशत्वेनोद्गीथ-
मुपास्ते तस्य परोवरीयस्त्वगुणकं जीवनं भवति परोवरीयस्त्वगुणकस-
कललोकावाप्तिश्च भवति ॥ २ ॥

प्रयाहणः स्वोक्तार्थं संवादयति—

त* हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्तवोवाच ।

अतिधन्यनामा शूनकमुत उदरशाण्डिल्यापर्यये । उदरशब्देन संत-
तिर्लक्ष्यते संततिशाली शाण्डिल्य इत्यर्थः । तस्मा एनमुद्गीथमुक्त्वाऽ-
न्यदप्युवाचेत्यर्थः । किं तदित्यत्राऽऽह—

यावन्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदि-
प्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मि-
ल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

वेदिप्यन्त इत्येतद्यत्ययेनाऽऽत्ममेपदम् । प्रजायां त्वत्संततौ यावन्तः
पुरुषा एनमुद्गीथमुपातिप्यन्ते तेषामुत्कृष्टमिह लोके जीवनं भविष्य-
तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

तथाऽस्मिँल्लोके लोक इति ।

तथाऽमुष्मिन्नपि परलोके भविष्यतीत्यर्थः । परोवरीयो जीवनमित्य-
नुपहृङ् । लोके लोक इति वीप्सायां द्विवचनम् । इत्यतिधन्योवाचेति
पूर्वणान्वयः । अत इदानीं तिनानामपि तद्विदां तत्फलमस्तौत्याह—

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्या-

स्मिँल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिँल्लोके
लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य नवमः

खण्डः ॥ ९ ॥

द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमाधिकरण-
मुपन्यस्यते समन्वयाध्याये प्रथमपादे—उद्गीचेऽव्यस्योपास्यमानाकाशो
भूताकाश एव । आकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वेन रूढाकाशशब्दा-
भ्यासाविति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘आकाशस्तल्लिङ्गात्’ [ब० सू० १।
१।२२] आकाशशब्दाभिधेयः परमात्मा निश्चिजगदेकारणत्वसर्व-
ज्यायस्त्वपरायणत्वादीनां परमात्मलिङ्गानां भूताकाशेऽसंभयान्द्रुताका-
शस्याचेतनवर्गं प्रति कारणत्वसंभवेऽपि चिदचिद्वर्गकारणत्वासंभवात्सर्वैः
कङ्क्षयाणगुणैः सर्वोत्कृष्टत्यलक्षणज्यायस्त्वस्याप्यसंभवाच्चेतनस्य स्वरू-
पमिन्नत्वेन मोक्षविरोधितया च हेयशब्दादिनिषिद्धविषयप्राप्यजन-
कतया सकलपुरुषार्थविरोधिनोऽचेतनस्य परायणत्यलक्षणप्राप्यत्वस्य
याऽसंभवात् । तस्य च का साम्रो गतिरस्य लोकस्य का गतिरित्युपपन्न-
मलक्षणतात्पर्यलिङ्गेन प्रतिपिपादयिषितत्वावगमात्प्रतिपिपादयिषितप-
रायणत्वानन्तत्परोक्षरीयस्त्वादिलिङ्गविरोधेऽभ्यस्ताया अपि श्रुतेर्दुर्व-
लत्वात् । आकाशशब्द आकाशत आकाशयतीति योगवशेन परमा-
त्मपर एव । ननु ‘सर्वाणि ह या इमानि भूतानि’ [छा० १।१।१] इति
श्रुत्येवाऽऽकाशस्य अगत्कारणत्वावेदनाद्यथाश्रुताकाशस्यैव जगत्कारण-
त्वमभ्युपेतव्यमिति चेन्न । ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ।’ [छा० ६।
२।१।] ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।’ [ऐ० १। १।] एको ह वै नारायण आसीदित्यादियोग्यार्थाननुवादरूपबहुवाक्यविरोध-
नसामर्थ्याभावात् । अत आकाशशब्दो यौगिक्या वृत्त्या ब्रह्मपर एव ।
यत्त्वत्र व्यासार्थैरर्थाविरोध एव रूढिप्राचल्यमित्यपशूद्राधिकरणनयोप-
जीवनेनावयवशक्त्या निर्वाहो भाष्य उक्तः । रूढ्यपरित्यागेनावयवसा-
नवृत्त्याऽऽकाशशब्दस्याऽऽकाशशरीरकपरमात्मपरतया निर्वाहोऽप्यभि-
मत इत्युक्तम् । तदुपायान्तरसंभवप्रदर्शनमात्रपरं न तु प्रकृताभिप्रायम् ।

अनन्यथासिद्धमूताकाशशरीरकाशसत्त्वं एव 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् ।'
[अ० सू० १।४।१७।] इति सूत्रोक्तन्यायावतारात् ।

परविद्यासु जीवोक्तिर्निरुक्त्यादेः पराश्रया ।

तल्लिङ्गानन्यथासिद्धौ तद्विशिष्टावलम्बिनी ॥

इत्याचार्योक्तेर्मूताकाशशरीरकाशब्रह्मणः सकलचेतनाचेतनवर्गोत्पत्त्य-
मावेन 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' [छा०
१।९।१।] इत्यत्राऽऽकाशशब्दस्य भूताकाशशरीरकब्रह्मप्रतिपाद-
कत्वासंभवाच्चेति द्रष्टव्यमिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपा

ठकस्य नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

प्रस्तावोद्धीथप्रतिहारमक्तिन्नयविषयकोपासनानि विधातुमाण्यापि-
कामाह—

मदचीदृतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोपस्तिर्ह

चाक्रायण इत्यग्रामे प्रदाणक उवाच ॥ १ ॥

चक्रस्य सुत उपस्तिनामा कश्चनधिरश्मशृष्टिकृतदुर्मिश्रदूषितेषु कुरुषु
देवोष्वाटिक्याऽनुपजातपयोधरादिश्वश्रनया भार्यया सहोभ्यानां गजारो-
हाणां ग्रामे प्रदाणकोऽनशनेन कुत्सितां गतिमापन्नो ब्रह्मविद्याया
निष्पत्तये प्राणानामनवसादं काङ्क्षन्नुवाच । द्वा कुत्सार्पां गतादिति
हि धातुः । चक्रस्य गोत्रापत्यमित्यर्थेऽश्वादित्वात्फाञि चाक्रायण इति
रूपम् ॥ १ ॥

स हेभ्यं कुल्मार्पान्त्वादन्तं विभिक्षे ।

सोऽज्ञार्थ्यठन्कुत्सितान्मापान्त्वादन्तमिभ्यं याचितवान् । कुल्मार्पा-
दञीति निर्देशात्कुत्सितमापार्थं कुल्मापशब्दस्य साधुत्वम् ।

त२ होवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च

ये न इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

इतो मया मक्ष्यमाणादुच्छिष्टराशेः कुल्मापा अन्ये न विद्यन्ते ।
यद्यस्मान्नेतोरिमे कुल्मापा मे चये मदीये मक्ष्यचय उच्छिष्टराशावुप-
निहिताः प्रक्षिप्ता अतः किं करोमीत्युपस्तिमिभ्य उवाचेत्यर्थः ॥ २ ॥

एतेषां मे देहीति होवाच ।

उच्छिष्टानामपि भध्ये मह्यमपि किञ्चिद्देहीति प्रार्थितवानित्यर्थः ।

तानस्मै प्रददौ ।

तान्कुल्माषानुपस्तपे वृत्तवानित्यर्थः ।

हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मेपीतं स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

समीपस्थमुदकं गृहीत्वा गृहाणानुपानमितीभ्येनोक्तस्तदुदकपानेनो-
च्छिष्टोदकपानं मे स्यादिति प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा

अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच

कामो म उदकपानमिति ॥ ४ ॥

किमेत इदानीं त्वया मत्तो गृहीताः कुल्माषा अनुच्छिष्टा इतीभ्येन
पर्यनुक्तः कुल्माषाखादने स्वस्य जीयनहानिर्भयति । तावन्मात्रखादनेन
धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामकारितं निपिञ्चं स्यादित्युवा-
चेत्यर्थः ॥ ४ ॥

स हत्वादित्वाऽतिशेषाञ्जायाया आजहार ।

स होपस्तिस्तान्मक्षयित्वाऽतिशिष्टाञ्जायायै वृत्तवानित्यर्थः ।

साऽथ एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

सा जाया प्रागेव लब्धाज्ञा बभूव तथाऽपि स्त्रीस्वभावादनवज्ञाय
तान्कुल्माषान्पुर्हस्तात्प्रतिगृह्य निक्षिप्तवती ॥ ५ ॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्वत्ता-

न्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राम् ।

स होपस्तिः शयनं परित्यजन्नेव पत्न्यां शृण्वत्यामिदमुवाच । किं
तव । यद्यन्नस्य स्तोक्रमपि लभेमहि तेन प्राणान्धृत्वाऽल्पधनं लभे-
महीत्यर्थः ।

कथं धनमात्रा लभ्यत इत्यत्राऽऽह—

राजाऽसौ यक्षते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥ ६ ॥

राजाऽसौ नातिदूरे यजते स मां दृष्ट्वा सर्वाण्यार्त्विज्यानि त्वया क-
थितव्यानीति प्रार्थयतेत्युवाचेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति ।

हे पते ये मद्धस्तनिक्षिप्तास्त्वया कुल्माषास्त इम एव । एतान्गृहा-
पोर्युक्तवतीत्यर्थः ।

तान्वादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

तानेव पशुपितोच्छिष्टान्कुल्माषान्मक्षयित्वा विस्तीर्णं यज्ञं गतवा-
नित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश ।

आस्तुवस्वस्मिन्नित्यास्तावः स्तोत्रस्थानम् । सवसि स्तोत्रं प्रवृत्ताना-
मुद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तृणां समीप उपविष्टवानित्यर्थः ।

स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्

प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

हे प्रस्तोतः प्रस्तावमक्तावध्यस्य या देवतोपास्या तामविवित्वा यदि
विद्वपो मम समीपे प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीत्यर्थः । यद्यपि
'तेनोमौ कुरुतो यश्चेतदेवं वेद यश्च न वेद' [छा० १।१।१०] इत्यविद्वपोऽ-
प्यास्त्यज्याधिकारोऽस्ति तथाऽपि विद्वत्संनिधावविद्वपः कर्माधिकारो
नास्तीति मायः ॥ ९ ॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां

चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देव-

ता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्र-

तिहारिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

ते ह समारत्नास्तूष्णीमासांचकिरे ॥ ११ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

ते ह प्रस्तोत्रादय उपरताः सन्तो मूर्धपातमयाचूष्णीमेव स्थिता
इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य
दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथ हैनं यजमान उवाच भग-
वन्तं वा अहं विविदिपाणीति ।

को भवानिति भवन्तं ज्ञातुमिच्छामीत्युपस्तिं यजमान उक्तवा-
नित्यर्थः ।

उपस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरात्विज्यैः पर्यै-
पिपं भगवतो वा अहमविद्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥
भगवाःस्त्वेव मे सर्वैरात्विज्यैरिति ।

भगवन्तं सर्वगुणोपेतं श्रुत्वा सर्वाण्यात्स्विज्यानि भगवद्बन्धनानि कर्तुं
भगवतोऽन्वेष्टव्यं कृतवानस्मि । भगवत अविद्या विविर्लामो न विदि-
रविदिः । इदृष्यादिभ्य इतीक् । अविद्याऽलाभेनेमानृत्विजो ब्रूतवा-
नस्मि । इतः परमपि भगवानेव सर्वैर्ऋत्विक्कर्ममिधृत इत्युवाचेत्यर्थः ।
सर्वात्विज्यार्थं ब्रूत इति यावत् ।

तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां

यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति ।

तथेत्यमुपगम्यानन्तरं त्वया पूर्वं ब्रूता एत एव मया सम्प्रकप्रसन्ने
नानुज्ञाता उपदिष्टदेवताः सन्तः स्तुवतां स्तुवन्तु । एभ्यो यावद्भ-
प्रपञ्चासि तावन्मम दद्या इत्युक्तवान् ।

तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद ।

उपस्तिवचनं श्रुत्वा प्रस्तोता विनयेन तत्समीपमागतवानित्यर्थः

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायचा तां चेद-
विद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति
मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

भगवान्मां प्रति प्रस्तोतर्या देवतेत्यादिना यां देवतामुक्तवान्सा देवता
केति पप्रच्छेत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्राण इति होवाच ।

प्राण एव प्रस्तावमन्वायचा देवतेत्युपास्तिरुवाचेत्यर्थः । अत्र प्राण-
पितृत्त्वगुणयोगात्प्राणशब्देन परमात्मोच्यते । प्राणशब्दस्य मुख्यप्रा-
णपरत्वं व्यावर्तयति—

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाग्निसंविशन्ति
प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायचा ।

प्राणमभिलक्ष्य संविशन्ति समित्येकीकार ऐक्येन विशन्ति लीयन्त
इत्यर्थः । प्राणमभ्युज्जिहते प्राणादेवोद्गच्छन्तीत्यर्थः । सर्वभूतलो-
त्पत्तिस्थानत्वेन वेदान्तेषु प्रसिद्धा प्राणरूपा देवता प्रस्तावमन्वायनु-
गता प्रस्तावमन्वायस्योपास्येत्यर्थः ।

तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यो मूर्धा ते व्यप-
तिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मनुक्तमनन्तरमपि
मनुक्तिमनाहत्य तद्देवतामनमिज्ञाय यदि प्रास्तोष्यस्तदा मूर्धा ते
व्यपतिष्यदेव । अतः साधुकृतं त्वया मत्समीपमागत्य विनयेन पृच्छ-
तेति भावः । अत्र मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मथेत्युक्त्या विदुषैवमु-
क्तस्याविदुषस्तदनादरेण कर्मकरणे प्रत्यवायो न तु विदुषाऽनुमतस्या-
प्यविदुष इति भावः । व्यासार्थस्तु मूर्धा ते व्यपतिष्यादित्यस्याऽऽत्म-
सत्ता न लभ्येत्यर्थ इत्यात्मसत्ताहानिपर्यन्तः प्रत्यवायो यणितः ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वा-
यचा तां चेदविद्वानुद्गात्यसि मूर्धा ते विपतिष्य-

तीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच ।

उद्गीथेऽध्वस्योपास्य आदित्य इत्यर्थः ।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं
गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वा-
नुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

उच्चैः सन्तमुच्चैः स्थितमधःस्थितानि भूतानि गायन्तीत्यर्थः । प्रस्ता-
यमाणयोः प्रशब्दवश्वेन साम्यवदुद्गीथोच्चैःस्थितावित्ययोरुक्तवद्वश्वेन
साम्यमिति भावः । शिष्टं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्वर्या देवता
प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरि-
ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भग-
वानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥ अन्न-
मिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूता-
न्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा
देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्र-
त्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य
मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्यैकादशः

खण्डः ॥ ११ ॥

प्रतिहरमाणानि मक्षयन्तीत्यर्थः । सन्तीति शेषः । अत्र प्रतिशब्दवश्वेना-
न्नप्रतिहारयोः साम्यात्प्रतिहारेऽग्न्यामिमानिदेवताध्यासः । ततश्च प्रस्तायो-
द्गीथप्रतिहारभक्तिपु क्रमेण प्राणादित्यान्नदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः । द्विरुक्तिर्वि-

द्यासमाप्स्यर्था । एतत्क्षणहान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते सम-
न्वपाध्याये प्रथमे पादे प्राणस्य भूतजातिस्थितिप्रवृत्तिहेतुत्वसंभवात्प्राण-
शब्देन मुख्यप्राण एवामिधीयतामिति पूर्वपक्षे प्राप्ते शिलाकाष्ठाद्यचेतनस्व-
रूपस्य शुद्धरूप जीवस्वरूपस्य च मुख्यप्राणाधीनस्थितित्वासंभवा-
त्प्रसिद्धवन्निर्विष्टसकलचेतनोत्पत्तिलयहेतुत्वस्य परमात्मव्यतिरिक्तेऽसंभ-
वाच्चेतनवाचिदेवताशब्दस्याप्यचेतने मुख्यप्राणेऽसंभवाच्च परमात्मैव
प्राणयितृत्वादियोगवशेनाभिधीयत इति 'अत एव प्राणः' [ब्र० सू० १।१।
२६] इति सूत्रेण सिद्धान्तितम् । ननु प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारमक्यनुगत-
त्वेन देवतात्वेन च निर्विष्टेषु प्राणादित्यान्नेषु प्राणस्यैव परमात्मत्वमा-
दित्यान्नयोस्तु न तथात्यमित्यत्र किं विनिगमकम् । चेतनवाचिदेवता-
शब्दश्चिदपि समानः । प्राणवाक्यशेषे प्रसिद्धप्राणासंभावितासंकुचित-
सर्वभूतसंवेशनोद्गमनाधारत्वश्रवणवदादित्यान्नवाक्यशेषयोस्त्यसंकुचित-
सर्वभूतगेयत्वसर्वभूतोपजीव्यत्वयोः प्रसिद्धादित्यान्नासंभावितयोः श्रव-
णाविशेषात् । यदि चाऽऽदित्यवाक्ये सर्वभूतशब्द आदित्यगानयोग्यचेत-
नविशेषपरतयाऽन्नवाक्यशेषेऽन्नोपजीवनयोग्यचेतनविशेषपरतया संको-
च्यते । देवताशब्दश्च 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' [ब्र०
सू० २।१।५] इति सूत्रोक्तन्यायेनाभिमानिवेदतापरतया योज्यते तर्हि
प्राणोऽपि तथाऽस्तु विशेषामावादिति चेदुच्यते—प्राणशब्दस्य 'प्राणस्य
प्राणम्' । [बृ० ४।४।१८] 'यद्विदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्,
[क० ६।२] इत्यादिषु परमात्मन्यपि निरुद्धत्वात् । 'सर्वाणि ह्यजा
इमानि भूतानि' [छा० १।१।१९] इत्यादिवाक्यशेषस्वारस्याच्च पर-
मात्मपरत्वमाश्रितम् । अन्नादित्यशब्दयोरतथात्वाच्चेतनवाचिदेवताशब्दस्य
केयलादित्यमण्डलान्नयोरमावास्तद्भिमानिवेदतापरत्वम् । अन्नाभिमा-
निदेवतायाश्च भूतमक्षयत्वं तदधिष्ठेयान्नामेदारोपेणोपपद्यते । 'सर्वाणि ह
वा इमानि भूतान्यादित्यसूत्रैः सन्तं गायन्ति' [छा० १।१।१७] इति
प्रतिपादितं सर्वभूतगेयत्वं परमात्मनोऽपि न संभवति । भूतशब्दो हि
प्राणिनिकाये महाभूतेषु च रूढः । महाभूतस्य गातृत्वप्रसक्तेरेवामावात्वा-
णिनिकायपरत्वं वक्तव्यं तदपि न संभवति । न हि सर्वे प्राणिनः पर-
मात्मानं गायन्ति स्थावरेषु पञ्चादिषु चामावात् । तस्माद्गानयोग्यप्रा-
णिविशेषपरत्वेन संकोचः परमात्मपरत्वेऽप्यावश्यक इत्यादित्यशब्दस्य
लोकव्युत्पत्तिविरुद्धपरत्वं नाऽऽश्रयणीयम् । एवमन्नवाक्यशेषेऽपि प्रतिहर-

माणानीति मक्ष्यमाणत्वं न परमात्मनि मुख्यम् । अत आदित्यान्नशब्द-
योर्वह्मपरत्वाभावेऽपि प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं सिद्धमिति द्रष्टव्यम् ।
प्रकृतमनुसरामः ॥ ९ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठक-
स्यैकावशः खण्डः ॥ ११ ॥

अतीतखण्डेऽज्ञाप्राप्तिनिमित्तोच्छिष्टपर्युषितमक्षणलक्षणा कदाच-
स्थोक्ता । अनन्तरमक्षलाभाय श्वहृष्ट उद्गीथः प्रस्तूयते—

अथातः शौव उद्गीथः ।

शौवः श्वहृष्ट उद्गीथः प्रस्तूयत इति शेषः । शौव इति द्विलोप-
श्छान्दसः ।

तद्ध वको दालभ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्ब्रज ॥ १ ॥

अत्र वाशब्दश्चार्थः । वकग्लायनामद्वयशुक्तो वल्बसुतो मित्रासुतश्च ।
स्वाध्यायं कर्तुं ग्रामाभिर्गतवानित्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव ।

तस्वाध्यायेन तोषितः कश्चनर्षिः श्वेतशुनकरूपतया प्रादुर्बभूवेत्यर्थः ।

तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुः ।

तं श्वेतं श्वानं क्षुल्लकाः श्वान उपसमेत्योक्तवन्तः ।

अन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

वैश्वद्वोऽवधारणे वयं बुभुक्षिताः स्मः । अस्माकं गानेनान्नं भगवा-
न्संपादयत्स्वित्यूचुरित्यर्थः ॥ २ ॥

तान्होवाचेहेव मा प्रातरुपसमीयातेति ।

श्वः प्रातःकालेऽस्मिन्नेव देशे मामुपमच्छतेति क्षुल्लकाञ्छुनः श्वेतः
श्वोवाचेत्यर्थः ।

तद्ध वको दालभ्यो ग्लावो वा

मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥

वकग्लायनार्थिः श्वेतश्वाद्यागमनं प्रतीक्ष्य स्थितवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्य-
माणाः सश्रब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुः ।

ते श्वेतश्वाद्यस्तत्रैव प्रातरागत्य बहिष्पवमानेन स्तोत्रेण स्तोष्य-
माणा उद्गातृपुरुषा अन्योन्यस्प्रुष्टा गच्छन्तीत्येतद्यथा, एवमन्योन्यस्य
पुच्छं मुखे गृहीत्वोपसर्पणं कृतवन्तः ।

ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥ ४ ॥

हिंचक्रुर्हिकारं कृतवन्तः ॥ ४ ॥

ओ३मदा३मो३ पिवा३म ।

ओमिति गानोपक्रमेऽदाम मक्षयेम ।

ओं३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता२ऽऽन्नमिहा२ऽऽहंरत् ।

द्योतमानत्वाद्देवः, धियमाणत्वाद्वरुणः प्रजानां पालनात्प्रजापतिः ।
एवंभूतः सविताऽन्नमाहरत्यित्यर्थः ।

अन्नपते३ऽऽन्नमिहा२ऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अन्नपत इत्यादिभ्यस्य संबोधनम् । आहराहरेति द्विरुक्तिः प्रार्थ-
नायाम् । इति गीतवन्त इत्यर्थः । अन्नपत इति मन्त्रकरणकादिर्याभ्या-
सविशिष्टोद्गीथोपासनमन्नफलकमिति भावः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

सामाधयवान्तर्गतस्तोमाक्षरविषयाण्युपासनान्तराण्युपदिश्यन्ते—

अयं वाव लोको हाउकारः ।

हाउ इत्येवंलक्षणो यः सामसु स्तोमः सोऽयं लोक एतल्लोकत्वेनोपास्य
इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि स्तोमशब्दोऽध्याहर्तव्यः । अयं स्तोमो रघन्तर-
सान्नि प्रसिद्धः ।



वायुर्हादकारः ।

द्वा इति स्तोमो वामवेद्यसाञ्चि प्रसिद्धः ।

चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरि-
कारः॥१॥ आदित्य उकारो निहव एकारः ।

आह्वानमित्यर्थः । ह्रः संप्रसारणं च न्यम्पुपविष्यति द्वेजोऽप्संप्रसारण-
योर्निहव इति रूपम् ।

विश्वे देया औहोयिकारः प्रजा-
पतिर्हिंकारः प्राणः स्वरः ।

स्वर इति स्तोमः प्राण इत्यर्थः ।

अन्नं या ।

पा इति स्तोमोऽन्नमित्यर्थः ।

वाग्विराट् ॥ २ ॥

वागिति स्तोमो विराट्छमित्यर्थो विराट्पुरुषो या ॥ १ ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्योदशः स्तोमः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

हाउकारादिभ्यो द्वादशभ्यः पूर्वोक्तेभ्योऽधिको हुमिति त्रयोदशो या
स्तोमः स हुमिति निर्वक्तुगशक्यतयाऽनिरुक्तत्वात्संचरो दौलायितः ।
ततश्च तत्र संचरत्यष्टिः कार्येत्यर्थः । ततश्च हाउकारादिषु त्रयोदशसं-
क्तपृथिवीलोकादिहाष्टिः कर्तव्येति स्थितम् ॥ ३ ॥

तस्य फलमाह—

द्वग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानजादो भवति ।

उक्तोऽर्थः ।

य एतामेव५ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि प्रथमप्रपाठकस्य त्रयोदशः

खण्डः ॥ १३ ॥

प्रथमप्रपाठकः समाप्तः ।

सामावयवस्तोमाक्षरोपासनां यो वेदेत्यर्थः । द्विरुक्तिरभ्यासमा-
प्यर्थः ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्य

त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

प्रथमप्रपाठकः समाप्तः ।

सामावयवोपासनं प्राहृनिर्दिश्य समस्तस्य साम्न उपासनं तस्य
प्रसीति—

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु ।

समस्तस्य पाञ्चविध्ययुक्तस्य सातविध्ययुक्तस्य वा समस्तस्य साम्नः
साधुत्वेनोपासनं कार्यमित्यर्थः ।

तत्रोपपत्तिमाह—

यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥ १ ॥

साध्यसाधुकर्मणी सामासामत्वेन व्यवहरन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

तदुताप्याहुः ।

तत्तस्मिन्विषयेऽन्वदप्याहुः । किं तदित्यन्वाऽऽह—

साम्नै नमुपागादिति साधुनै नमुपागादित्येव तदाहुरसा-

न्नै नमुपागादित्यसाधुनै नमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

सामासामोपायाभ्यामागतं प्रत्यर्थिनं साध्यसाधुभ्यामागतं व्यवहर-
न्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति ।

यत्कर्म साधु भवति तन्नोऽस्माकं साम बतेति सानुमोदाः प्रयदन्ति
लोकाः ।

साधु बतेत्येव तदाहुः ।

साम नो बतेत्युक्त एव विषये साधुबतेति लोकाः प्रयदन्ति । ततः
सामसाधुशब्दावेकत्र प्रयुज्यमानौ दृश्येते इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ।

असाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

अतः सामसाधुशब्दयोरेकार्थप्रयोगात्समस्तस्य साम्नः साधुत्वेनो-
पासनं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

तत्फलमाह—

कल्प्यन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चाऽऽवृत्ताश्च य एत-
देवं विद्वांस्र लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अस्य लोकाः कल्पन्त उपासकमोगनिष्पादनसमर्था भवन्ती-
त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत ।

पूर्ववदेवात्र पञ्चविधे सान्नि वृष्टिदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ।

पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्पति
स उर्द्ध्वो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनम् । उद्गृह्णं जलस्योद्गृह्णं वर्षसमाप्तिः ॥ १ ॥
वर्पति हास्मै ।

इच्छत इति शेषः । अस्येच्छायां सत्यां वर्पतीति यावत् ।

वर्पयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

॥ १ ॥ २ ॥

अद्यापि य एवमुपास्ते स इच्छायां सत्यां वर्षं कारयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधः सामोपासीत मेघो
यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्पति स
प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः ।

आप इति शेषः ।

याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

न हाप्सु प्रैति ।

न प्रैति न त्रियत् इत्यर्थः ।

अप्सुमान्नवति ।

प्रभूतोदकसंपन्नो भवति । अपो योनियन्मनुष्वित्यल्लुक् ।

य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

ऋतुषु पञ्चविधः सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः

प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतवः ।

कल्पन्त उपासकस्य भोग्यनिष्पादनसमर्था भवन्तीत्यर्थः ।

ऋतुमान्नवति ।

यस्यन्ताद्यृतुफलभोगशाली भवति ।

य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

पशुषु पञ्चविधः सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः
प्रस्तावो गाय उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम्
॥ १ ॥ भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं
विद्वान्पशुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

प्राणेषु पञ्चविधः परोवरीयः सामोपासीत ।

धरीपस्त्वं ज्येष्ठत्वं परस्त्वं श्रेष्ठत्वं परस्त्वे सति धरीयस्त्वं परोधरीपस्त्वं
परोधरीयस्त्वगुणकप्राणदृष्ट्या पञ्चविधं सामोपासनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रति-
हारो मनो निधनं परोवरीयाःसि वा एतानि ॥ १ ॥

प्राणादीनि परोवरीयांसि ॥ १ ॥

परोवरीयो हास्य भवति ।

उपासकस्य जीधनं श्रेष्ठं भवतीत्यर्थः ।

परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्च-
विधः परोवरीयः सामोपास्ते इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

साम्ना उपासनमुक्तं मयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ सप्तविधस्य ।

साम्ना उपासनं प्रस्तूयत इत्यर्थः ।

वाचि सप्तविधः सामोपासीत ।

हिंकारप्रस्तावोऽङ्कारोऽद्वितीयप्रतिहारोऽपञ्चयानिधनाख्यसप्तविधायुक्ते सामि
यक्ष्यमाणप्रकारेण वाक्छब्दितशब्दबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ।

यत्किञ्च वाचो हिमिति स हिंकारः ।

वाचःशब्दस्यावयवभूतो हिमिति यः शब्दः स हिंकारो हिंकारस्य
हिंशब्दस्यसाहचर्यात् । ततश्च हिंकारे लोके हिंशब्दा यावन्तस्तद्बुद्धिः
कर्तव्येत्यर्थः । एवमुत्तरत्रायामि ।

यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

प्रस्तावे सर्वप्रश्नशब्दबुद्धिः कर्तव्या । उद्गीथेऽप्याद्यावयवभूत ओंकारे
अ इति शब्दबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति

स उपञ्चयो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥ दुग्धेऽस्मै

वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति ।

वाक्संयन्धी यो दोहोऽस्ति वाक्साध्यं यत्फलं ताफलमुपास्यमाना
पागस्मा उपासकाय दुग्धे प्रपच्छति ॥ २ ॥

य एतदेवं विद्वान्वाचिसप्तविधः सामोपास्ते ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठक-

स्याष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां प्रथमप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अथ खल्वमुमादित्यः सप्तविधः सामोपासीत ।

सप्तविधे साम्न्यादित्यबुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ।

सामादित्ययोरैक्याध्यासहेतुमाह—

सर्वदा समस्तेन साम ।

आदित्यस्य सर्वदा समपरिमाणत्वेन समत्वात्सामत्वम् ।

मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

लोके ह्यादित्यो मां प्रति समोऽभिमुखो मां प्रति सम इति प्रतीयते
पुरुषविशेषं प्रत्याभिमुखस्य पुरुषविशेषं प्रत्यनाभिमुखस्य वाऽमावाह ।

अतः सर्वं प्रति समत्वादपि सामत्वम् ॥ १ ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूता-

न्यन्वायत्तानीति विधात् ।

सर्वभूतोपजीव्यतयाऽऽदित्यमुपासीतेत्यर्थः ।

भूतानामुपजीवनप्रकारं कालभेदेन दर्शयति—

तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्यायत्तास्त-

स्मात्ते हि कुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

तस्याऽऽदित्यस्योदयात्पूर्वं घट्टपं स हिंकारः । हिंकारे तद्रूपबुद्धिः
कर्तव्येत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । अस्याऽऽदित्यस्य हिंकारारूपं तद्रूपं पशव
उपजीवन्ति । हि यत् एष त एतस्य साम्नः सामरूपस्याऽऽदित्यस्य
संबन्धिहिंकारलक्षणरूपोपजीविनस्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति अत एव पशवो
हिमिति शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या

अन्यायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशस्त-

कामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

प्रथमोदयकालावच्छिन्न आदित्यः प्रस्तावः । अस्य तथाविधं रूपं
मनुष्या उपजीवन्ति यतस्ते प्रस्तावारूपप्रथमोदितादित्यरूपोपजीवनः ।
अत एव मनुष्याः प्रस्तुतिकामा भवन्ति । प्रस्तुतिकामा इत्यस्य विध-
रणं प्रशंसाकामा इति ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गवेलायाः स आदिस्तदस्य वयाः स्यन्वा-
यत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायाऽऽ-
त्मानं परिपतन्त्यादिभाजिनि होतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

तानि वयांसि पक्षिणोऽनारम्बणान्यालम्बनान्तरशून्यान्येवाऽऽत्मा-
नमेवादलम्बनत्वेनाऽऽदायाऽऽकाशे परिपतन्ति । सङ्गवेकालादित्यसं-
घन्ध्यादिशब्दितोकाररूपोपजीवित्वादेयाऽऽदाय परिपतनं पक्षिणामि-
त्यर्थः । आविशब्दादायशब्दयोराकारद्वयवत्त्वसाम्यमिहामिमेतम् ॥ ४ ॥

अथ यत्संप्रति मध्यंदिने स उद्गीथस्तदस्य
देशा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्या-
नामुद्गीथभाजिनो होतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

संप्रति मध्यंदिन ऋजुमध्यंदिन इत्यर्थः । प्राजापत्यानां मध्ये ते सत्तमा
उत्तमा इत्यर्थः । उद्गीथसत्तमशब्दयोः संपुक्ततकारभ्रुतिमत्यसाम्पादुप-
जीव्योपजीयकभावोक्तिर्द्रष्टव्या ॥ ५ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्वात्स प्रतिहार-
स्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता
नायपयन्ते प्रतिहारभाजिनो होतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

सवितुः प्रतिहारमक्तिरूपोपजीवित्वादेवोर्ध्वं प्रतिहृताः सन्तो गर्मा
नायपयन्ते द्वारे सत्यपि नायपयन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्वात्प्रागस्तमयात्समुपद्रवस्तदस्याऽऽ-
रण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षः श्वन्न-
मित्युपद्रवन्त्युपद्रव भाजिनो होतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

आदित्यसंघन्धुपद्रवमत्त्युपजीवित्वादेव पुरुषदर्शनभीतानामार-
ण्यानां कक्षश्च आदित्युपद्रवणमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य
पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तानिदधति निधन-

भाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्यमुमा-
दित्यः सप्तविधः सामोपास्ते ॥ ८ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

आद्धकर्तारो हि वर्धेषु पितृन्निक्षिपन्ति तदर्थान्पिण्डान्वेत्यर्थः ।
उक्तमुपासनमुपसंहरत्येवं खल्यमुमित्यादिना ॥ ८ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ खल्यात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधः
सामोपासीत हिंकार इति व्यक्षरं
प्रस्ताव इति व्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अथाध्यस्तादित्यभावसप्तविधसामोपासनोपदेशानन्तरमतिक्रान्तादि-
त्पसप्तविधसामोपासनमुपदिश्यत इत्यर्थः । अत्र मृत्युशब्देनाऽऽदित्योऽ-
भिधीयते । आदित्यस्याहोरात्रकालावर्तनेन जगन्नाशहेतुत्वान्मृत्युत्वम् ।
आत्मसंमितमात्मना स्वेपामेपामेव व्यक्षरत्वेन परस्परसंमितत्वकथनादा-
त्मसंमितत्वम् । द्वाविंशत्यक्षरात्मकस्य सप्तविधसाममक्तिविशेषस्यैक-
विंशतिलक्षणादित्यसंख्यातिरेकित्वादतिमृत्युत्वम् । आत्मसंमितत्वाति-
मृत्युत्वप्रकारमेव वर्णयति हिंकार इतीत्यादि । अतश्चेतयोरुभयोः सम-
त्वादेवाऽऽयापोद्गापौ न कर्तव्यावित्यर्थः ॥ १ ॥

आदिरिति व्यक्षरं प्रतिहार इति चतु-
रक्षरं तत इद्वैकं तत्समम् ॥ २ ॥

चतुरक्षरादेकमक्षरं गृहीत्वा द्वाक्षरे निवेशिते समं भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

उद्गीथ इति व्यक्षरमुपद्रव इति चतुर-
क्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरम-

तिशिष्यते व्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

उपद्रव इति चतुरक्षर एकस्मिन्नक्षरे पृथक्कृते सत्पवशिष्टं व्यक्षरं
सममेव भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

निधनमिति व्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि

ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

रूपतोऽर्थः ॥ ४ ॥

एकविंशत्याऽऽदित्यमाप्नोत्येक-

विंशो वा इतोऽसावादित्यः ।

‘द्वावृश मासाः पञ्चतयस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः’
इति श्रुतेः । यत आदित्यस्यैकविंशत्त्वमतः सप्तविधभक्तीनामाक्षरगतैक-
विंशतिसंख्यपैकविंशतिसंख्याकमादित्यं प्राप्नोति । आदित्यसालोक्यं
प्राप्नोतीत्यर्थः ।

द्वाविंशेन परमादित्याजयति

तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

अवशिष्टेन द्वाविंशेनाक्षरेणाऽऽदित्यात्परं दुःखासंभिन्नं लोकं प्राप्नो-
तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अप्नोति हाऽऽदित्यस्य जयम् ।

इह लोक आदित्यजयं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

परो हास्याऽऽदित्यजयाज्यो भवति य

एतदेवं विद्वानात्मसंमितमविमृत्यु सप्त-

विधं सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

य एव मुपास्ते तस्याऽऽदित्यजयात्सर्वोत्कर्षो भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अथ गायत्ररथंतरादिसामोपासनं प्रस्तूयते—

मनो हिकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः

श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनम् ।

गायत्र्याख्यस्य साम्नो हिकारादिष्वविधमक्तिषु मनआदिद्वाष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ।

एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

अनेनाऽऽकारेण गायत्र्याख्यसाम्नो मनआदिप्राणानां चाध्यासाधि-
ष्ठानमावलक्षणसंबन्धेन परस्परसंबन्धमित्यर्थः ॥

स य एयमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी
भवति सर्वमायुरेति ज्योर्जीवति महान्प्रजया पशु-
भिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

महाममस्कत्वं वदान्यमनस्कत्वं ज्योगुज्ज्वलो व्याध्यादिमिरनुपहत
इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठक-
स्यैकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अभिमन्यति स हिकारो धूमो जायते स प्रस्तावो
ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार
उपशाम्यति तन्निधनं सश्शाम्यति तन्निधनम् ।

उपशमः सावशेषः शमो निःशेष उपशमः ।

एतद्रथंतरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद्व्यन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्म-
वर्चस्पन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जी-
वति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या
न प्रत्यङ्मुञ्चन्निमाचाभेन निष्ठीवेत्तद्भवतम् ॥२॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अग्नेरभिमुखो न मक्षयेत्, श्लेष्मादिनिरसनं च न कुर्यादित्यर्थः ॥२॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो जपयते स प्रस्तावः ।

उपमन्त्रणं संकेतकरणं जपनं तोषणं मारणतोषणनिशामनेषु मित्वा-
पज्ञाधातोर्ह्रस्वः ।

स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः ।

एकपर्यङ्कोपवेशनं सह शयनम् ।

प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः ।

स्त्रिया आभिमुख्येन शयनमित्यर्थः ।

कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनम् ।

मैथुननिवृत्तिरित्यर्थः ।

एतद्दामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद्दामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति ।

सर्वदा स्त्रिया अविपुक्तो भवतीत्यर्थः ।

मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते ।

अमोघरेता भवतीत्यर्थः ।

सर्वमायुर्गति ज्योग्नीवति महान्नजया पशुभि-
र्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्वतम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयपत्राठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

प्रार्थयमानाभिति शेषः । प्रार्थयमानमर्थं योऽपि हनन्त्येव यामदेष्टोपा-
सनाद्वारेण धिमानात्पशुद्वारगमनप्रतिषेधयजनानि तद्वति शक्तिविषयानि
ब्रह्मण्यनि ।

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयपत्राठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

उपनिर्हकार उदितः प्रमत्तारो मर्ष्यंश्चि उद्गीथः ।

मर्ष्यंश्चिनाकाशवच्छिन्न आदित्य उद्गीथ इत्यर्थः ।

अपगतः प्रतिशारः ।

अपराहकाशवच्छिन्न आदित्यः प्रतिशारः ।

अस्मिन् यन्निभनम् ।

यन्मच्छित्तिर्यथः ।

एतच्चूददाक्षिणे मोतम् ॥ १ ॥

स य एतमेतच्चूददाक्षिणे मोतं वेद तेनमन्त्रजारी
भवति सर्वमायुर्गति ज्योग्नीवति महान्नजया पशु-
भिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन निन्देत्तद्वतम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयपत्राठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

तपस्तमादित्यं त निन्देदित्यर्थः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयपत्राठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अन्नाणि संप्लवन्ते स हिंकारः ।

संप्लवः संचारः ।

मेधो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो
वियोतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति
तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

वैरूपाक्ष्यं सामेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वै रूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद
विरूपाश्च सुरूपाश्च पशुनवरुन्धे ।

विरूपांश्चिरुद्धनानारूपान्सुरूपाञ्छोमनरूपानवरुन्धे प्राप्नोतीत्यर्थः ।

सर्वमापुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ १२ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा
उद्गीथः शस्त्रप्रतिहारो हेमन्तो निध-
नमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वैराजाख्यं सामेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति
प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमापुरेति
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्यर्तुञ्ज निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो यौरु-
द्वीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधन-
मेताः शक्र्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

शक्र्याख्यं सामेत्यर्थः । शक्र्यं इति नित्यं बहुवचनम् ॥ १ ॥

स य एषमेताः शक्र्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशु-
भिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान् निन्देत्तद्भवतम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्वीथोऽश्वः
प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

रेवत्य इत्यपि शक्र्यं इति वन्नित्यं बहुवचनम् ॥ १ ॥

स य एषमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशु-
मान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून् निन्देत्तद्भवतम् ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्या-
ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्या-
ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मांसमुद्वीथोऽस्थि प्रतिहारो
मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति ।

समग्राङ्गपुक्तो भवतीत्यर्थः ।

नाङ्गेन विहृच्छति ।

अङ्गेन हस्तपादादिना कुटिलो न भवतीत्यर्थः । हृच्छं कौटिल्य इति
हि धातुः ।

सर्षमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति

महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्जो नाश्रीयात्तद्वतम् ।

मज्जारूपमांसविशेषानित्यर्थः ।

मज्जो नाश्रीयादिति वा ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्यै-

कोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

सर्षदेति शेषः ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्यै-

कोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

अग्निर्हिकारे वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्वीथो नक्षत्राणि

प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्वाजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

राजनार्षेयं गामेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वाजनं देवतासु प्रोतं वैदेतासा-
मेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां सा-
युज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति ।

सार्ष्टिता समानार्ष्टित्वं सायुज्यं समानमोग्यत्वम् ।

महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्की-
र्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
विंशः खण्डः ॥ २० ॥

‘ एते वै देवाः प्रत्यक्षं पद्माह्वणा इति श्रुतेर्ब्राह्मणादीनि दैवतानि न
निन्देदिति भावः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
विंशः खण्डः ॥ २० ॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽ-
ग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांसि
मरीचयः स प्रतिहारः सर्वा गन्धर्वाः पितरस्त-
न्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

अत्र सामविशेषानिर्देशास्तामशब्दः सामसामान्यपरः ॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥ २ ॥

काम्यमानं सर्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥ २ ॥

तदेव श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि

तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

त्रीणि त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोका इत्युक्तानि यानि त्रीणि
हिंकारादिरूपेण पञ्चधा भवन्ति । अतः परमुत्कृष्टं श्रेयः किमपि
नास्ति ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वम् ।

एतदुपासकः सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः ।

सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ।

सयं दिग्वर्तिनोऽपि वशीकृता अस्मा उपासकापोषहारान्सम-
र्पयन्ति ।

सर्वमस्मीत्युपासीत तद्भूतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्यै-

कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

सामसामान्य उक्तरीत्या सर्वस्याऽऽश्वत्थेन स्थामिन्नत्वेन चोपासना
कर्तव्येत्यर्थः । द्विरुक्तिः सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्यै-
कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

एवं सामोपासनं समाप्य गानविशेषानुद्गातुरुपदिशति—

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमिति ।

विशिष्टो नर्दः स्वरविशेषः सोऽस्यास्तीति विनर्दि । गानमिति वारुण-
शेषः । साम्नः सामसंबन्धि पशव्यं पशुहितम् । उगवादिभ्यो यदिति पशु ।
सामसंबन्धि विनर्दि गानं वृणे प्रार्थयेत् । पुरुषवत्पशुश्छान्दसः ।

अग्रेरुद्गीथोऽनिरुक्तः ।

अग्निदेवत्यमुद्गानमनिरुक्तोऽस्पष्टं भवति । अस्पष्टो गानविशेषोऽग्निधी-
तिहेतुर्भवतीत्यर्थः ।

प्रजापतेर्निरुक्तः ।

निरुक्तः स्पष्टो गानविशेषः प्रजापतिदेवत्यः प्रजापतिधीतिहेतुस्त्वर्थः ।

सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलयदिन्द्रस्य ।

बलयत्प्रपन्नोपेतमित्यर्थः ।

कौशं बृहस्पतेः ।

कौञ्चपक्षिनादसमं बार्हस्पत्यं गानमित्यर्थः ।

अपध्वान्तं वरुणस्य ।

भिन्नकांस्थरवसमं वारुणगानमित्यर्थः ।

तान्सर्वानिवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ।

अपध्वान्तगानव्यतिरिक्तान्सर्वानुद्धीयानुपसेवेतेत्यर्थः ॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत् ।

अमृतत्वप्राप्तिमागायानि गानेन साधयानीति गानं कुर्यादित्यर्थः ।
यथाप्रार्थनं फलं भवतीति भावः ।

स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः

स्वर्गं लोकं यजमानायाम्नात्मन आगायानीत्ये-

तानि मनसा ध्यायन्नप्रमचः स्तुवीत ॥ २ ॥

एतानि देवामृतत्वादीनि फलानि मनसा ध्यायन्स्वरादिष्वप्रमत्तः
स्तोत्रं कुर्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्याऽऽत्मानः ।

अचः स्वरा आत्मानोऽवयवसदृशाः ।

सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः ।

काव्यो मावसानाः स्पर्शाः ।

तं यदि स्वरेषुपालभेत ।

एवंविदमुद्रातारं यदि कश्चिदागत्य त्वया वृद्धः स्वरः प्रपुक्त इत्युपा-
लभ्यं कुर्यात् ।

इन्द्रश्च शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा

प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

इन्द्र एव तव प्रत्युत्तरं दास्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमुष्मसूपालभेत प्रजापतिश्च शरणं प्रप-
न्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ।

त्वा प्रति त्वां प्रति पेक्ष्यति चूर्णपिष्यतीत्यर्थः । पिष्ट संचूर्णन
इति धातुः ।

अथ यथेन२ स्पर्शोपपालभेत मृत्यु२ शरणं प्रप-
नोऽभूयं स त्वा श्रुति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

धक्षयति भस्मी करिष्यतीत्यर्थः । दह भस्मीकरण इति हि धातुः ॥ ४ ॥
सर्वे स्वर्ग घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति ।
घोषवत्तया बलवत्तयोच्चारणमिन्द्रस्य बलाधायकमित्यर्थः ।

सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः ।

अग्रस्ता अनन्तरप्रवेशिताः । अनिरस्ता बहिरक्षिताः । निरस्तं
त्यरितोदितमित्यनरः । विवृता विवृतप्रयत्नोपेताः ।

प्रजापतेरात्मानं परिददानीति ।

ऊष्माणां प्रजापत्यात्मकत्वादग्रस्तत्वाद्विद्युक्तोष्मोच्चारणे प्रजापतेरात्म-
लामो भवतीत्यर्थः ।

सर्वे स्पर्शां लेभेनानभिनिहिता वक्तव्याः ।

लेशेनाल्पशोऽनभिनिहिता अनभिक्षिप्ता अनुतोच्चारिता इति यावत् ।

मृत्योरात्मानं पण्डिगणीति ॥ ५ ॥

इति षष्ठान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य द्वाविंशः

खण्डः ॥ २२ ॥

सर्वेषां स्पर्शानां मृत्य्यात्मकत्वात्स्पर्शानां तेषां दोषेभ्यः परितु-
ल्योच्चारणे मृत्योरात्मैव दोषेभ्यः परितो भवतीति भावः ।

इति षष्ठान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

आंकांश्च मन्त्रोपासनं विधानं प्रवर्तयति—

अथ धर्मस्कन्धाः ।

धर्मसाधनं मार्गः ।

यतोऽप्यसनं शानमिति प्रथमः ।

यज्ञाध्ययनदानशब्दैर्गृहस्थाश्रम उच्यते । अध्ययनशब्दो वेदाभ्या-
सपरः ।

तप एव द्वितीयः ।

तपःशब्देन वैश्वानसपारिघृज्ययोर्ग्रहणमुभयोस्तपःप्रधानत्वात् । तपः-
शब्दो हि कायक्लेशे रूढः स च द्वयोरपि समानः ।

ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्य-

न्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् ।

अत्यन्तमाचार्यकुले नियमैर्वैहं क्षपयंस्तृतीय आश्रम इत्यर्थः ।

सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

एवं त्रित्वेन संगृहीतानां चतुर्णामाश्रमाणां मध्ये यो ब्रह्मनिष्ठः स
सुक्तिमाश्रमवति । ब्रह्मनिष्ठाधिकलाः केवलाश्रमिणः पुण्यलोकभाजो
भवन्तीत्यर्थः । एवमेव हि 'अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः' [ब० सू०-
३।४।१९] इत्यत्र भाषितम् । न चात्र ब्रह्मसंस्थशब्दात्संन्यासा-
श्रममतिपत्तिरिति शङ्क्यम् । ब्रह्मसंस्थशब्दस्य प्रोक्षणीन्प्रायेण योगेनैव
वृत्त्युपपत्तौ संन्यासे रूढेरनवगन्तव्यत्वात्, योगमात्रस्य चाऽऽश्रमान्तरसा-
धारणत्वाच्च ब्रह्मसंस्थशब्देन संन्यासाश्रमग्रहणे प्रमाणं पश्यामः । न च
संपूर्वस्य तिष्ठतेः समाप्तिवाचकत्वादनन्यव्यापारत्वलक्षणाया ब्रह्माणि
समाप्तेः संन्यासिष्वियाम्निहोत्रादिकर्मान्तरव्यग्राश्रमान्तरेष्वसंभवाद्ब्रह्म-
संस्थशब्देन परिवाडेवोच्यत इति वाच्यम् । स्थाश्रमोचितकर्मव्यग्राताया
संन्यासिष्वप्यविशिष्टत्वात्, तदतिरिक्तव्यापारराहित्यस्य सर्वाश्रमेष्वपि
संभवात्, न ब्रह्मसंस्थशब्देन चतुर्थाश्रमपरामर्शहेतुं पश्यामः ॥ १ ॥

एवं ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीत्यमृतत्वसाधनं ब्रह्मोपासनमुक्त्वा तत्प्रण-
वाङ्गकमिति वक्तुं प्रणयं स्तौति—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् ।

सारानिष्कर्षाय लोकान्पर्यालोचयदित्यर्थः ।

तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्वयी विद्या संप्राप्तवत् ।

अयी विद्या सारत्वेन निष्पन्नाऽमवदित्यर्थः ।

तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि

संश्रासवन्तं शृणुवः स्वरिति ॥ २ ॥

तान्यन्यत्तपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः
संप्राप्तवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि
संतृष्णान्येवमोकारेण सर्वा वाक्संतृष्णोकार
एवेदः सर्वमोकार एवेदः सर्वम् ॥ ३ ॥

इति श्रान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

यथा सर्वाणि पञ्चजातानि पर्णनालेन व्याप्तानि भवन्त्येवमोङ्कारो वै सर्वा यागिति श्रुतेरोंकारेणैव सर्वा धाम्न्यासा । अत उँकार एव सर्वं ब्राह्मणम् । अत ओङ्कारेण ब्रह्मोपासनं कर्तव्यमिति पर्यवसितोऽर्थः ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

मसङ्गारकर्मज्ञानाणि कानिचिद्विधातुं प्रस्तौति—

ग्रहवादिनो वदन्ति यदसृणां प्रातःसवनम्
रुद्राणां माध्यदिनम् सवनमादित्यानां च
विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

स तर्हि यजमानस्य लोक इति ।

प्रातःसयनमाध्यंविनमयननृतीपसयनेश्वरैर्यत्तु रुद्रादित्यादिभ्यश्च देवैः पृथ-
 क्यन्तरिक्षम्यलंशानां पक्षीकृततयाऽप्यक्षिष्टस्य लोकस्यामायाघ्नमानस्य
 लोकः प्राप्नीति चेदित्यमित्यर्थः ।

म यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यात् ।

एष्य पञ्चानशास्पष्टोऽकम्पानशानं नास्ति सोऽन्नः कथं कुर्यात् ।

अथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥

तस्मात्तुल्यवर्णोपायभूतं वदयमाणं मामगानहोममन्त्रोत्थान-
दृष्टानं शास्त्रेय कृपांदिश्यथः ॥ १ ॥ २ ॥

तदेवाऽऽह—

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्यो-
दह्मुख उपविश्य स वासवः सामाभिगायति ॥ ३ ॥

प्रातरनुवाकारम्भात्प्राग्गार्हपत्यस्य पश्चादुदह्मुख उपविश्य वसुदे-
वत्पुं साम गायेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेव सामाऽऽह—

लो३कद्वारमपावा३र्णु३३पश्येम त्वा
वयः रा३३३३३ । हु३म् आ३३ज्या-
३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ४ ॥

हेऽग्ने पृथिवीलोकप्राप्तये द्वारमपावृणु तेनापावृतद्वारेण त्वां राज्याय
फलाय पश्येमेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ जुहोति ।

अधानन्तरमनेन मन्त्रेण जुहोतीत्यर्थः ।

होममन्त्रमेवाऽऽह—

नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमा-
नाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एताऽस्मि ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वा-

हाऽपजहि परिधमित्युक्तवोत्तिष्ठति ।

पृथिवीक्षिते पृथिवीनिधासाय लोकनिवासायाग्नये नमः । मह्यं यज-
मानाय लोकं विन्द लभ्यस्व । एष वै मम यजमानस्य लोकोऽस्मि-
ल्लोक आयुषः परस्तान्मरणादूर्ध्वमेताऽस्म्यागन्ताऽस्मि । स्वाहेति जुहोति
परिधं लोकद्वारार्गलमपजह्यपनय, इत्येतं मन्त्रमुक्तवोत्तिष्ठतीत्यर्थः ।

तस्मै वसवः प्रातःसवनः संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

प्रातःसवनसंबन्धिलोकं पृथिवीलोकं प्रयच्छन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

पुरा माध्यांदिनस्य सवनस्योपाकरणा-
ज्जघनेनाऽऽग्नीध्रीयस्योदह्मुख उपविश्य ।

आग्नीधीयस्याग्नेरित्यर्थः ।

स रौद्रः सामाभिगायति ॥ ७ ॥

लो३कद्वा३रमपावा३ णू३३ पश्येम

त्वावयं वैरा३३३३३ हु३म् आ३३

ज्या३ यो३ ३ आ३२१११ इति ॥ ८ ॥

पैराज्यायान्तरिक्षलोकफलमाप्तय इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते

लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्वैष

पै यजमानस्य लोक एताऽस्मि ॥ ९ ॥

अथ नमो वायव इति मन्त्रेण जुहोतीत्यर्थः । अन्तरिक्षक्षितेऽन्तरिक्षनिवासापेक्षादि पूर्ववदुल्लेखम् ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽप-

जहि परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा

माध्यंदिनः सवनः संप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

माध्यंदिनं सवनं माध्यंदिनसवनसंबन्धिलोकम् ॥ १० ॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणान्नघनेनाऽऽह्व-

नीयम्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यः

स वैश्वदेवः सामाभिगायति ॥ ११ ॥

आह्वनीयस्याग्नेरित्यर्थः । आदित्यमादित्यदेवत्वं वैश्वदेवे विश्वदेव-

देवत्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

तस्माऽऽदित्यं मामाऽऽह—

लो३कद्वा३रमपावा३ णू३३ पश्येम त्वा पयः

त्वाग३३३३३ हु३म् आ३३ ज्या-

३ यो३ ३ आ३ ३२१११ इत्यादित्यम् ॥ १२ ॥

स्यागाज्याप य्वंलोकापेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ वैश्वदेवम् ।

सामोच्यत इति शेषः ।

लो३कद्वारमपावा३र्णु३३पश्येम त्वावय३
साम्रा३३३३३हु३म् आ३३ ज्या-
३ यो३ आ ३२१११ इति ॥ १३ ॥

साम्राज्यापोत्तमस्वर्गफलायेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च
देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं
मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एताऽस्म्यत्र
यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽप-
हत परिधमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

सर्वं पूर्वयद्वद्व्यम् । आदित्यानां दिश्वेवानां च बहुत्याद्विन्दताप-
हतेति बहुवचनम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च दे-
वास्तृतीयसवनं संप्रयच्छन्ति ।

तृतीयसवनं तत्फलं स्वर्गमित्यर्थः ।

एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद ।

मात्रां याथात्म्यमित्यर्थः ।

य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयप्रपाठकस्य
चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ २ ॥

य एवं कर्तुं वेदेत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यापपरिसमाप्त्यर्था ॥ १६ ॥

इति षष्ठान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां द्वितीयप्रपाठकस्य
चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥ २ ॥

मधुविद्या प्रस्तूयते—

असौ वा आदित्यो देवमधु ।

असाधादित्यो वस्वावीनां देवानां मोवहेतुत्वान्मधु । अत्र मधुत्वद्वेष्टिः
कर्तव्येत्यर्थः ।

मधुत्वोपयोगीनि संपादयति—

तस्य यौरेव तिरश्चीनवन्धः ।

तस्य मधुनो ह्यलोक एवाऽऽधारमूतस्तिर्यक्प्रसारितो बंधः ।

अन्तरिक्षमपूपः ।

अन्तरिक्षं मध्वपूपः । मध्वाश्रयो हि तिरश्चीनबंधालम्बः सङ्गम्यत
एवमन्तरिक्षमपि ह्यलोकलम्बं लम्बत इव भातीत्यतः मध्वपूपत्वम् ।

मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

मरीचिशब्देन मरीचिस्थाः सवित्राकृष्टा मौम्य आप उच्यन्ते । ताः
पुत्रा इव पुत्रा अमरबीजमूता मध्वपूपच्छिद्रस्थाः सूक्ष्मकीटा
इत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयः ।

तस्याऽऽदित्यस्य ये प्राञ्चो रश्मयः ।

ता एवास्य प्राच्यो मधुनाडयः ।

ता एव प्राग्दिगवच्छिन्ना मधुनाड्यो मधुच्छिद्राणि ।

कच एव मधुलतः ।

ऋद्धमन्त्रा एव अमराः ।

ऋग्वेद एव पुष्पम् ।

ऋग्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयम् ।

ता अमृता आपः ।

ताः कर्मणि प्रयुक्ताः सोमाज्यपयोरूपा आपोऽग्नौ प्रक्षिताः पाका-
भिनिर्वृत्ता अमृता अत्यन्तरसवत्यो भवन्ति ।

ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

एतभृग्वेदमभ्यतपन् ।

ता वा एता ऋचो भ्रमरस्थानीयाः पुष्पेभ्यो रसमाददाना भ्रमरा
इद्वैतहृग्वेदविहितं कर्म पुष्पस्थानीयमभ्यतपन्नमितार्पं कृतवत्य इव ।

तस्याभितमस्य यशस्तेज इन्द्रियं

वीर्यमन्नाद्यश्च रसोऽजायत ॥ ३ ॥

यशस्तेजइन्द्रियवीर्यान्नाद्यलक्षणो रसोऽजायतेत्यर्थः । ऋग्भिर्मन्त्रैः
स्तोत्रशस्त्राद्यङ्गभावमुपगतैः क्रियमाणं कर्म मधुनिर्वर्तकं सोमाज्यादि-
रसं मुञ्चति पुष्पमिव भ्रमरैराचूष्यमाणं, तेन च यशस्तेजइन्द्रियवीर्या-
दिलक्षणं फलमुत्पन्नं भवति ॥ २ ॥ ३ ॥

तद्वचक्षरत् ।

तद्यशआदिलक्षणं फलं विशेषेणागमत् ।

तदादित्यमभितोऽश्रयत् ।

गत्या चाऽऽदित्यमभित आभितयदित्यर्थः ।

तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितश्च रूपम् ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

आदित्ये प्रत्यक्षतः परिदृश्यमानं यद्गोहितरूपं तत्कर्मनिर्वर्त्यं यशस्ते-
जआदिलक्षणफलरूपमित्यर्थः । रोहितरूपे तद्वपुर्द्धिः कर्तव्येति
यावत् ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्काशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य

दक्षिणा मधुनाढ्यो यजूंश्च्येव मधुधृतो

यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूंश्च्येतं यजुर्वेद-
मभ्यतपस्स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज
इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥ २ ॥

तव्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा

एतयदेतदादित्यस्य शुक्लः रूपम् ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य-
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य
प्रतीच्यो मधुनाह्वयः सामान्येव मधुकृतः
सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥
तानि वा एतानि सामान्येतः सामवेदमभ्य-
तपस्स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं
वीर्यमन्नाद्यः रसोऽजायत ॥ २ ॥

तव्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतय-
देतदादित्यस्य कृष्णः रूपम् ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्यो-
दीच्यो मधुनाढ्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः ।

अथर्वणाऽङ्गिरसा च दृष्टा मन्वा अथर्वाङ्गिरसः ।

इतिहासपुराणं पुष्पम् ।

इतिहासपुराणविहितकर्मस्वथर्वाङ्गिरसां विनियोगाह्नवेदादिवत्पुष्प-
त्वोक्तिश्च द्रष्टव्या ।

ता अमृता आपः ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपःस्तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नायः रसोऽजायत ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽथ्यत्तद्वा एतयदे-
तदादित्यस्य परः कृष्णः रूपम् ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदितृतीयप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

परः कृष्णं रूपमतिशयितं कृष्णरूपमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा

मधुनाढ्यो गुह्या एवाऽऽदेशा मधुकृतः ।

ब्रह्मविषयकौपनिषदरहस्योपदेशा इत्यर्थः ।

ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपःस्तस्याभितप्तस्य
यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नायः रसोऽजायत ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽथ्यत्तद्वा एतय-
देतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

समाहितवृष्टिमिनिरीक्ष्यमाणमाविश्यमण्डलमध्ये चलतीय स्फुर-
तीत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

ते वा एते रसानां रसा वेदा हि रसास्तेपा-
मेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृ-
तानि वेदा ह्यमृतास्तेपामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

लोकसारभूता ऋग्वेदादिप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यत्वाद्गोहितादिरूपाणा-
मतिरसत्वम् । तथा वेदेभ्योऽपीदृशतत्साधनप्रतिपादकतया भोग्यभूत-
तयाऽमृतेभ्यो रोहितादिरूपाणां तत्प्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यानामतिभोग्य-
त्वादमृतावप्यमृतत्वमित्यर्थः । अपमत्र निगलितार्थः—प्रागाद्यूर्ध्वदेशा-
न्तरस्थितरश्मिनाडीतस्तत्तद्वेदोक्तकर्मकुसुमेभ्यस्तत्तद्वैदिकमन्त्रमधुकरैरा-
दित्यमण्डलमानीतानि सोमाज्यपयःप्रमृतिद्रव्यनिष्पन्नानि पशस्तेजो
वीर्यमिन्द्रियमित्येवमात्मकानि रोहितं शुक्लं कृष्णं परः कृष्णं मध्ये क्षोभत
इवेत्युक्तानि रोहितादीनि पश्चामृतान्यादित्यमध्याश्रितानीति ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

एषां पञ्चात्ममृतानां वसुवद्वादित्यमृत्साराधरणभ्येत्यत्वं सद्गुणासी-
मानां वसुत्वादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्राप्तिरिति प्रतिपादयति—

तयत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना
मुत्सेन न वै देवा अश्रन्ति न पिबन्ति ।

चन्द्रमिवेति मावः । पुनः कथमुपजीवनमित्यत्राऽऽह—

एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

पशस्तेजआदिलक्षणं रोहितं कृष्णं सूर्यः करणैरुपलभ्य तृप्य-
न्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्ति ।

एतदेव रूपमभिलक्ष्यानुमूयेति यावत् । संविशन्ति मोगानन्तरमु-
दासीना भवन्तीत्यर्थः ।

एतस्माद्रूपादुयन्ति ॥ २ ॥

प्राप्ते मोगकाल इति शेषः । एतस्माद्रूपादिति स्पष्टोपे पञ्चमी ।
एतद्रूपात्तुमयमुद्दिश्योद्यन्ति सोत्साहा भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद ।

अनेन प्रकारेण वस्तुतुल्याधायकदर्शनगोचरत्वलक्षणवस्तूपजीव्यत्वा-
दिना रोहितामृतं यो वेद सः ।

वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति
स एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

तत्कतुन्पायेन तद्रूपासीनोऽपि वस्तुत्वं प्राप्य तथैव भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥
किंप्रतं कालमित्यत्राऽऽह—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूना-
मेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

आदित्यस्य प्राच्यां दिश्युदयः प्रतीच्यामस्तमयश्च यावन्तं काल-
मनुवर्तते तावन्तं कालं वसूनां यदाधिपत्यं यदप्रतिहतसंकल्पकत्वलक्षणं
स्वाराज्यं च तत्पर्येता परितो गन्तेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

अथ यद्वितीयममृतं तद्रूपा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न
वै देवा अश्रन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥
त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुयन्ति ॥ २ ॥

त य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्ता-
वदक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव
तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

पुरस्तादुदपपश्चादस्तमयापेक्षया द्विगुणं कालं दक्षिणत उदपमुत्त-
रतोऽस्तमयं च कल्पयित्वा भुतिर्ब्रवीतीति नात्र कथंता कार्या ॥ १ ॥
॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति
वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदाऽऽदित्यानामेवैको भूत्वा
वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स
एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता
द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्या-
नामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति
सोमेन मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमग्निसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा
सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एत-
देव रूपमग्निसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्ता-
वदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुता-
मेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति
ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्रन्ति न
पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमग्निसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा
ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स
एतदेव रूपमग्निसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्त-
मेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेताऽर्वाहस्तमेता साध्या-
नामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एवं वसुरुद्रादित्यमरुताध्यगणमोग्यरोहितादिषञ्चरूपात्मकपञ्चामृ-
ताभयदेवमधुत्वरूपितज्योतिर्मण्डलाख्यरूपयुक्तस्योदयास्तमयादिकृत्य-
विशिष्टस्याऽऽदित्यनामकस्याऽऽदित्यशरीरकार्यावस्थब्रह्मण उपासना-
मुपदिश्य नामरूपकृत्यादिरहितकार्यावस्थारहितादित्यजीवशरीरक-
ब्रह्मोपासनं दर्शयति—

अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य ।

अथ ब्रह्मादिवसरूपस्य कल्पस्य समाप्त्यनन्तरं तत ऊर्ध्वं उदेत्योद-
यास्तमयाभ्यां प्राण्यनुग्रहादूर्ध्वं उदेत्योदयास्तमयकृत्यपयुक्तप्राण्यनुग्रह-
रहित इत्यर्थः ।

नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता ।

उदयास्तमयशून्य एकस्यभाव एवोदासीनतया वर्तत इत्यर्थः । अत्र
हि भाष्ये कार्यकारणावस्थब्रह्मोपासनं विधीयते । असौ वा आदित्यो
देवमध्वित्यारण्याथ तत ऊर्ध्वं उदेत्येत्यतः प्रागादित्यस्यादिकार्यविशो-
पावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते । अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्येत्यादिनाऽऽदित्या-
न्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थमेव ब्रह्मोपदिश्यत इत्युक्तम् । तत्राप्य-
थ तत ऊर्ध्वं उदेत्येत्यस्य मुक्तावस्थादित्यान्तर्यामिब्रह्मोपासनपरत्वेऽ-
थशब्दादिस्वारस्यात्कारणावस्थमिति भाष्यस्याकार्यावस्थं मुक्त्यवस्थ-
मित्यर्थ एवोचितो न त्वादित्यभावप्राप्तिपूर्वावस्था । द्यासायैस्तु भाष्य-
स्वारस्यमयलभ्याऽऽदित्यनामरूपमावत्त्वावस्थापूर्वं माव्यवस्थेयाथ तत
ऊर्ध्वं उदेत्येत्यादिना संदर्भेण प्रतिपाद्यत इति वर्णितं तेषामयमाशयः—
अथशब्दो न निर्दिष्टानन्तर्यार्थोऽपि तूपासनान्तरप्रस्तावार्थः । 'अथ तत
ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' इत्यस्याप्युद-
यास्तमयतरकार्यशून्यत्वमर्थः । तच्चाऽऽदित्यभावपूर्वावस्थायां कल्पादी
संभवतीति ।

तदेव श्लोकः ॥ १ ॥

तस्मिन्निपये देवान्प्रति केनचिद्योगिना गीतः श्लोकः ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्ते-
नाह ॥ सत्येन मा विराधिपि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

हे देवास्तत्र तस्मिन्नादित्यभावमुक्तिकाले स मुक्तादिस्थान्तर्यामी
परमात्मा नास्तमितो नोदितश्च तेन तादृशेन सत्येन निर्विकारेण ब्रह्म-
णाऽहं मा विराधिपि विरोधं न गच्छामीति पादत् । निम्लोचेति
श्रुत्वान्वसो द्विर्बचनाभावः ॥ २ ॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्विवा
हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

एतां मधुविद्यारूपां ब्रह्मोपनिषदं ब्रह्मविद्यां वेदानुतिष्ठत्यस्मै ब्रह्म-
विद् आदित्यो नोदेति नास्तमेति । आदित्योऽयमप्रकाशाभ्यां न किञ्चि-
दस्य प्रयोजनमित्यर्थः । कुत इत्यत आह—सकृद्विवा हैवेत्पावि । अस्मै
ब्रह्मविदे सकृद्विवैव भवति सकृदुदितमहरेव भवति सदैवाहर्वा भवती-
त्यर्थः । संततं सर्वविषयसाक्षात्कारोऽस्य भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

मधुविद्यासंप्रदायमाह—

तद्धैतद्वृद्धा प्रजापतय उवाच
प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः ।

तद्धैतन्मधुविज्ञानमित्यर्थः ।

तद्धैतद्वृद्धालकायाऽऽरुणये ज्येष्ठाय
पुत्राय पिता ब्रह्म श्रोवाच ॥ ४ ॥

तद्धैतद्वृद्धोद्दालकाय पिता प्रोक्तवान् ॥ ४ ॥

इदं वाच तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म
प्रब्रूयात्प्रणाप्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

तस्माद्धेतोरेदं ब्रह्मविज्ञानं ज्येष्ठाय पुत्राय वा प्रब्रूयात् । पोष्याय
शिष्याय वा ब्रूयात् । प्रणाप्योऽसंमताविति निष्क्रमार्थे प्रणाप्यशब्दस्य
निपातितत्वात् ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन ।

उक्तपुत्रशिष्यव्यतिरिक्ताय कस्मैचिदपि न ब्रूयादित्यन्वयः ।

यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां
दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

समुद्रावृतां भोगोपकरणैः पूर्णानिमां पृथिवीं पश्यन्वस्मा आचार्याप
दद्यात्तद्वपेक्षयाऽप्येतद्विज्ञानमेवाधिकम् । नैतस्यानुरूपो निष्क्रयोऽस्ती-
त्यर्थः । द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधि-
करणमुपन्यस्यते समन्वयाध्याये—मधुविद्याया वस्यादिगणमोग्यरोहि-
तरूपादिपञ्चाभृताश्रयादित्योपासनारूपतयाऽस्यां विद्यायां वस्यादीनां
नाधिकारः संभवाद्युपास्योपासकभावस्यैकस्मिन्नसंभवात् । न ह्येकस्यैव
प्रीणनीयत्वं प्रीणयितुत्वं च संभवति । 'वसूनामेवैको भूया' [छा०
३।६।३] इत्यादिना वसुत्वादिप्राप्तेरेव मधुविद्याफलत्वेन वस्यादी-
नामेव सतां वस्यादित्यमानिकामनाया असंभवाच्चाथित्वाद्यसंभवाच्च ।
'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [यू० ४।४।१६]
इति परब्रह्मव्यतिरिक्तस्य देवोपास्यत्वनिवेधेन ज्योतिःशब्दिते ब्रह्मण्ये-
वोपासनसद्भावावगमाच्च मधुविद्यादिषु नाधिकार इति 'मध्यादित्य-
संभवादनधिकारं जैमिनिः' [ब० सू० १।३।३१] । 'ज्योतिषि भाषाच्च'
[ब० सू० १।३।३२] इति सूत्राभ्यां पूर्वपक्षं कृत्वा 'भावं तु याद-
रापणोऽस्ति हि' [ब० सू० १।३।३३] इति सूत्रेण सिद्धान्तः कृतः ।
अस्पायमर्थः—अधिकारस्य सद्भावं यादरायण आचार्यो मन्यते ।
अस्ति हि तेषामर्पाधित्वादिसंभव इति । अपमाशयः—न हीयं विद्या
वस्यादित्यादिमात्रपर्यवसिताऽपि तु तच्छरीररूपरमात्मपर्यन्ता । वस्या-
दीनामेव सतां स्थान्तर्पामिषरमाग्योपासनं भवत्येव । न चोपास्यप्रति-
पादकवस्यादिशब्दानां ब्रह्मण्यन्तत्वे प्रमाणाभावः । उपसंहारे 'ब्रह्मोप-
यं वेद' [छा० ३।११।३] इति त्रयणाद्वस्यादीनामेव सतां कल्पा-

न्तरे वस्वादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्राप्तेरुद्देश्यत्वसंभवाच्च । लोके पुत्रिणामेव
सतां जन्मान्तरेऽपि पुत्रितेप्साया दर्शनात् । ननु वस्वादिपञ्चगणोपजी-
व्यरोहितादिपञ्चरूपात्मकपञ्चामृताभयादित्यमधूपासनत्वान्मधुविद्याया-
स्तस्यां च विद्यायामादित्यस्यैवोपास्यतयाऽऽदित्यस्य तद्विद्याधिकारा-
संभवेऽपि वस्वादीनां कथमनधिकारशङ्का । न ह्यस्यां विद्यार्था वस्वादी-
नामुपास्यत्वमपि तु तद्भोग्यस्याऽऽदित्यस्यैव भाष्यकृता—मधुविद्याया-
मृगवेदादिप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारेण प्राप्तस्य रसस्याऽऽभयतया
लब्धमधुव्यपदेशस्याऽऽदित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्य-
त्वमिति पूर्वपक्षे वस्वादिभोग्यभूतादित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं
तद्व्यवस्थस्यैव ब्रह्मण इत्ययमव्यय इति सिद्धान्ते चोक्तत्वात् । न हि
स्वोपासनवत्स्योपजीव्यत्वेनान्यस्योपासनं विरुद्धं तथा सत्पुपासनमाचो-
ष्येदमसङ्गात् । सर्वपूपासनेपूपास्यगतस्वोपजीव्यत्वस्वसेव्यावस्वाधार-
त्वस्वान्तर्गतामित्यादीनामनुसंधेयत्वात् । ततश्च वसूनामेव सतां स्वोपजी-
व्यपञ्चामृताभयादिष्वपि यमधुविद्यानुष्ठानसंभवात्कुतोऽनधिकारशङ्केति
चेदुच्यते । वसूनामेवैको भूत्वेत्यादिना वसुत्वाविप्राप्तिफलत्वेन कीर्तनेन
मधुविद्यायां तत्क्रतुन्यायेन वस्वादीनामुपास्यत्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वात् ।
अथ तत ऊर्ध्वं उद्देश्येत्यतः प्रागादिष्ववस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मो-
पास्यमुपदिश्यते । अथ तत ऊर्ध्वं उद्देश्येत्यादिनाऽऽदित्यस्यान्तरा-
त्मतयाऽवस्थितं कारणायस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यत इति कार्याव-
स्थोपासनदशापामादित्यवस्वादीनामविशेषेणोपास्यत्वस्य भाषितत्वात् ।
अस्ति ह्यादित्यवस्वादीनामपि स्वारब्धब्रह्मोपासनेन वस्वादिप्राप्ति-
तिपूर्वकब्रह्मतेप्सासंभव इत्यादित्यस्य वस्वादीनां च तुल्यत्वस्य भाषि-
तत्वाच्च । मधुविद्याया आदित्योपासनत्वपञ्चामृतोपासनत्ववत्त्वाद्युपास-
नत्वरूपाकारत्रयवत्त्वाच्च पूर्वपक्षोत्थित्यनुपपत्तिरिति ब्रह्मण्यम् । ननु
वस्यवस्थस्य ब्रह्मण उपास्यत्वसंभवेऽपि तद्वसव उपजीवन्तीति निर्दिष्टमु-
पजीवितृत्वलक्षणं मोक्तव्यं न ब्रह्मणः संभवतीति चेन्न । उपजीवितृत्व-
स्यापि सद्भारकतया तत्र संभवात् । नन्वेवं तद्वसव उपजीवन्तीत्यस्य
वसुशब्दस्य तदन्तर्यामिपरत्वे वसूनामेवैको भूत्वेत्यत्रापि वसुशब्दस्य
ब्रह्मपरत्वं स्यात् । न च तद्युक्तम् । न ह्युपासकस्यापि जीवस्य कल्पा-
न्तरे वसुत्वप्राप्तिलक्षणसंसारदशायां वस्ववस्थब्रह्मभावोक्तिः संगच्छत
इति चेन्न । वसूनामेवैको भूत्वेत्यत्र यथाश्रुते बाधकभावेन, ब्रह्मपरत्वे

वाधकसद्भावेन च यथाश्रुतार्थस्यैवोपपन्नत्वादित्यलमतिचर्चया । ननु
 ' वसूनामेवैको भूत्वा ' ' सकृद्दिवा ह्येवास्मै भवति ' इति वाक्यद्वया-
 नुसारेणानया विद्यया कल्पान्तरे कंचित्कालं वसुभावं प्राप्य पश्चाद्वह्म-
 प्राप्नोतीत्यभ्युपगमो न युक्तः । तथा सतीदानीं मधुविद्याोपासकानां
 प्रायणानन्तरं फलप्राप्तिर्न स्यात्कल्पान्तरमावित्वाद्वसुत्यस्य । न च स
 विलम्बः सोढव्य एवेति वाच्यम् । कल्पान्तरेऽपि पश्चाद्विभावमापकम-
 धुविद्यानिष्ठानां तत्प्रापककर्मान्तरनिष्ठानां चानन्तानां संभवेन सर्वेषां
 च युगपद्वस्थाविभावे वसुगतादृत्यसंख्याविरोधप्रसङ्गेन वसुत्यप्रापक-
 कर्मनिष्ठानामनन्तानां मध्ये विषाकानुसारेण केषांचिद्विचित्ररूपकल्पमध्ये
 वसुत्वादिप्राप्तिर्भवति केषांचिदनुष्ठितमधुविद्यानामपि सहस्रकल्पप्र-
 तीक्षणमप्यस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । न हीदृशः कश्चिन्मुमुक्षुर्भवति । सहस्र-
 कल्पपर्यन्तविलम्बनभ्युपगच्छतः कथं मुमुक्षुता । हैरण्यगर्भान्तसकलमो-
 गविरक्तिपूर्वकब्रह्मानन्दप्रेप्सालक्षणमुमुक्षाशाली हि ब्रह्मविद्यायामधि-
 करोति । ततश्च वस्थाविषयाभिलाषिणः कथं मुमुक्षुता कथं वा
 ब्रह्मविद्याधिकार इति चेत्तत्परम्, ब्रह्मानन्दैकप्रेप्सुरेव मुमुक्षुः । अथापि
 यथा देहावसानकाले ब्रह्मानन्दैकप्रेप्सा मुमुक्षा, एवं वसुत्वादसाने
 ब्रह्मैव प्राप्नवानीति प्रेप्साऽपि ब्रह्मानन्दैकप्रेप्सा भवत्येव । शास्त्रयशा-
 चेद्वशविलम्बसहिष्णवोऽप्यधिकारिणः सन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । तत्र च
 प्रारब्धवैचित्र्यमेव नियामकम् । अत एव ' याथातथ्यं स्वपरनियतं
 यच्च येद्यं पदं तत्काराकल्पं यपुरपि विद्वन्कस्ति तिक्षेत बन्धम् ' इत्युक्त-
 रीत्या विवेकिनः कथं विलम्बसहिष्णुतेत्यप्यपारतम् । प्रारब्धमहिम्ना
 सर्वस्याप्युपपत्तेः । वस्तुतस्तु भ्रातृणां मध्ये त्वमेक इति लौकिकोक्ते-
 भ्रातृभोगसाम्याभिप्रायवद्वसूनामेवैको भूत्वेत्यस्य वाक्यस्य कंचित्का-
 लमानुषङ्गिकवत्त्वादिभोगसाम्यमनुभूय तेन यथा परं ज्योतिरुपसं-
 द्यत इत्यभिप्रायवत्तस्य वाक्यस्य तादृशभोगसाम्यस्य च देहवि-
 योगानन्तरमेव संमयाच्चानुपपत्तिरित्याहुः । ननु वस्थादिदेवतानां
 विग्रहामपिनोपासनसामर्थ्यासंभवात्कथमुपासनाधिकारः । न हि
 देवानां शरीरवत्त्वं प्रमाणमुपलभ्यते । न तावत्प्रत्यक्षानुमाने तस्य
 तद्गोचरत्वात् । नापि यज्जहस्तः पुरंदरस्तेनेन्द्रो यज्जमुदयच्छादिष्पा-
 दीनां प्रामाण्यम् । मन्त्रार्थवादानामनुष्ठेयस्मृतिस्तुतिप्रयोजनकतया

विग्रहादौ तात्पर्याभावेन तात्पर्याविषये शब्दस्याप्रामाण्यात् । अन्यथा
 श्वेतवर्णरजककर्तृकयस्त्रयोधनतात्पर्येण प्रयुक्तस्य श्वेतो धावतीत्यस्य
 शुनकसमीपगमनप्रतीत्युत्पादकत्वसंभवमात्रेण तत्रापि प्रामाण्यप्रस-
 न्नात् । ननु रेवत्याधारवारवन्तीयसामसाध्याग्निष्टोमस्तोत्रविशिष्टक-
 मुविधायके रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसामं कृत्वा पशुकामो ह्येतेन
 पजेतेति वाक्ये रेवतीषु वारवन्तीयमित्यंशस्य 'रेवतीनः सधमादः'
 इत्यृक्त्रयाधारवारवन्तीयसामरूपाग्निष्टोमस्तोत्रविशेषणे तात्पर्याभावेऽपि
 प्रामाण्यं बृहम् । न हि तद्विशेषणं सोमेन पजेतेत्यादिविशिष्टविधिषु
 सोमलताविविशेषणबल्लोकसिद्धम् । नापि विधिसिद्धं रेवतीषु रथंतरं
 गापेदिति वदेवतीषु वारवन्तीयं गापेदिति विध्यदर्शनात् । न चास्यैव
 विशिष्टगोचरस्य विधेर्विशेषणविधायपि तात्पर्यं वक्तुं शक्यं विध्यावृत्ति-
 प्रसङ्गात् । न चाऽऽक्षेपाद्विशेषणप्रसिद्धिरन्योन्याश्रयात् । विशेषणप्र-
 सिद्धौ सत्यां विशिष्टविधिः, विशिष्टविधिनैव विशेषणस्याऽऽक्षेप इति
 परस्परश्रयापत्तेः । तस्माद्विशिष्टविधेर्विशेषणस्वरूपे तात्पर्याभावेऽपि
 रेवतीषु वारवन्तीयमिति पदद्वयसमभिव्याहारस्यैव प्रामाण्यमभ्युपगन्त-
 व्यमिति चेन्मैवम् । रेवतीषु वारवन्तीयमिति पदद्वयसमभिव्याहा-
 रलभ्यां रेवत्याधारवारवन्तीयप्रतीतिमुपजीव्य प्रवृत्तेन विशिष्टविधि-
 नाऽऽक्षिप्तस्य रेवतीषु वारवन्तीयं कुर्यादिति विशेषणविधेरेव तत्र
 प्रमाणत्वेन रेवतीषु वारवन्तीयमिति पदद्वयसमभिव्याहारात्प्रमाण-
 त्वात् । इयांस्तु विशेषः—सोमलताविविशेषणं मानान्तरसिद्धं सोम-
 पदात्प्रतीयते । इह तु मानान्तरसिद्धमेव पदसमभिव्याहारात्प्रती-
 यत इति । प्रतीयमानेऽपि विशेषणे विशिष्टविधेः प्रामाण्याभावात्
 लभ्यत्राप्यविशिष्टः । ततश्च यथा सोमप्रत्यापकं सोमपदं न सोमस्व-
 रूपे प्रमाणमेवं रेवतीषु वारवन्तीयमिति पदद्वयसमभिव्याहारो रेवती-
 वारवन्तीयरूपविशेषणरूपार्थप्रत्यायकोऽपि न तत्र प्रमाणम् । अयं
 चापरो विशेषः—सोमलताद्वयस्य लोकसिद्धत्वात्तत्र यागसंबन्धित्वे-
 नैव विधिः कल्प्यः । इह तु विशेषणस्वरूपस्यापि मानान्तरसिद्धत्वा-
 त्प्रतीयमानेऽपि तास्मिन्विषये विशिष्टविधेः प्रामाण्याभावाच्च तत्सि-
 द्ध्यर्थं स्वरूपेण स्तोत्रविशेषसंबन्धित्वेन च विधिद्वयं कल्प्यमिति ।
 तस्मान्मन्त्रार्थवादानां स्यार्थं तात्पर्याभावाच्च तेभ्यो देवताविग्रहसिद्धिः ।
 ननु मन्त्रार्थवाङ्मानी विध्येकवाक्यतापन्नानां स्वरथार्थेऽप्यवान्तरतात्पर्यं

संभवत्येव दशपूर्णमासाविप्रधानविध्येकवाक्यतापन्नप्रयाजादिविधि-
 दिति चेत्सत्यम् । मामान्तराविरोधे प्रतीयमानार्थं तात्पर्यं संभवति
 न तु तद्विरुद्धे । अन्यथा यजमानः प्रस्तर इत्यत्रापि प्रतीयमानमेवे
 तात्पर्यप्रसङ्गात् । अस्ति च मन्त्रार्थवादयशेन देवताविग्रहाम्बुपगमे
 मानान्तरविरोधः । देवताविग्रहाम्बुपगमे हि न्यायतौल्येन नानायागदेशे
 युगपदाहूतानामागमनस्याग्निप्रक्षितमस्मीभूतहविःस्वीकारादेरप्यम्बुपग-
 मात्प्रत्यक्षोपपत्तिविरोधः । अतो न देवताविग्रहे तात्पर्यं संभवति ।
 अतो विग्रहामावायुपासनानास्वनधिकार इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते ।
 'तदुपर्यपि चादरायणः संभवात् ।' [अ० सू० १ । ३ । २६ ।] तत्र-
 ह्योपासनमुपरि मनुष्याणामुपरि देवादिष्वपि संभवतीति मगवाग्याव-
 रायणो मन्यते तेषामप्यधित्वसामर्थ्ययोः संभवात् । अर्थात् ताव-
 दाभ्यामिकादिदुर्बिषहदुःखाभितापात्परस्मिन्मन्त्राणि च निरस्तनिति-
 लक्षोपगन्धेऽनयधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणे निरतिशयमोग्यावा-
 दिज्ञानाश्च संभवति । सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया संभवति ।
 देहेन्द्रियादिमत्त्वं च तर्धेषु सृष्टिवाक्येषु देवतियंङ्मनुष्यस्थादरात्मना
 चतुर्विधसृष्ट्याप्तानास्तिद्धम् । देवादिमेदंश्च तत्तरकर्मानुगुणमल्लोकप्र-
 मृतिपतुर्वंशलोकस्थमोग्ययोग्यदेहेन्द्रियादियोगाचक्षुः । तथा 'देवार्थं
 गच्छन्ति य एता उपयन्ति' इति देवस्यप्राप्त्यर्थं कतुर्विधन्यथाऽनुपप-
 त्त्वाऽपि देवताविग्रहवत्त्वसिद्धिः । ज्योतिहोमादिविध्यन्यथाऽनुपपत्त्या
 देशान्तरवेदान्तरमोग्यैहिकमुत्तलक्षणस्यर्गशब्दोक्तमुत्तरूपतत्फलमोक्त-
 कर्मदेवसिद्धेरम्बुपगतस्यादेवतासायुज्यसालोक्यादिकलकर्मविध्यन्यथा-
 ऽनुपपत्त्या देवताविग्रहाणां तद्भोग्यमोग्योपकरणानामम्बुपगन्तव्य-
 त्वाच्च । 'विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।' [अ० सू० १ ।
 ३ । २७ ।] नन्वेवं मन्त्रार्थवादादिभिर्देवताया विग्रहान्बुपगमे कर्माणि
 विरोधः प्रसज्यते । यद्गुण पात्रेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहपतः 'अग्नि-
 मग्न आपह' 'इन्द्र आगच्छ' 'हरि य आगच्छ' इत्यादिनाऽऽ-
 तस्य संनिधानानुपपत्तेर्विरोधः प्रसज्यत इति चेन्न । अनेकप्रतिपत्तेर्वंश-
 नान् । एदप्येहि सौमरिममृतीनां शक्तिमतां युगपदेकशरीरप्रतिपत्तिः ।
 'शब्द इति चेन्नातः प्रमयात्प्रत्यक्षानुमानाम्याम् ।' [अ० सू० १ । ३ ।
 २८ ।] मा भूत्कर्माणि विरोधो वैदिके तु शब्दे विरोधः प्रसज्यते । देव-
 ताविग्रहान्बुपगमे हि विग्रहस्य सावयवत्वेनानित्यत्वादिन्वादेरर्थम्

विनाशादूर्ध्वं प्रागुत्पत्तेश्च तदर्थवाचिवैदिकशब्दानां सत्त्वे शब्दस्यार्थ-
नोत्पत्तिकः संबन्धो न स्यात् । शब्दस्वरूपस्यापि नाशोऽनित्यत्वं स्यात् ।
ततश्च 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः' [जै० १ । १ । ५]
इति सूत्रप्रतिपादितं शब्दार्थसंबन्धानां नित्यत्वं विरुध्येतेति चेन्न ।

‘वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः ।’

नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम् ।

वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ देवादीनां चकार सः ॥

इति प्रत्यक्षानुमानशब्दिताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामिन्द्राद्यर्थानां वेदप्र-
भवत्वाद्येवनात् । यथा शिल्पिना शिल्पशास्त्रोदितनामरूपाद्यनुसंधान-
पूर्वकं निर्मितं देवताप्रतिमादिकं पूर्वपूर्वसमानरूपमेवमिन्द्राद्यर्थोऽपि
वेदोक्तनामरूपानुसंधानशालिना प्रजापतिनाऽऽदौ निर्मीयमाणः पूर्व-
पूर्वसमानरूपः संभवति । ततश्च समानरूपामिध्यङ्गचाकृतिवाचित्वादि-
न्वादिशब्दानां व्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि जातिवाचिगवादिशब्दवदिन्द्रा-
दिशब्दानामपि जातिवाचितया नानित्यार्थसंयोगकृतो विरोध इत्यर्थः ।
ननु ‘मन्त्रकृतो वृणीते’ संहिताकारपदकारसूत्रकारब्राह्मणकाराणां
‘यिष्वामिन्नस्य सूक्तं भवति’ इति मन्त्रादीनां कार्यत्वध्वणान्न वेद-
नित्यत्वमित्यन्वाऽऽह—‘अत एव च नित्यत्वम् ।’ [अ० सू० १ । ३ ।
२९]

अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः ॥

इति मन्त्रकृत्त्वेन प्रसिद्धानामपि वसिष्ठविश्वामित्रादीनां वेदजन्य-
त्वान्नानामन्त्रकृत्त्वं मन्त्रद्रष्टृत्वमेव न तु मन्त्रकरत्वमित्यवसीयते ।
अतो वेदनित्यत्वस्य नानुपपत्तिः । नन्वेवमपि प्राकृतप्रलये शब्दस्य
तदुपादानभूताहंकारादेश्च नष्टत्वात्कथं वेदनित्यत्वं कथं वा सर्वेषां
वेदशब्दप्रभवत्वं तत्राऽऽह—‘समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्तावप्यविरोधो
दर्शनात्स्मृतेश्च’ [अ० सू० १ । ३ । ३०] कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्प-
त्त्यावृत्तावपि पूर्वोक्तसमाननामरूपत्वस्य तदवस्थत्वादेव न शब्दानि-
त्यत्वम् । ‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।’ [अ० सं०
१० । १९० । ३ ।] यथर्तुम्पृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।

दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा मावा युगादिषु । [महा मा० १२।८५५०]

इति श्रुतिस्मृतिस्म्यां तथैव प्रतिपादनादेतस्य नित्यस्वमपौरुषेयत्वं च ।
 इदमेव हि वेदस्यापौरुषेयत्वं यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमानुसंधानसापेक्षोच्चारण-
 क्रमवत्त्वं तत्त्विदानींतनवेदे सर्गाद्यवेदेऽपि समानम् । इयांस्तु विशेषः—
 भगवद्वातिरिक्ताः सर्वेऽपि पूर्वपूर्ववेदानुपूर्व्यनुभवजनितसंस्कारवशेन
 पूर्वानुपूर्वी स्मृत्वा तथैवाऽऽनुपूर्व्यां वेदमुच्चारयन्ति, भगवांस्तु संस्कारनि-
 पेक्षमेव पूर्वानुपूर्वीमनुसंधाय तथैवाऽऽनुपूर्व्यां वेदमुच्चारयतीति । इदमेव हि
 पौरुषेयप्रवन्धापेक्षया वेदस्य वैलक्षण्यं नित्यत्वं च । ननु चतुर्मुखाकर्तृ-
 कायान्तरकल्पसृष्टिविषयतयाऽपि धाता यथापूर्वमकल्पयदित्याविप्रमा-
 णानामुपपत्तौ स्वतन्त्रपरमात्मकर्तृकब्रह्मकल्पाद्यसमप्रवृत्तवेदचतुर्मुखा-
 विसृष्टेः समानानुपूर्वीकृत्यसमाननामरूपकृत्यत्वाद्दौ किं प्रमाणमिति चेदु-
 च्यते—चतुर्मुखादेर्नामरूपकृत्यादीनीतिहासपुराणादिभ्योऽवगत्यैतादृशा-
 नामरूपकृत्यविशिष्टश्चतुर्मुखो भवानीत्येवं संकल्पपूर्वकं भगवन्तमारुध्य
 तत्तत्पदं प्राप्नुयन्तीति हि शास्त्रप्रसिद्धिः । पवि कल्पागतर उपपद्यमानश्चतु-
 र्मुखो विलक्षणनामरूपकृत्यः स्यात्तदा तस्य भगवदाराधकस्य वाङ्मिता-
 र्थसिद्ध्यभावात्तद्विदित्वाधनत्वावेदकशास्त्रस्याप्रामाण्यमेव स्यात् । तत्तत्प-
 दामिलापिणः प्रवृत्तिश्च कस्यापि न स्यात् । अतः प्राकृतसृष्ट्यावृत्तावपि
 यथापूर्वमेव सृष्टिरिति देवताधिकरणे स्थितमिति । नन्यमिलोकादूर्ध्वलो-
 कवर्तिनामर्चिराद्यनतिवाह्यानामर्चिराद्यातिवाहिकचिन्तनरूपाङ्गासंम-
 वात्तदङ्गत्वस्य 'तच्छेपगत्यनुस्मृतियोगाच्च' [अ० सू० ४।२।१७] इति
 'योगिनः प्रति च स्मरन्ते स्मार्ते चैते' [अ० सू० ४।२।२१] इत्यादि-
 ष्वाविष्कृतत्वात्तदङ्गहीनानां देवतानां कथमङ्गीभूतब्रह्मविद्यायामधिकार-
 इति चेन्न । आतिवाहिकचिन्तनस्य दृष्टार्थतया तत्तल्लोकवर्तिनां तदूर्ध्व-
 लोकवर्त्यातिवाहिकचिन्तनेनैव सादृश्योपपत्तेः । मृतयजमानऋष्टिकर्गणि
 सूक्तपाके यजमानस्याऽऽपुराशासनाद्यभावादनपेक्षितमापुराशास्त इत्या-
 दिकमंश विहायापेक्षितांशपाठस्याङ्गीकृतत्वात् । तद्विहाप्यनपेक्षिता-
 तिवाहिकांशत्यागेनापेक्षितम्यस्वलोकोर्ध्वस्थांतिवाहिकानामेव चिन्त-
 नीयत्वोपपत्तेः । ननु 'तदुपर्यपि चादरायणः संभवात्' [अ० सू०
 १।३।२६] । मर्याद्विष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः [अ० सू०
 १।३।३१] इत्यधिकरणद्वयेन किं प्रयोजनम् । देवतानां देवता-
 विशेषाणां धार्थित्वसामर्थ्यनिर्णयस्य मनुष्याणां प्रवृत्तिविशेषानीपादि-
 कत्वात् । न च देवानामनेनाधिकरणद्वयेन किंचिदस्ति प्रयोजनम् ।

तेषां स्वकीयपदुतरदेहादिमत्त्वेऽर्थत्वसद्भावनिर्णये चाधिकरणम्यायान-
पेक्षणादिति चेदुच्यते-परं ब्रह्म देवानां वस्वादिदेवताविशेषाणां
चोपास्यं फलप्रदं चेतीदृशमहिमविशिष्टतयोपासनकालेऽनुसंधेयत्वसि-
द्धिलक्षणप्रयोजनसद्भावाद्देवताविग्रहसिद्धौ मधुविद्याया देवतापदप्राप्तिः
फलमित्यपि न भवेत् । गत्यनुसृतावचेतनानामर्चिरादीनामेव मार्गपर-
त्वेन चिन्तनीयता स्यात् । नाऽऽतिबाहिकदेवतानां तथा । ‘माक्तं
वाऽनात्मविच्छात्’ [ब० सू० ३।१।७] इति सूत्रोक्तन्यायेन
उपोतिदोमादिकर्मफलं भुञ्जानानां तं देवा मक्षयन्तीति निरन्तराजान-
देवकर्मकरमाधावगत्या न वैराग्यं सिध्येत् । प्राप्तिविरोधयोरसतोम-
न्त्रार्थवादानां प्रतीयमानार्थं प्रामाण्यमस्तीति न्याय्यपुत्पादनेन ‘ह्रवा
ह्येते अवृद्धा पञ्जरूपाः’ [मु० १।२।७] एतत्तृतीयं स्थानमित्यादि-
मन्त्रार्थवादैर्वैराग्यसंसिद्धिरित्यादीनि प्रयोजनानि द्रष्टव्यानि । प्रकृत-
मनुसरामः ॥ ६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्यै-
कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

चतुष्पादस्य पाद्विध्याभ्यां ब्रह्मणो गायत्रीसादृश्यानुसंधानरूपा विद्या
प्रस्तूयते गायत्री वेत्यादिना । इन्द्रः शचीपतिः, बलेन धीजितः, दुष्प-
यनो घृषा, समुत्सुसासहि, इति गायत्री चतुष्पदा । एकैकस्य पादस्य
पञ्चक्षरात्मतया पञ्चक्षरपादवत्त्वेन पद्धिधा च । एवं ब्रह्मणोऽपि सर्व-
भूतशब्दितात्मवर्ग एकः पादः । कर्माजितमोगस्थानरूपः पृथिवीलोक
एकः पादः । भोगोपकरणं शरीरमेकः पादः । आत्मस्थित्यनुगुणप्रदेश-
विशेषरूपं हृदयमेकः पाद इति भूतपृथिवीशरीरहृदयानि चत्वारः
पादाः । तत्र सर्वभूतलक्षणपादस्य ब्रह्मात्मकवाकर्तृकगानकर्मत्वत्राण-
कर्मत्वलक्षणं विधाद्वयं पृथिवीलक्षणस्य पादस्य सर्वभूतप्रतिष्ठात्व-
सर्वभूतानतिवर्त्यत्वलक्षणं विधाद्वयं, शरीरहृदयलक्षणयोः पादयोः
प्राणप्रतिष्ठात्वतदनतिवर्त्यत्वलक्षणं विधाद्वयमेव द्वयोरपि विधाद्वययोरपि
भेदामावात् । ततश्च परब्रह्मरूपा गायत्री भूतपृथिवीशरीरहृदयरूपपादच-
तुष्टयवत्तया चतुष्पदा । गानकर्मत्वत्राणकर्मत्वसर्वभूतप्रतिष्ठात्वसर्वभूतान-
तिवर्त्यत्वसर्वप्राणिप्राणप्रतिष्ठात्वसर्वप्राणानतिवर्त्यत्वलक्षणविधापदकयु-

क्तया पद्मविधा च । अतश्चतुष्पात्त्वपाद्द्विध्याभ्यां ब्रह्मणि गायत्री-
सादृश्यानुसंधानं कर्तव्यमिति प्रतिपादयति—

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच ।

अत्र गायत्रीशब्देन न प्रसिद्धा गायत्र्यभिधीयते । तस्या भूतादि-
पादचतुष्टयसंबन्धमावात् । एतावानस्य महिमेति पुंसूक्तमन्त्रप्रतिपाद्य-
त्वाभावाच्च । अपि तु परमात्मा । यथा कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं
जुहोतीत्यग्निहोत्रशब्दः प्रयुज्यमानस्तत्सादृश्यविशिष्टानुष्ठानार्थस्तथा
गायत्रीशब्दो ब्रह्मणि प्रयुज्यमानस्तत्सादृश्यानुसंधानार्थः । ततश्च
गायत्रीशब्देन ब्रह्मेयाभिधीयते । वैशब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मैव परिदृश्य-
मानसर्वभूतात्मकमित्यर्थः । ततश्च ब्रह्मणि मूललक्षणपादवत्त्वमुक्तम् ।

अथ गायत्रीशब्दप्रयुक्तिनिमित्तमपि ब्रह्मण्युपपादयन्विधाद्वयमाह—
याग्वै गायत्री ।

गायत्रीशब्दितं गायत्रीसदृशं ब्रह्मैव वाग्रूपविशिष्टं भवतीत्यर्थः ।

शब्दमूर्तिधरस्पर्तवृषं विष्णोर्महामनः ।

इति पराशरस्मृत्याद्यनुरोधेन ब्रह्मण एव शब्दरूपत्वमिति भावः ।
ततश्च किमित्यत्राऽऽह—

याग्वै इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥ १ ॥

वाग्रूपमेव ब्रह्म सर्वाणि भूतान्यभिधत्ते । हिताहितविधिनियेधमुत्तेन
घ्रायते च । अतश्च ब्रह्मणो वाग्रूपस्य सर्वभूतगानत्राणकर्तृत्वाभ्यां
गायत्रीशब्दवाच्यत्वं भूतात्मकपादवत्तो ब्रह्मणो वास्तुतृगानत्राणकर्तृ-
त्वाभ्यां द्वैविध्यं चोक्तं भवति ॥ १ ॥

उक्तार्थानुगादपूर्वकं द्वितीयं पादं सामानाधिकरण्येनाऽऽह—

या य सा गायत्रीर्यं वाय सा येयं पृथिवी ।

उक्तग्रन्थविशिष्टयकृतधर्मिणो षष्ठ्युद्भूतः । या सा सर्वभूतरूपेकपादवत्पुक्ता
गायत्री गायत्र्यार्यं ब्रह्म तदेव प्रसिद्धा पृथिवीत्यर्थः । कथं पृथिव्या
ब्रह्मात्मन्यभिधत्ताऽऽह—

अन्याः ईदि नरं भूतं प्रतिष्ठितम् ।

ब्रह्मात्मन्येवादेव हि सर्वभूतप्रतिष्ठात्यम् । न हि केचलपृथिव्याः सर्व-
भूतधारणानिगम्यतीत्यर्थः ।

प्रतिष्ठात्वं च नियतमित्याह—

एतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

पृथिवीं भूतजातं नातिवर्तते । कर्मवश्यात्मनां हि प्रतिष्ठात्वादेव पृथिवी नियमेनाशक्यातिक्रमणेत्यर्थः । पृथिवीमयब्रह्माण्डोदरे हि भोक्तृवशः परिवर्तते न ततोऽन्यत्रेति भावः । एवं द्वितीयः पादो भूतप्रतिष्ठात्त्वतदनतिवर्त्यस्वरूपं विधाद्वयं चोक्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयं पादमाह—

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरम् ।

अत्र पुरुषशब्दः शरीरविशिष्टजीवपरः । पृथिवी पृथिवीरूपपादविशिष्टा या मायत्री नायत्र्याख्यं ब्रह्म सा शरीरं शरीराख्यपादविशिष्टेत्यर्थः । भूतपृथिव्यो मायत्रीसामानाधिकरण्येन निर्विद्वत्तया भूतपृथिवीशब्दोर्ब्रह्मपर्यन्तत्वेन तदुपस्थापनक्षमत्वाद्ध्यप्रायन्यायेनात्र शरीरलक्षणपादान्तरनिर्देशकस्य शरीरशब्दस्य निष्कर्षकशब्दत्वेऽपि सामानाधिकरण्येन निर्देशो युक्तः ।

शरीरस्य ब्रह्मात्मकत्वं प्राणप्रतिष्ठात्त्वतदनतिवर्त्यस्वाभ्यामुपपादयति—

अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

नातिवर्तन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

चतुर्थं पादमाह—

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तय-

दिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम् ।

पुरुषे शरीरम् । पुरुषशब्दितशरीरविशिष्टजीवनिष्ठशरीराख्यपादविशिष्टं यद्वायत्र्याख्यं ब्रह्म तदेव हृदयं हृदयशरीरकं हृदयलक्षणपादकमित्यर्थः ।

हृदयस्य ब्रह्मात्मकत्वमुपपादयति—

अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

प्राणशब्देन प्राणायानादय इन्द्रियाणि वा कथ्यन्ते । तेषां हृदयसंब-

न्धिनाडीद्वारा हृदयप्रतिष्ठितत्वम् । एवं तृतीयचतुर्थपादौ प्राणप्रतिष्ठा-
त्वतदनतिवर्त्यत्वरूपं विधाद्वयं चोक्तम् ॥ ४ ॥

पाद्विध्यं च निगमयति—

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री ।

नन्वेवं चतुष्पात्वे ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वं स्यादिति शङ्कापामुक्तस्य
महिम्नोऽप्यधिप्रतिपेधिकासुचमुदाहरति—

तदेतद्वचाऽभ्यनुक्तम् ॥ ५ ॥

तदेतद्वाप्यत्राप्यं ब्रह्माभिमुखीकृत्यचाऽभ्युक्तमित्यर्थः ॥ ५ ॥

तामेव च पठति—

तावानस्य महिमा ।

पूर्वोक्तः सर्वोऽध्येतस्य महिमा नियाम्यवर्गः ।

ततो ज्यायाश्च पुरुषः ।

पूर्वोक्तमहिमापेक्षया पुरुषो ज्यायान्परमात्मा ज्यायास्ततोऽधिकम-
हिमशालीत्यर्थः ।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि ।

अत्र सर्वा भूतानीति कार्यजगदन्तर्गता अचिरसंमृष्टाश्चेतना लब्धन्ते
ते सर्वे पादः । अंशमात्रमित्यर्थः । सर्वशब्दात्परस्य शेषः सुषां सुष्ठुगिति
लुकि नलोपे रूपम् ।

त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ६ ॥

अत्र दृशब्दः समष्टिस्थापितत्वबहिर्भूताप्राकृतस्थानविशेषपरः । अप्रा-
कृते स्थानविशेषेऽस्य परमात्मनोऽमृतं पादत्रयमित्यर्थः । त्रिपात्यं
चाप्राकृतैर्मोग्यमोगस्थानमोगोपकरणविशेषैर्वा भूषणान्नादिरूपेण जग-
दन्तर्गतस्य भिमानिभिर्निर्यैर्मगवदनुमवमात्रपरीनित्यसिद्धैश्च मुक्ते-
श्चाऽऽत्मभिर्वा संभवति ॥ ६ ॥

अथ चतुर्थपादवेनोक्तस्योपास्यतया यक्ष्यमाणस्य हृदयस्य स्तुत्यर्थं
दृढपाकाशस्य याशाकाशामेदेन महत्त्वं वक्तुं याद्याकाशस्य ब्रह्मनुत्पत्त्यं
सामानाधिकरण्येनाऽऽह—

यद्वैतद्ब्रह्मेतीदं वाव तयोऽयं बहिर्धा पुरुषादा-
काशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः॥७॥
अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः ।

स्वकार्यं वपात्तत्वा मूर्तत्वा चलत्वादिभिर्ब्रह्मतुल्यो बाह्याकाशो यो वर्तत
इत्यर्थः । तादृशबाह्याकाशाभिन्नः पुरुषशब्दितशरीरान्तर्वर्तमान
आकाश इत्यर्थः । बाह्यान्तराकाशयोर्भेदसत्त्वेऽपि धर्मैक्याभिप्रायेणा-
भेदनिर्देशः ।

यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः॥ ८ ॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः ।

एवं ब्रह्मतुल्यबाह्याकाशाभिन्नः शरीरान्तराकाशो य इत्यर्थः । तादृ-
शशरीरान्तस्थाकाशाभिन्नो हृदयावच्छिन्नाकाश इत्यर्थः । पूर्ववद्ब्र-
ह्मैक्यादिति भावः । एवं ब्रह्मतुल्यबाह्याकाशाभिन्नपुरुषान्तर्गताकाशा-
भेदं हृदयाकाशस्योक्तत्वाद्दशमहिमशाली हृदयाकाश इति स्तौति—

यो वै सोऽन्तर्हृदय आकाशः ।

अन्तर्हृदये वर्तमानो य आकाशोऽयं तादृशमहिमशालीत्यर्थः ।
अनया च हृदयाकाशस्तुत्या चतुर्थपादत्येनोक्तं हृदयं स्तुतं मयति । एवं
चतुष्पदपङ्क्तिष्वप्ययद्वाक्येन परिच्छिन्नत्वास्थिरत्वशङ्का-
व्यावृत्त्यर्थं पूर्णत्वाप्रवर्तित्वगुणकतयोपासनं मोक्षफलं विवदधाति—

तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति ।

पूर्णत्वमपरिच्छिन्नत्वमप्रवर्तित्वमचलत्वं स्थिरत्वम् ।

पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अमन्तस्थिरा श्रीर्मुक्तैश्वर्यमेव तदुपासीनो मुक्तिं भजतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथोक्तब्रह्मणोपासनाङ्गत्वेन द्वारपोपासनं विधीयते—

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुपयः ।

तस्यैतस्य घनुर्यपादत्वेन निर्दिष्टस्य प्रकृतस्य हृदयस्य देवताभिधानं
मृतानि पञ्च द्वारच्छिद्राणीत्यर्थः ।

स योऽस्य प्राङ्सुपिः स प्राणस्तच्छुः

स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नायमित्युपासीत

तेजस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

प्राणवृत्तिविशेषाप्यायितचक्षुरनुग्राहकादित्यस्य हृदयप्राक्सुपिरद्वार-
पालस्य तेजोऽन्नाद्यतयोपासन उपासकः स्वयमपि तेजस्यन्नादो
मयतीत्यर्थः । तदेतदित्यादित्यस्य तेजोन्नाद्यपेक्षया नर्पुसकलिकृति-
र्देशः । एवमुत्तरत्रापि ॥ १ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुपिः स ग्यानस्तच्छ्रो-

त्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत

श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुपिः सोऽपानः सा

वाक्सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नायमित्युपासीत

ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ्सुपिः स समानस्तन्मनः

स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत

कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

व्युष्टिर्देहकान्तिः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुपिः स उदानः स वायुः

स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौ-

जस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

ओजो बलं महत्त्वं मह आकाशश्च देवताविशेषः ॥ ५ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः ।

एत उक्तगुणविशिष्टा आदित्यचन्द्रमोग्निषर्जन्याकाशाख्या ब्रह्मपुरुषा ब्रह्मसंबन्धिनः पुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य भगवल्लोकस्य हृदयाकाशाख्यस्य द्वारपालकाः । यद्वा भगवल्लोकस्य द्वारपा आतिवाहिकाः ।

स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्येदास्य कुले बीरो जायते ।

बीरः पुत्रो जायते विद्यावीर्यसंपन्नो जायत इत्यर्थः ।

आनुपङ्गिकं फलमुक्त्या प्रधानं फलमाह—

प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्येद ॥ ६ ॥

भगवल्लोकद्वारपालकोपासनयाऽनियारितः सन्भगवल्लोकं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं गापत्रीविद्याप्रकृतस्य दुसंबन्धिनः सकलफलप्रदस्य परस्य ब्रह्मण आभिरूप्यकीर्तिमस्वरूपफलविशेषार्थं कौक्षेयज्योतीरूपत्वेनोपासनाविधानापाऽह—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः

पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेपूत्तमेषु लोकेषु ।

‘तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्’ [मु० १।१।७] इत्यत्र जगदन्तर्धर्तिव्यष्टिजाते विश्वशब्दप्रयोगाद्विश्वशब्दो व्यष्टिपरः । सर्वशब्दः परिशोपात्समष्टितस्य परः । ततश्चातः परो दिवोऽप्राकृतस्थानविशेषस्थोपरिष्ठात्समष्टिव्यष्टिबहिर्भूतेष्वनुत्तमेषु स्वावधिकोत्तमराहितेषूत्तमस्थानविशेषेषु ‘तस्य भासा सर्वमिदं विमाति’ [मु० २।२।१०] इत्यवमासकतया ज्योतिःशब्दितः परमात्मा यो दीप्यत इत्यर्थः । अत्र यच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्रकृतपरामर्शितया प्रकृतं त्रिपाद्ब्रह्म परामृश्यते ।

इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ।

तद्विदः परस्ताद्दीप्यमानं त्रिपाद्ब्रह्म यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे शरीरस्थान्तर्ज्योतिः । इदं वाव कौक्षेयज्योतिरेव कौक्षेयज्योतिःशरीरकमेवेत्यर्थः ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ [गी० १५।१४]

इति स्मरणात् । ततश्च तदात्मकत्वानुसंधानं कर्तव्यमित्यर्थः ।

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदास्मिच्छरीरे

सस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति ।

यद्वौष्ण्योपलम्भनमित्यर्थः । उपलभ्यमानोष्णस्पर्शस्य जाठराग्निसं-
न्धित्वात्तत्स्पर्शसाक्षात्कार एव तत्साक्षात्कार इत्यर्थः ।

तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव

नदधुरिवाग्रेरिव ज्वलत उपशृणोति ।

यत्र यदा कर्णावपिगृह्यलिङ्गमपिघ्राय निनदमिव रथघोषमिव क्रपम-
कूजितमिव बहिर्ज्वलतोऽग्नेः शब्दमिव शृणोतीति यत्तदेतज्जाठराग्नि-
श्रवणम् । आन्तरस्य शब्दस्य जाठराग्निसंयन्धित्वात्तच्छब्दश्रवणमेव तच्छ्र-
वणमित्यर्थः ।

तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत ।

तदेतत्परमात्मशरीरभूतं कौक्षेयज्योतिरुक्तरीत्या वृष्टत्यश्रुतस्याभ्या-
मुपासीतेत्यर्थः ।

तस्य फलमाह—

चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

चक्षुष्यत्परमाभिरूप्यम् । चक्षुषे हितमित्यर्थे शरीरावयवाद्यदिति यत् ।
श्रुतत्वं कीर्तिमन्त्रम् । द्विरुक्तिर्बिद्यासमाप्त्यर्था । उक्तः श्रुत्यर्थः सर्वोऽपि
ज्योतिराधिकरणे श्रुतप्रकाशिकायां स्पष्टः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यादि-
पपकमधिकरणमुपन्यस्यते । अथ यदतः परोक्षो ज्योतिरिति ज्योतिः-
शब्दितं प्रगिच्छमन्याद्विज्योतिरेव कौक्षेयज्योतिरैक्याभासस्य भातिरु-
ज्योतिस्त्वेषोपपत्तेः । दीप्ते रूपयद्विषयत्वेन नीरूपे परमात्मनि दीप्तेरत-
मयान् । चक्षुष्यत्वश्रुतत्वरूपात्पफलोपामनोषाम्यत्यरूपवाग्यशेषभूत-

लिङ्गानुगृहीतज्योतिःश्रुत्या प्रसिद्धमग्न्याविज्योतिरेवेहोपदिश्यत इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते । 'ज्योतिश्चरणामिधानात् ।' [ब० सू० १।१।२४] द्युसंबन्धितया निर्विष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिः परमपुरुष एव । 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इति मन्त्रे द्युसंबन्धिनः सर्वभूतचरणत्वाभिधानात्तथैव द्युसंबन्धिन इहापि द्युसंबन्धित्वेन प्रत्यभिज्ञानात् । यच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्रकृतपरामर्शित्वस्यैव युक्ततया द्युसंबन्धित्वेन प्रकृतत्रिपाद्ब्रह्मपरामर्शस्यैव युक्तत्वात् । फलार्थतया परमात्मन्येव कौक्षेयकज्योतिःशरीरकत्यानुसंधानस्योपपत्तेः । रूपवद्विषयदीप्तिद्युमर्यादत्वलोकाधारत्वादीनामन्तरादित्यविद्यान्यायेन विग्रहविशिष्ट एवोपपत्तेः । मासकत्वप्रवृत्तिनिमित्तकज्योतिःशब्दस्यापि तत्र वृत्तिसंभवाज्ज्योतिःशब्दितः परमपुरुष एव 'छन्दोभिधानाच्चेति चेन्न तथा चतुर्षणनिगदात्तथा हि दर्शनम्' [ब० सू० १।१।२५] । पूर्वत्र गायत्री वा इदं सर्वमिति गायत्र्याख्यच्छन्दस एव प्रकृतत्वात्तस्यैव 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इति सर्वभूतचरणत्वाभिधानात् परब्रह्मणः प्रकृतत्वं येन यच्छब्दश्रुत्या तत्परामर्शः स्यादिति चेन्न । तत्र गायत्रीशब्देन न च्छन्दः परामृश्यते । अपि तु ब्रह्मण एव गायत्रीचेतुर्षणमिह निगम्यते । ब्रह्मणि गायत्रीसादृश्यानुसंधानं फलायोपदिश्यत इत्यर्थः । चतुष्पदश्च ब्रह्मणश्चतुष्पदया गायत्र्या सादृश्यसंभवात् । तथाऽन्यत्रापि सादृश्याच्छन्दाभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते । यथा संबर्गविद्यायामग्निसूर्यजलचन्द्रवायुवाक्चक्षुःश्रोत्रमनःप्राणरूपेषु दशसु दृशत्वसंख्यासाम्यात् । सैषा विराड्ब्रह्मादिति च्छन्दोवाचिनो विराट्शब्दस्य प्रयोगो दृढः । 'भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेर्लैवम्' [ब० सू० १।१।२६] । भूतमृथिवीशरीरहृदयलक्षणपादचतुष्टयवत्वस्य सैषा चतुष्पदेति प्रतिपादितस्य च्छन्दोरूपपायां गायत्र्यामसंभवाद्गायत्रीशब्देन ब्रह्मेवाभिधीयते । अतो गायत्रीशब्दाभिहितं त्रिपाद्ब्रह्मैव ज्योतिर्वाक्येऽपि यच्छब्दश्रुत्या पूर्वप्रत्यभिज्ञापकद्युसंबन्धित्यालिङ्गानुगृहीतया प्रतिपाद्यते । 'उपदेशभेदाच्चेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्' [ब० सू० १ । १ । २७] । पूर्ववाक्ये त्रिपादस्यामृतं दिवीति दिवोऽधिकरणत्वेन निर्देशाज्ज्योतिर्वाक्ये दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशात् प्रत्यभिज्ञासंभव इति चेन्न । वृक्षाग्रे यतमाने

इयेने वृक्षाग्राच्छयेनो वृक्षाग्रे इयेन इति-पञ्चमीसप्तम्योः प्रयोगदर्शनव-
दिहाप्युपपत्तेरिति भाव इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

शाण्डिल्यविद्या प्रस्तूयते—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

जायते इति जं लीयत इति लं जलशब्दौ लप्रत्ययान्तौ । अनिति
जीयतीत्यन् । क्तिबन्तो पिजन्तो वाऽयं शब्दः । तस्य जलान्, तज्जलान् ।
इतिर्हेत्वर्थः । सर्वशब्दः सर्वेशरीरकपरः । इदमित्येतद्ब्रह्मणः सर्वस्य वा
विशेषणम् । अतश्च तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात्सर्वात्मकं ब्रह्मेति शान्तः
सह्युपासीतेत्यर्थः । अत्र तज्जत्वात्तल्लत्वे स्थूलचिदचिच्छरीरकब्रह्मगते उपा-
सानोपावेपमावस्याभिन्ननिष्ठत्वात्तद्विरुद्धे । तन्निवाम्यत्वं तु न ब्रह्मगतं
ब्रह्मणस्तदसंभवात् । अपि तु चिदचिन्मात्रगतमिति द्रष्टव्यम् । भगवता
च भाष्यकृता सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति
सर्वोत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्याऽऽत्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीववितु-
त्वेन च सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेऽनुपासनं विधायेति भाषितम् । व्यासा-
दैश्च ब्रह्मागतकत्वं सर्वस्य शास्त्राद्व्यगम्य ।

सर्वभूतात्मके तात जगन्नाथे जगन्मये ।

परमात्मनि गोविन्दे मित्राभिन्नकथा कुतः ॥

इत्युक्तीत्या रागद्वेषादिरहितः सन्वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मोपासीतेत्यर्थ
इत्युक्तम् । वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मेति यदुक्तं व्यासार्वाणामयमाशयः—
सर्वं खल्विति यावदुक्तं सार्वार्थ्यं तु नोपास्यगुणः । उत्पत्तिशिष्टसार्व-
र्त्म्यगुणावरुद्धे मनोमयत्वादिवक्ष्यमाणगुणाविधानानुपपत्तिप्रसङ्गात् । न
चोपासनोत्पत्तिशक्यश्रुतस्य सार्वार्थ्यस्याविवक्षा कथमभ्युपगम्यत इति
याच्यम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानित्यन्तस्य वाक्यस्य सत्त्वशब्दकृतेन
प्रसिद्धयन्निर्देशेनैकवाक्यत्वस्य निवारितत्वात् । न ह्युपासीत खल्विति
पचनशक्तिर्पठते । अतः सार्वार्थ्यस्योपासनोत्पत्तिवाक्यश्रुतत्वाभावेन
शान्त उपासीतेति वाक्य उपास्याकाङ्क्षायां पूर्ववाक्यप्रतिपन्नस्य

ब्रह्मरूपधर्मिमात्रस्यैवोपास्यतयाऽन्वयो न तु सार्वान्त्र्यविशिष्टस्य । ततश्चोत्पत्तिशिष्टसार्वान्त्र्यानवरोधान्न वक्ष्यमाणमनोमयत्वादिगुणानन्वयशङ्का । सार्वान्त्र्यकं ब्रह्मोपासीतेति तदर्थनिर्देशकमाप्येऽपि सार्वान्त्र्यकत्वं नोपास्यगुणतया निर्दिष्टम् । अपि तुपास्यब्रह्मणः स्वरूपकथनमात्रपरमिति । तत्र सर्वमपि तैः कण्ठत एव वर्णितं च । ननु ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य शास्त्रादवगम्य रागद्वेषादिरहितः सन्वक्ष्यमाणगुणकं ब्रह्मोपासीतेत्यर्थ इति व्यासार्थैरेवोक्तत्वात्तदेकवाक्यत्वसंभवे तज्जलानितीत्यन्तस्य पृथग्वाक्यकल्पनायोगात् । सार्वान्त्र्यस्योत्पत्तिवाक्यविहितत्वेऽपि मनोमयत्वादीनामुत्पत्तिशिष्टगुणाविरोधिनामन्वये दोषाभावाच्च वाक्यमेवकल्पनं वा शाण्डिल्यविद्यायां सार्वान्त्र्यस्यानुपास्यत्वकल्पनं वा व्यर्थमिति चेन्न । उपासीतेत्यन्तेन वाक्यैकवाक्यत्वाभ्युपगमेऽपि प्रकारान्तरेण वाक्यैकवाक्यत्वनिराकरणे दोषाभावात् । शान्तिहेतुतयाऽन्यतस्य सार्वान्त्र्यस्योपास्यगुणत्वे मानाभावादिति व्यासार्थाभिप्रायात् । ननु ब्रह्मणः सार्वान्त्र्यकत्वाद्यत्र क्वचित्क्रियमाणस्यापि द्वेषादेरात्मद्वेषपर्यवसन्नत्वेनायुक्तत्वाच्छान्तः सन्नुपासीतेत्युक्ते ब्रह्मोपासीतेति कथमवगम्यते । सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यस्य शमविध्यर्थवाद्भूतस्वोपास्यसमर्पकत्वाभावादिति चेत्तत्त्वम् । शमविध्यर्थतया निर्दिष्टस्यापि ब्रह्मण उपास्याकाङ्क्षापूरकत्वाप्यपि संभवादन्यार्थतयाऽपि स्ववाक्यनिर्दिष्टं ब्रह्म विहायोपास्यान्तरकल्पनस्यानुचितत्वात्, मूलतः शास्त्रां परियास्योपवेशं करोतीत्यत्र मूलत इत्यस्य शास्त्रापरियासनेऽपादानतयाऽन्वितस्याप्याकाङ्क्षादशेनोपवेशं करोतीत्यनेनाप्यन्वयाभ्युपगमादिति द्रष्टव्यम् ।

विहितमुपासनं स्तोति—

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मि-

ल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति ।

‘ तं यथा यथोपासते तथैव भवति ’ इति श्रुत्यन्तरादिह लोके पुरुषो यथाक्रतुर्धोपासनस्तथैवेतः प्रेत्यामुष्मिँल्लोके भवति । ततो हेतोः पुरुषः क्रतुमयः क्रतुप्रधान उपासनप्रधान इत्यर्थः । ततश्चोपासनस्यैव हिततमत्वात्सर्वथाऽनुष्ठेयमित्यर्थः ।

एवं विहितं ब्रह्मोपासनं मनोमयत्वादिगुणान्तरविधानायानुवदति—

स कर्तुं कुर्वीत ॥ १ ॥

उपासकः कर्तुं ब्रह्मण उपासनं कुर्वीतित्यर्थः ॥ १ ॥

गुणानेवाऽऽह—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा ।

मनोमयः परिशुद्धमनोमात्रग्राह्यो विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीत-
परमात्मोपासननिर्मलीकृतमनोमात्रग्राह्य इत्यर्थः । प्राणशरीरः । जगति
सर्वेषां प्राणानां धारकः प्राणो यस्य शरीरमाधेयं विधेयं शेषमूर्तं च स
प्राणशरीरः । आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वानामेव शरीरशब्दप्रवृत्तिनिमित्ति-
तत्वात् । भारूपो भास्वरूपः । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' [श्वे०
३।८] 'पश्यते रुक्मवर्णम्' [मु० ३।१।३] इत्यादिवाक्यप्रतिपन्नाप्राकृ-
तस्यासाधारणनिरतिशयकल्याणगुणगणनिरतिशयदीप्तिपुक्तविग्रहशा-
लीत्यर्थः । सत्यसंकल्पोऽप्रतिहतसंकल्पः । आकाशात्माऽऽकाशवत्सूक्ष्म-
स्वच्छस्वरूपः सकलेतरकारणमूलाव्याकृताकाशस्याऽऽत्मभूत इत्याका-
शात्मा । स्वयं च प्रकाशतेऽन्यांश्च प्रकाशयतीति वाऽऽकाशात्मा ।

सर्वकर्मा ।

क्षिपत इति कर्म सर्वं जगद्यस्य कर्मासौ सर्वकर्मा सर्वा वा क्रिया
यस्याऽऽराधनमसौ सर्वकर्मा ।

सर्वकामः ।

काम्यन्त इति कामाः । भोग्यभोगोपकरणादयस्ते परिशुद्धास्तस्य
सन्तीत्यर्थः ।

सर्वगन्धः सर्वरसः ।

अशब्दमस्पर्शमित्यादिना प्राकृतगन्धरसादिनिषेधात्प्राकृतस्यासाधा-
रणा निरवद्या निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यमूलाः सर्वविधा गन्ध-
रसास्तस्य सन्तीत्यर्थः ।

सर्वमिदमन्यान्तः ।

उक्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातमन्यान्तः व्यीकृतयान् । मुक्ता
माह्वणा इति नृत्तंरि कप्रत्ययोऽर्शआद्यजन्तो वा ।

अवाकी ।

वाक उक्तिः साऽस्य नास्तीत्यवाकी ।

कृत इत्यत्राऽऽह—

अनादरः ॥ २ ॥

अवाप्तसमस्तकामत्वेनाऽऽर्तव्याभावादादररहितः । अत एवावाकी परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्वह्नादिस्तम्बपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोषमासीन इत्यर्थः ॥ २ ॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्म्रीहेर्या यवाद्वा

सर्पपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा ।

मदीये हृदये वीह्याद्यपेक्षयाऽणुत्वेनाल्पत्वेनैष परमात्मोपासनार्थमवस्थित इत्यर्थः । तथाऽनुसंधानं कर्तव्यमिति भावः ।

अन्तर्हृदयेऽवस्थितस्योपास्यमानस्य प्राप्याकारमनुसंधेयं निर्विशति—

एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायान-

न्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥३॥

अन्तर्हृदये विद्यमानोऽपि स्वरूपतो निरतिशयपरिमाण इत्यर्थः ॥ ३ ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्व-

रसः सर्वमिदमभ्याजोऽवाक्यनावरः ।

उक्तोऽर्थः ।

एवंभूतं परं ब्रह्म परमकारुण्येनास्मद्वुज्जिजीविषिषयाऽस्मद्बुद्धये संनिहितमित्यनुसंधातव्यमित्याह—

एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्म ।

यथोपासनमीवृशं परमात्मानमस्माच्छरीरात्समुत्थाय ‘परं ज्योतिरुपसंपद्य स्येन रूपेणामिनिष्पद्यते’ इत्युक्तरीत्या देशविशेषविशिष्टं प्राप्तास्मीति निश्चयरूपमनुसंधानं कर्तव्यमित्याह—

एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति ।

अत्रेतीत्यस्य स कर्तुं कुर्वीतित्यनेनान्यथः । मनोमयः प्राणशरीर इत्यारभ्येतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीत्येतत्पर्यन्तोऽनुसंधानप्रकारः । अत्र चेति-

शब्दनिर्दिष्टो मनोमयत्वादिगुणगतः क्रमविशेष एक एव विधीयते । मनो-
मयत्वाद्युपास्यगुणानां त्वाक्षेपतो विधानं पृष्ठगतसर्वताविधानादिव पृष्ठा-
नाम् । ततश्च प्राप्तानुवादेन मनोमयत्वाद्यनेकगुणविधाने वाक्यभेद इति
शङ्का प्रत्युक्ता । यद्वा विधेयानां बहुत्येऽपि क्रमरूपविधेयतावच्छेदकै-
क्यान् वाक्यभेदः । यदग्नये च प्रजापतये चेति वाक्ये देवतात्वरूप-
विधेयतावच्छेदकैक्येन वाक्यभेदस्य तान्त्रिकैः परिहृतत्वात् । केचित्तु
प्राप्तोपासनानुवादेनाभ्युदयेष्टिवाक्यवत्प्रयोगविधित्वसंभवाच्च वाक्यभेद
इति वदन्ति ।

एवंविधप्राप्यप्राप्तिनिश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्ती-
त्युपसंहरति—

यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति ।

अत्रेतिशब्दोऽभ्याहृतं ध्यः । अभिसंभवितास्मीतीतिशब्दस्य क्रमवाच-
कस्यैव काकाक्षिण्यायेन वाऽन्वयः । उक्तप्रकारेण यस्योपासकस्याद्धा
निश्चयोऽस्ति तस्य प्राप्तौ संशयो नास्ति ।

उक्तार्थस्य भन्नेयत्यसिद्धौ वक्तुरासिं वर्शयति—

इति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था । अयमर्थः सर्वोऽपि भाष्यश्रुतप्रकाशिकयोः
स्पष्टः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयक्रमधिकरणं लिख्यते । इयं च विद्या
समन्यपाध्याये द्वितीयपादे चिन्तिता । तत्र हि सर्वं रत्नविदं ब्रह्मेत्यत्र ब्रह्म-
शब्देन प्रत्यगात्मैव निर्दिश्यते । तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यनिर्देशो-
पपत्तेः । सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् । ब्रह्मादि-
स्तम्भपर्यन्तमावश्च प्रत्यगात्मन एवानाद्यविद्यामूलकर्मविशेषोपाधिक
उपपद्यते । परमात्मनो निरस्तसमस्तायद्यस्य समस्तहेयाकारसर्वभावो
नोपपद्यते । प्रत्यगात्मन्यपि ब्रह्मशब्दः कचित्कचिरप्रयुज्यत इदं ब्रह्माऽऽ-
यातीत्यादौ । अत एव परमात्मा परं ब्रह्मेति परमेश्वरस्य कचित्स-
विशेषणो निर्देशः । प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्ब्रह्मत्वं च विद्यते ।

चाऽऽनन्त्याय कल्पते ' [श्वे० ५।१५] इति श्रुतेः । अविदुषस्तस्यैव कर्मनिमित्तत्वाज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते । अतो जीव एवात्र संदर्भे प्रतिपाद्यत इति पूर्वपक्ष उच्यते ' सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ' [ब्र० सू० १।२।१] । सर्वस्मिञ्जगति सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति तदात्मतया विधीयमानं परं ब्रह्मैव । कुतः । प्रसिद्धोपदेशात् । तज्जत्वतल्लत्वादिना सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रसिद्धवदुपदेशात् । यस्माज्जन्मस्थितिलया वेदान्तेषु प्रसिद्धास्तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते । वेदान्तप्रसिद्धत्वं च परब्रह्मण एव । ' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ' [तै० ३।१] इत्यादिवेदान्तेषु परब्रह्मण एव प्रसिद्धेः । तस्य ब्रह्मादिस्तभ्यभावेऽपि प्रकारभूतशरीरगतानां दोषाणां प्रकारिण्यात्मन्यसंस्पर्शान्निस्तसमस्तावद्यत्वस्य नानुपपत्तिः । जीवानां च प्रतिशरीरं भिन्नानामन्योन्यतादात्म्यासंभवेन सर्वात्मकत्वस्यासंभावितत्वात्सर्वात्मकत्वमसंभाषितमेव । अतः सर्वजगत्कारणत्वप्रयुक्तसर्वात्मकत्वस्य परब्रह्मण्येव संभवात्परमेय ब्रह्मेह वाक्ये प्रतिपाद्यते । ' विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ' [ब्र० सू० १।२।३] । विवक्षितानां मनोमयत्वसत्यसंकल्पत्वादिगुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च विवक्षितत्वं तात्पर्यविषयत्वं मनोमयत्वादीनां च । यथाकतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवतीति वाक्येन मनोमयत्वादिगुणकोपासनेन तद्रूपकब्रह्मप्राप्तेः फलत्वावेदनेन फलरूपतात्पर्यलिङ्गसद्भावान्मनोमयत्वादीनां तात्पर्यविषयत्वलक्षणं विवक्षितत्वमवसीयते । ' अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ' [ब्र० सू० १।२।३] विवक्षितानां गुणानां शारीरेऽनुपपन्नत्वाच्च शारीरपरिग्रहशङ्का कार्यत्वार्थः । ' कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ' [ब्र० सू० १।२।४] एवमितः प्रेत्यामिसंभवितास्मीति प्राप्यतया परं ब्रह्म व्यपदिश्यते प्राप्ततया च जीवः । अतः प्राप्ता जीवोपासकः । प्राप्यं परं ब्रह्मोपास्यमिति । ' शब्दविशेषात् ' [ब्र० सू० १।२।५] एष म आत्माऽन्तर्हृदय इति शारीरः पृथ्या निर्दिष्ट उपास्यस्तु प्रथमया । अतो नोपासकस्य जीवस्यैवोपास्यत्वम् । ' स्मृतेश्च ' [ब्र० सू० १।२।६]

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । [गी० १५।५]

इत्युपास्यं हृदयगतमुपासकाद्भिन्नं परमात्मानं दर्शयति । ' अर्म-
कौकस्थात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निषाप्यत्वादेवं व्योमवच्च ' [ब्र० सू०

१।२।७] अल्पायतनत्वमर्मकौक्स्त्वं तद्यपदेशोऽल्पत्वव्यपदेशः ।
 एष य आत्माऽन्तर्हृदय इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वादणीयान्त्री-
 हेर्वा यवाद्देव्यादिना स्वरूपेणाणीयस्त्वव्यपदेशाच्च नायं परमात्माऽपि
 तु जीव एव परमात्मनोऽल्पायतनत्वाल्पत्वयोरसंभवादिति चेन्न । एवं
 निचाय्यत्वादल्पायतनत्वाल्पत्वाभ्यां तस्यैवोपास्यत्वसंभवात् । व्योमव-
 चेदं ब्रह्म व्यपदिश्यते ज्यायान्पृथिव्या इत्यादिना । अतश्च ज्यायस्त्व
 उपाध्यधवणाज्ज्यायस्त्वं स्वाभाविकम् । अणीयस्त्व उपाधिभ्रवणाद्-
 णीयस्त्वमौपाधिकमित्यवसीयते । 'संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।'
 [ब० सू० १।२।८] परब्रह्मणः शरीरान्तर्वर्तित्वे तन्निमित्तब्रह्म-
 रोपभोगप्रसक्तिर्जीवयत्स्यादिति चेन्न । तयोरपहतपाप्मत्वानपहतपाप्म-
 त्वकृतविशेषसद्भावाच्च जीवब्रह्मभोगप्रसक्तिरिति स्थितम् । प्रकृतमनुस-
 रामः ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
 चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पुत्रदीर्घाण्युप्यफलकं त्रैलोक्यात्मककोशविज्ञानमारभ्यते—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।

अन्तरिक्षमुदरं यस्य स तथोक्तः । मध्यवर्तित्वादन्रिक्षस्योदरत्वम् ।
 कोश इव कोशः कोशसादृश्यात् । भूमिर्बुध्नो मूलं यस्य स भूमिबुध्नः ।
 न जीर्यति न विनश्यति चिरकालावस्थापित्वादिति भावः ।

दिशो हास्य सक्तयः ।

सक्तयः कोणा इत्यर्थः ।

यौरस्योत्तरं विलम् ।

स्पष्टोऽर्थः ।

स एष कोशो वसुधानः ।

कर्मफलारयं वसु धीयतेऽस्मिन्निति वसुधानः ।

तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम् ॥ १ ॥

कर्मकर्मफलकात्मकं परित्यज्यमानं श्रुत्स्नमस्मिन्कोशे श्रितम् ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम
दक्षिणा रात्री नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची ।

स्पष्टोऽर्थः ।

तासां वायुर्वत्सः ।

वायोर्दिकप्रसूतत्वाद्दत्तत्वम् ।

स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं
वेद न पुत्ररोदश् रोदिति ।

दिग्बत्सत्वेन वायूपासकः पुत्रनाशनिमित्तं रोदनं न करोति । पाकं
पचतीति वदयं निर्देशः । रोदमिति णमुलन्तो वा ।

सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं
वेद मा पुत्ररोदश् रुदम् ॥ २ ॥

एतदुपदेष्टाऽहमेवैतदुपासनमनुष्ठाय पुत्ररोदनाभावं फलं प्राप्त्वान-
स्मीत्यर्थः ।

अथ कोशविज्ञानाङ्गभूतान्प्रपदनमन्त्रानाह—

अरिष्टं कोशं प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽमुना ।

अरिष्टमविनाशं कोशं प्रपद्ये । अमुनाऽमुनाऽमुनेति त्रिः पुत्रस्य नाम
गृह्णाति । अमुना पुत्रेण हेतुनाऽरिष्टं कोशं प्रपद्य इत्यर्थः । एवमुत्तर-
प्रापि ।

प्राणं प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपयेऽ-
मुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽ-
मुना स्वः प्रपयेऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥

स्वोक्तमन्त्रान्स्वयमेव व्याचष्टे—

स यद्वोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदं

सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्ति ॥ ४ ॥

सोऽहं प्राणं प्रपद्य इति यद्वचनमवोचं तेन वचनेन प्राणात्मकं सर्वं
जगत्प्रापत्तिं प्रपन्नोऽभवमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्त-
रिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥

भूः प्रपद्य इत्यस्य त्रीँल्लोकान्प्रपद्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं
प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥
अथ यदवोच* स्वः प्रपद्य इत्यृक्गवेदं प्रपद्ये यजु-
वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येष तदवोचं तदवोचम् ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

द्विरुक्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

दीर्घांपुष्टफलकपुरुषविद्या प्रस्तूयते—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतु-
र्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम् ।

षोडशोत्तरयणंशतमिते पुरुषायुष आद्यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि
प्रातःसवनम् ।

तत्र हेतुमाह—

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनम् ।

प्रातःसवनस्य गायत्रीछन्दस्कत्वाद्गायत्रीछन्दसश्चतुर्विंशत्यक्षरात्मक-
त्वाच्चतुर्विंशतिवर्षे प्रातःसवनत्वाध्यासो युज्यत इति भावः ।

तदस्य वसवोऽन्वायज्ञाः ।

अस्पोपासकस्य तत्प्रातःसवनं वसवः स्वामित्वेनानुगताः । प्रसिद्ध-
यज्ञे प्रातःगयत्रस्य यत्पुरवामिकत्वादिति भावः ।

प्रसिद्धान्वसून्वयावर्तयति—

प्राणा वाव वसवः ।

वावशब्दोऽवधारणे ।

प्राणानां वसुत्वे युक्तिमाह—

एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

शरीराणामशैथिल्यलक्षणवासस्य प्राणाधीनत्वादिति भावः ॥ १ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् ।

तं पुरुषविद्यानिष्ठमेतस्मिन्वयसि चतुर्विंशतिवर्षात्मके वयसि किञ्चि-
द्रोगादिकं बाधेत चेदित्यर्थः ।

स नृयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यं-

दिनं सवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां

वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति ।

तदेवं मन्त्रं स उपासको ब्रूयात् । हे प्राणा वसवो यज्ञरूपस्य ममा-
धुना प्रातःसवनं प्रवर्तते । इदं प्रवर्तमानं प्रातःसवनं माध्यंदिनसवने-
नाविच्छिन्नं कुरुत । प्रातःसवनेशानां प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञोऽहं
मा विलोप्सीय ह्यतो मा भूयम् । छान्दसो माहि लुङ्माधः ।
माशब्दो वा ।

उद्धैव तत ह एत्यगदो भवति ॥ २ ॥

तत उपतापादुद्देश्युद्गच्छति । अगदो भवत्यरोगो भवति । एवमु-
त्तरज्जापि ॥ २ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं

सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्त्रैष्टुभं माध्यं-

दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायचाः प्राणा

वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ ३ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स नृया-

त्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यंदिनं सवनं

तृतीयसवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणा-
नां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीये-
त्युद्धैव तत एत्यगदो भवति ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवन-
मष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीय-
सवनं तदस्याऽऽदित्या अन्वायचाः प्राणा
वावाऽऽदित्या एते हीद* सर्वमाददते ॥ ५ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा
आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति ।

तृतीयसवनात्मकमायुरासमाप्स्यविच्छिन्नं कुरुतेत्यर्थः ।

माऽहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीये-
त्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ६ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स
किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेप्यामीति ।

हे रोग स त्वं मे मां किं कस्मादुपतपसि योऽहं त्वत्कृतेनोपतापेन
न प्रेप्यामि न मरिष्याम्यतस्तव श्रमो धृथेवेति । एतत्पुरुषविज्ञानस्वरूपं
विद्वानितरपुत्र ऐतरेयो महिदासो नामाऽऽह स्मेत्यर्थः । शुभ्रादित्यादित-
रशब्दादपत्यार्थे ठक् ।

स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् ।

स महिदासः षोडशं षोडशाधिकं वर्षशतमजीवदित्यर्थः । 'तदास्मिन्न-
धिकमिति दशान्ताहुः' इति षोडशशब्दाहुप्रत्ययः । अतो विद्यायां
फलप्रापकत्वनिश्चयवतोऽवश्यं फलप्राप्तिर्भवतीति भावः ।

अन्योऽप्येवंवित्योदशं वर्षशतं जीवतीत्याह—

प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य षोडशः

खण्डः ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य

षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

तथा पुरुषस्य यज्ञसावृश्यमेव निरूपयति—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न

रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥

अशनायापिपासारत्यमाधानां द्वःसात्मकत्वेन दीक्षात्वं कल्प्यमि-
त्यर्थः ।

अथ यदश्नाति यत्पिचति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥

अशनपानरतीनां पयोधतादिपुक्तोपसद्रुसुखरूपत्वादुपसद्रूपत्वम् ।
उपसद्भिः साम्यमेतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यजक्षति यन्मैथुनं

चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

हासादीनां शब्दवत्त्वसाम्यात्स्तुतशस्त्रैः साम्यमेतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्य-

वचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

धर्मपुष्टिकरत्वसाम्यादिति भावः ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यन्त्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य ।

यतः पुरुषस्यैव यज्ञरूपत्वमत एव यथा यज्ञं करिष्यमाणे पुरुषे
देवदत्तः सोमं सोष्यतीति प्रयुञ्जते तथा पुरुषस्योत्पादनानन्तरमसोष्ट
सोमं यज्ञदत्त इतियदसोष्ट माता पुरुषमित्युत्पत्तेः पश्चात्प्रयुञ्जते । ततः

पुरुषस्य चोत्पादनमेव सोप्यत्यसोऽदेतिशब्दसंबन्धित्वसामान्याद्यनुष्ठानलक्षणमुत्पादनमित्यर्थः ।

तन्मरणमेवावगृह्यः ॥ ५ ॥

समाप्तिवसाम्यादिति भावः ॥ ५ ॥

तच्चैतद्योर आङ्घ्रिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्तोवाच ।

घोरनामाऽङ्घ्रिरो गोत्रस्तदेतत्पुरुषयज्ञदर्शनं देवकीपुत्राय कृष्णाय ।
इतिशब्दोऽध्याहृतस्यः । तच्छेषभूतं तत्पीत्यर्थमित्युक्त्वेत्यनुसंधायी-
याचानुष्ठितयानित्यर्थः । वचेर्लक्षणयाऽनुष्ठानार्थत्वम् ।

अपिपास एव स बभूव ।

स घोरनामा भगवच्छेषत्वानुसंधानपूर्वकपुरुषयज्ञोपासनानुष्ठानेन
ब्रह्मविद्यां प्राप्यापिपासो मुक्तो बभूवेत्यर्थः । ततश्च षोडशाधिकवर्ष-
शतजीवनफलकस्यापि पुरुषयज्ञदर्शनस्य भगवच्छेषत्वानुसंधानपूर्वकम-
नुष्ठितस्य ब्रह्मविद्योपयोगित्वमप्यस्तीति भावः ।

स धमूवेत्यस्य स भवतीत्यर्थः । सोऽन्तवेलायामित्यत्र स इत्यस्य प-
द्व्यर्थः । ततश्च षोऽन्तवेलायामेतन्नयं प्रतिपद्येत सोऽपिपासो भवतीत्यु-
वाचेत्युत्तरत्रान्वयः ।

सोऽन्तवेलायामेतन्नयं प्रतिपयेत् ।

स भगवच्छेषत्वानुसंधानपूर्वकपुरुषविद्यासाधितचिरापुद्गानुगृहीत-
ब्रह्मविद्यानिष्ठः पुरुषः ।

अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति ।

मरणकाल एतन्मन्त्रत्रयं जपेदित्यर्थः । अक्षितमसि क्षयशून्यमसि ।
अच्युतमसि स्वरूपस्यमावप्रच्युतिशून्यमसि । प्राणसंशितमसि जगत्प्रा-
णयितृत्वे सति सूक्ष्मतत्त्वमसीति ब्रह्मसंबोधनम् । शो तनूकरण इति
हि धातुः ।

तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

तत्र परब्रह्मविषय एतावृहन्न्यौ भवतः ॥ ६ ॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसः ।

तयोऽंशोरप्यमाद्यो मन्त्रः प्रतीकेन गृहीतः । 'आदित्प्रत्नस्य रेतसो
ज्योतिष्पश्यन्ति यागंरम् । परो यदिष्यते दिवा ।' इति । प्रत्नस्य पुरात-

नस्य रेतसो जगद्धीजभूतस्याव्यक्तस्याऽऽदिभूतं संसारसंतमसनिवारक-
तया ज्योतिःशब्दितं परं ब्रह्म 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्युक्तरीत्या
नित्यसूरयो वासरं नित्यप्रकाशरूपं सर्वकालं पश्यन्तीत्यर्थः । यज्ज्योतिः
'अथ पदतः परो दिवो ज्योतिर्दीव्यति' इत्युक्तरीत्या भगवद्भोके
परत्वेन दीध्यते निरतिशयदीप्तियुक्तविग्रहयुक्तमित्यर्थः ।

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरः

स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म

ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्य सप्तदशः

खण्डः ॥ १७ ॥

तमसः प्रकृतेः परस्तादुत्तरं ज्योतिः परिपश्यन्तः । उत्तरं स्यो भगव-
द्भोके परिपश्यन्तः । अत्र परिपश्यन्त इत्युभयत्र हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ।
भगवद्भोके तद्गतपरमात्मनश्च दर्शनायेति यावत् । देवत्रा देवेषु
देवमनुष्येत्यादिना सप्तम्यन्तात्प्राप्त्ययः । देवं द्योतमानमुत्तममधि-
रादिपर्वभूतं सूर्यरूपं ज्योतिर्ययमुदगन्म प्राप्ताः स्मेत्यर्थः । द्विरभ्यासो
यज्ञकल्पनासमाप्त्यर्थः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यते
गुणोपसंहारपादे तैत्तिरीयके 'तस्यैषं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः ।
अन्धा परती शरीरम् ।' [तै० आर० १० । ६४ ।] इति श्रुतायाः
पुरुषविद्यायाः 'पुरुषो वाय यज्ञः' इति छान्दोग्यान्नाता पुरुषविद्या
न मित्रा पुरुषविद्येति समाख्येक्यात्पुरुषसंबन्धिषु यज्ञावयवत्वकल्पना-
साम्यान्मरणावभृथत्वसाम्याच्चेति पूर्वपक्ष उच्यते—'पुरुषविद्यायामिष
चेतरेषामनाम्नानात् ।' [अ० सू० ३ । ३ । २४] उभयत्राऽऽन्नातयोः
पुरुषविद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्त्येव । कुतः । इतरेषामनाम्नानात् ।
'यत्सायं प्रातर्मध्यंदिनं च तानि सवनानि' [तै० आर० १० । ६४] इत्या-
दिना तैत्तिरीयकान्नातानां छान्दोग्येऽनाम्नानात् । त्रेधाविभक्तपुरुषायुष-
स्यैव छान्दोग्ये सयनत्वेनाऽऽम्नानात्, छान्दोग्यश्रुताशिशिपादिदीक्षा-
दित्वपरिकल्पनस्य तैत्तिरीयकेऽदर्शनात्, यजमानपत्न्यादिपरिकल्पनानां
च मित्रत्वात्, 'छान्दोग्ये पुरुषो वाय यज्ञः' इति श्रुतस्य पुरुषे यज्ञ-

त्वपरिकल्पनस्य तैत्तिरीयकेऽदर्शनाच्च विद्याभेद एव । न च तस्यैवं विदुषो यज्ञस्येत्यत्र पष्ठचन्तयोः सामानाधिकरण्याश्रयणेन पुरुषे यज्ञत्वकल्पनं तैत्तिरीयकेऽप्यस्तीति वाच्यम् । पुरुषस्यैव यज्ञत्वे तस्यैव यजमानत्वं विरुद्धं यज्ञत्वयजमानत्वयोरेकस्मिन्विरोधात् । किंच पुरुषे यज्ञत्वकल्पने हि विद्वान्यज्ञ आत्मा यजमान इत्येव वक्तव्यं स्यान्न त्वेकवाक्यतया विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमान इति । अतो विदुषो यज्ञस्येति व्यधिकरणपक्षो । विद्वत्संबन्धियज्ञस्येत्यर्थः । ततश्च प्रणव एव विस्वर इति न्यायेन पुरुषस्य यज्ञत्वपरिकल्पनैकरूप्याभावाद्विद्याभेद एव । किंच छान्दोग्यान्नातायाः पुरुषविद्यायाः प्र ह षोडशं वर्षं शतं जीयतीति षोडशाधिकवर्षशतजीवनं फलत्वेनाऽऽघ्रातम् । तैत्तिरीयके तु श्रुतायाः पुरुषविद्यायाः 'ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इति पूर्वानुवाकविहिताया ब्रह्मविद्यायाः 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' [तै० आ० १०।१३।६४] इति ब्रह्मप्राप्तिफलिकायाः संनिर्धा पठितत्वाद्ब्रह्मविद्याद्वन्तया ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वमेव । अतः फलसंयोगमेदाच्च पुरुषविद्ययोर्भेद इति सिद्धान्तितम् । प्रकृतमनुसरामः ।

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्य

सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

अध्यात्मं मनस्यधिदेवतमाकाशे च ब्रह्मवृष्टिरुपविश्यते—

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदेवतमाकाशो ब्रह्मे-
त्युत्तममादिष्टं त्रयत्यध्यात्मं चार्थिदेवतं च ॥ १ ॥

आदिष्टमुपदिष्टमित्यर्थः ॥ १ ॥

तदेतच्चतुष्पाद्वत् ।

तदेतन्मनआगतं ब्रह्म चतुष्पात ।

कथं मनोऽप्यस्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्प्रमित्यत्राऽऽह—

याक्त्वादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम् ।

पागादीनां चक्षुषां मनोनिवास्यन्वान्मनःपादाश्चाप्यानो पुनर-
इति भाषः ।

अथाधिदैवतमाग्निः पादो वायुः पाद
आदित्यः पादो दिशः पाद इति ।

अग्न्यादयश्चत्वारो ब्रह्मरूपाकाशस्योदरलगाः पादा इव मान्तीत्यर्थः ।
उभयमेवाऽऽदिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ २ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना
ज्योतिषा भाति च तपति च ।

ब्रह्मरूपस्य मनसो वागेव चतुर्थः पादः सोऽधिदैवताकाशसंघन्धि-
नाऽग्निना ज्योतिषा प्रकाशकेन भाति प्रकाशते तपति स्वकार्येऽस्माही
भवतीत्यर्थः । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' [ऐ० २ । ४] इत्य-
ग्निदैवताया एव वागधिष्ठातृत्वेन तदधीनप्रकाशप्रवृत्तिकत्वादिति भावः ।
एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा
ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वितरणधिक्रमरूपहेतुभेदात्कीर्तियशसोर्भेदः । ब्रह्मवर्चसं धृत्वाभ्ययन-
समुद्भिः ॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा
भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या
यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

वायुप्राणयोरैक्यादिति भावः ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदि-
त्येन ज्योतिषा भाति च तपति च
भाति च तपति च कीर्त्या यशसा
ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

आदित्यस्यैव चक्षुरधिष्ठातृत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा
 भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा
 ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्या-

ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

‘दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्’ [पृ० २।४] इति दिग्देवतानां
 श्रोत्राधिष्ठानृत्वादिति भावः । अवशिष्टस्योक्तोऽर्थः । द्विरुक्तिर्विद्या-
 समाप्त्यर्था ।

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्या-

ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

पूर्वत्राऽऽदित्यो ब्रह्मणः पाद उक्तः । तस्मिन्सकलब्रह्मदृष्टपर्यमिदं
 मारभ्यते—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ।

आदित्यो ब्रह्मेत्युपदेशः कियत इत्यर्थः ।

तस्योपव्याख्यानम् ।

कियत इति शेषः ।

असदेवेदमग्र आसीत् ।

इदं जगदग्रेऽस्तद्व्याकृतनामरूपमासीत् ।

तत्सदासीत् ।

तदस्याकृतनामरूपं जगत्सदासीत् । ईषन्नामरूपकार्याभिमुखमासीत् ।

तत्समभवत् ।

अल्पतरनामरूपध्याकरणेनादुरीभूतमिव घीजं क्रमेण स्थूलमभव-
 दित्यर्थः ।

तदाण्डं निरवर्तत ।

अण्डं संवृत्तमित्यर्थः । आण्डमिति च्छान्दसो दीर्घः ।

तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत ।

संवत्सरस्य मात्रां परिमाणमेकरूपतयाऽशयत स्थितं बभूवेत्यर्थः ।

तन्निरभिद्यत ।

संवत्सरकालाद्बुधं तदण्डं निर्मिन्नमभवत् ।

ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥ १ ॥

आण्डकपाले । आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चैकैकमवयता-
मित्यर्थः ॥ १ ॥

तयद्रजतं सेयं पृथिवी ।

यद्रजतमयं कपालं तत्पृथिव्याद्युपलक्षितमधोण्डकपालमित्यर्थः ।

यत्सुवर्णं सा यौः ।

सुवर्णमयकपालं द्युलोकोपलक्षितमूर्ध्वकपालम् ।

यज्जरायु ते पर्वताः ।

जरायु गर्भपरिवेष्टनम् । अण्डस्य शकलीभावदशायां याः स्थूलगर्भ-
परिवेष्टनशिरास्ते पर्वता बभूवुरित्यर्थः ।

यदुल्बं स मेघो नीहारः ।

यदुल्बं यत्सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनं तन्मेघसहितं हिमम् ।

या धमनयस्ता नयः ।

धमनयः शिरा इत्यर्थः ।

यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ॥ २ ॥

यस्तौ भवं वास्तेयम् ॥ २ ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः ।

तस्मिन्नण्डे गर्भरूपं यदजायत स आदित्यः ।

तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त-
र्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ।

तमादित्यं जायमानमनूलूलव उरुरव उरुरवा विस्तीर्णरवा महाध्व-
नियुक्ता उलूलव इति च्छान्दसं रूपम् । घोषाः शब्दाः स्थावरजङ्गमानि
भूतानि च तेषां कामाः काम्यमानाः स्त्रीवस्त्राद्यश्चोदतिष्ठन्नुत्थितवन्त
इत्यर्थः । सर्वस्याऽऽदित्योदयानन्तरमावित्वादिति भावः ।

तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायतनं प्रति घोषा उलूलवोऽ-
नूतिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः ॥ ३ ॥

तस्मादद्यत्वेऽप्यादित्यस्योदयं प्रति प्रत्यायनमस्तमयं च प्रति उरुरवाः
शब्दा भूतानि च कामाश्चोत्पद्यन्त इत्यर्थः । उदयास्तमयवेलायां हि
पक्षिघोषादीनां च दर्शनादिति भावः ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेन-
साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निघ्रेढेरन्निघ्रेढेरन् ।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयप्रपाठकस्थैकोन-
विंशः खण्डः ॥ १९ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि तृतीयः प्रपाठकः
समाप्तः ॥ ३ ॥

इशब्दः प्रसिद्धौ । एतमादित्यं ह्योपासकमभ्याशः क्षिप्रं यद्य इत्यर्थः ।
ये साधवः शोमना घोषान्ते सर्व उप समीप आ च गच्छेयुरागच्छेयुश्च ।
निघ्रेढेरन्मुखं च कुर्युरित्यर्थः । मृत् मुखे चेति धातुरन्तर्मापित्यर्थः ।
द्विरक्तिरुपासमाप्त्यर्था ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयप्रपाठकस्थै-
कोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां तृतीयः प्रपाठकः
समाप्तः ॥ ३ ॥

संवर्गविद्या प्रस्तूयते विद्यास्तुत्यर्थाऽऽख्यायिका—
 जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धा-
 देयो बहुदायी बहुपाक्य आस ।

जनश्रुतस्यापत्यं जानश्रुतिः । हशब्दः प्रसिद्धौ पुत्रस्य पुत्रः पौत्रस्त-
 स्यापत्यं पौत्रायणः । अन्धापुरःसरं देयं यस्य स अन्धादेयः । अर्थिभ्यो
 बहु दातुं शीलमस्य स बहुदायी । बह्वस्य गेहेऽन्नं पक्तव्यं यस्य स बहु-
 पाक्यः । एवंगुणसंपन्नो जानश्रुतिः कस्मिंश्चिद्देश आस ।

स ह सर्वत आवसथान्मापयांचके
 सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्ति ॥ १ ॥

स ह जानश्रुतिः सर्वत एत्यातिथयो ममाहं भोक्ष्यन्त इत्यभिप्रा-
 येण सर्वासु दिक्षु ग्रामनगरमार्गारण्यादिषु पान्थानामनाथानां शीत-
 षातवर्षातिपनिवारकालोदकशयनाच्छादनादिपूर्णाः शालाः कारितवा-
 नित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ ह हस्ता निशायामतिपेनुः ।

एवं सति कस्यांचिद्वाघ्री केचन महात्मानोऽन्नदानादिगुणैस्तोपिता
 भूत्वा हंसरूपाः सन्तो राज्ञो वर्शनगोचर आगताः ।

तद्धैव हस्तो हस्तमभ्युवाद ।

तत्तस्मिन्काले तेषां हंसानां मध्य एकः पृष्ठतो गच्छन्हंसोऽग्नेगामिर्ण
 केचन हंसमुवाच ।

भो भोऽपि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रा-
 यणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसा-
 द्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीदिति ॥ २ ॥

भो भोऽपीति संबोध्य भल्लाक्ष भल्लाक्षेत्यनेन विपरीतलक्षणया मन्द-
 लोचनेति संभ्रमेण द्विवारं संबोधनम् । समं दिवा । स्वर्गेण समं दिवा
 दिवसेन समं वाऽस्य राज्ञस्तेजः प्रसृतं तत्तस्मिंस्तेजसि मा प्रसादक्षीर्मा
 प्रसक्तो भूः । प्रसक्तौ को दोष इत्यत्राऽऽह—तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ।
 तत्तेजस्त्वा मा वृहेदित्यर्थः ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच ।

एवं ज्ञानश्रुतिप्रशंसारूपं वाक्यमुपश्रुत्य तदसहमान इवापरो हंसः
प्रत्युवाच ।

कं वर एनमेतत्सन्तः सयुग्वानमिव रैकमात्येति ।

उ इत्यनर्थको निपातः । अरे कं सन्तं केन माहात्म्येन युक्तमेतं जान-
श्रुतिं प्रति सयुग्मानं सशकटं रैकमिव रैकं प्रतिवेत्तत्प्रशंसापरं वचनं
ब्रवीषि । रैक एव ब्रह्मज्ञो महाप्रभावः । अब्रह्मज्ञस्यास्य किं तेजः किं
वा मां वहेदिति भावः ।

एवमुक्तः पश्चाद्वितीयहंसः पृच्छति—

यो नु कथं सद्युग्वा रैक इति ॥ ३ ॥

य उक्तः स किंप्रकारः ॥ ३ ॥

इतर आह—

यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संयन्त्येवमेन॥ सर्वं
तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति ।

यथा लोके कृतनामाऽप्यो द्यूतसमयप्रसिद्धश्चतुरङ्गायस्तत्र विजितं
जयो यस्य स कृतायविजितः पुरुषः । अथवा विजितं विजयस्तस्मा
इत्यर्थः । तदर्थमितरे त्रिहोकाङ्का अधरे न्यूना अयाः संपन्ति संगच्छन्तेऽ-
न्तर्मवन्ति । चतुरङ्के कृताय एकाङ्काङ्कत्रयङ्काणां शतं सहस्रेषु संभव-
तीति न्यायेन विद्यमानत्वात्तत्रैवान्तर्मवन्तीत्यतः कृताङ्कविजयेनेकाङ्का-
दिविजयोऽप्यस्तीति भावः । एवमेव लोके प्रजा यच्छोभनं कर्मानुति-
ष्ठन्ति तत्सर्वमेवं कृतायस्थानीयं रैकमभिसमेति संगच्छते । तत्कर्मणि
सकलं शोभनं कर्मान्तर्गतमिति यावत् ।

यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

स रेको यद्वेद तदेवान्योऽपि यः कश्चिद्वेद तज्ज्ञातमेवान्ये जानन्ति । तज्ज्ञाने सर्वं ज्ञानमन्तर्गतमित्यर्थः । स तादृशो रेको मयैतद्विद्वान् सयु-
ग्यानमिव रेकमात्मेत्युक्त इत्यर्थः । वेदान्ताचार्यैस्तत्त्वटीकायामस्यार्थस्य
प्रतिपादितत्वात् । उक्तं च भगवता माप्यकृता—लोके यत्किञ्चित्साध-
नुष्ठितं कर्म यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानं तदुभयं यदीयज्ञानकर्मान्तर्गतं

स रैक इत्याहेति । यदापि व्यासार्थैर्लघुसिद्धान्ते 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।' [ब० सू० ४ । १ । १ ।] इत्यत्र यस्तद्वेद यो वेदिता यत्स वेद पद्वेद्यं स मयैतदुक्तं स वेदिता रैक एतत्तद्वेद्यं ब्रह्मेत्येतदुभयं मयोक्तं तव मयोपदिष्टमित्यर्थं इत्युक्तं तदप्येतत्परं द्रष्टव्यं न तु प्रतीयमानार्थपरम् । यस्तद्वेद यत्स वेदेति वाक्यात् प्राचीने यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संयत्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति । यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्तीति वाक्ये ब्रह्मप्रसक्तेरेवाभावेन वेदिता वेद्यं च तद्योपदिष्टमित्यस्यार्थस्यासंभवेन यस्तद्वेद यत्स वेदेति वाक्येन प्रतिपादनासंभवाद्भाष्यविरोधाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । केचित्तु मगधता भाष्यकृता लघुसिद्धान्तभाष्ये यस्तद्वेद यत्सवेद स मयैतदुक्तमित्यत्रेत्येतद्वाक्यप्रतीकरूपं धृतत्वात्तदुनुरोधेन व्यासार्थः स मयैतदुक्तमिति नपुंसकान्तपाठस्य गृहीततया तत्र नपुंसकस्योक्तशब्दस्य स इति पुंलिङ्गतच्छब्दविशेषणत्वाद्योगाच्चस्तद्वेद यत्स वेदेति पुंनपुंसकान्तपच्छब्दद्वयनिर्दिष्टयोर्बैतृवेद्ययोः स मयैतदुक्तमित्यत्र क्रमेण प्रतिनिर्देशकयोः स एतदिति पुंनपुंसकसर्वनामशब्दयोः श्रवणेन स वेदितैतद्वेद्यं परं ब्रह्मेत्येतदुभयं मयोक्तमित्यर्थस्यैव वाक्यस्वारस्यलभ्यत्वाच्च स एवार्थो युक्त इति व्यासार्थमिप्रायः । न चात्रोदाहृतभाष्यविरोधः । 'प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्' [ब० सू० ३।२।२५] इति सूत्रे

वाचिकैः पक्षिमुगतां मानसेरन्यजातिताम् । ५

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥

इति मनुस्मृतौ च मनोव्यापारात्मके वेदने कर्मशब्दप्रयोगदर्शनेन यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्तीत्यनेनैव सर्वप्रजानुष्ठितसाधुकर्मण इव सर्वचेतनगतज्ञानस्यापि ग्रहणं संभवतीत्यभिप्रायेणैव तत्र भाष्ये यत्किंचित्साध्यनुष्ठितं कर्म यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानमिति कर्मापेक्षया ज्ञानस्य पृथङ्निर्देशात् । अत एव पूर्ववाक्ये ब्रह्मप्रसक्तिरेव नास्तीत्यपि प्रत्युक्तम् । सर्वप्रजानुष्ठितसाधुकर्मणः सर्वचेतनगतज्ञानस्य च रैकज्ञानकर्मणोः स्वरूपेणान्तर्भावस्य दुरुपपादतया कृतायाधरायदृष्टान्तस्वारस्येन च रैकवेदनविषये तत्कर्मोद्दिश्यभूते च सविभूतिकब्रह्माणि सर्वप्रजानुष्ठितकर्मोद्दिश्यसर्वचेतनगतज्ञानविषययोरन्तर्भावस्यैव वक्तव्यत्वेन पूर्ववाक्ये ब्रह्मप्रसक्तेरावश्यकत्वात् । तत्त्वटीकाग्रन्थस्तु स मयैतदुक्त इति पुंलिङ्गान्तपाठे च सति तन्निर्वाहमात्रमभिप्रायः । अतो व्यासार्थ-

प्रतिपादितार्थ एव भगवद्भाष्यकृदभिमत इति न काऽप्यनुपपत्तिरित्याहुः ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव ।

तद्वत्तज्ज्ञानविधुरतयाऽऽत्मनिन्दागमं तद्वत्तया च रैकप्रशंसारूपं वाक्यं स राजा श्रुत्वा ।

स ह संजिहान एव क्षचारमुवाच ।

स कथमपि निशामातिवाह्य संजिहान एव तल्पं त्यजन्नेव क्षत्तारमुक्तवान् ।

यैश्याद्वाह्यणकन्यायां क्षत्ता नाम प्रजापते ।

जीविकावृत्तिरेतस्य राजान्तःपुररक्षणम् ॥

इत्युक्तीत्या राज्ञोऽन्तःपुररक्षकः प्रतिलोमजातिविशेषः क्षत्ता ।

अङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैकमात्थेति यो

नु कथं सयुग्वा रैक इति ॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेऽयाः संपन्त्येवमेनं सर्वं

तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्यन्ति

यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

अरेऽङ्ग वत्सेति ते क्षत्तारं राजा संबोध्य रात्रायेवं हंसयोः संलापः समाजनीति सयुग्वानमिव रैकमात्थेत्यादि हंसोक्तिप्रत्युक्तिवाक्यानुषाङ्गपूर्वकं रैकस्य चिद्वक्तृत्वानित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय ।

सु च क्षत्ता शकटलक्षणरैकचिद्वक्तृत्वमनुस्मरन्ग्रामनगरादिक्रमन्विष्य नाज्ञासिपमिति प्रत्यागतवान् ।

तं होवाच यत्रारे घातणस्यान्वेषणा तदेनमर्हति ॥ ७ ॥

अरे घातणस्य घातयिदो यत्र विविक्तेषु नदीपुलिनारण्यादिषु मार्गणं युक्तं तत्र गत्वेनमर्ह रैकं प्राप्नुहि मार्गणं कुर्यादित्युवाचेत्यर्थः ॥ ७ ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कपमाणमुपोपविवेश ।

अथ पुनः स क्षत्ता गत्वा विजने कस्मिंश्चिद्देशे शकटस्याधस्तात्पा-
मानं कण्डूयमानं रैकमेत्य दृष्ट्वा समीपे गत्वा विनयेनोपविष्टवान् ।

तः हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक इत्यहं ह्यरा
३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

हे मगवंस्त्वं वा रैक इति पृष्ठे रैकोऽहमेवेति प्रत्युवाच तच्छ्रुत्वाऽज्ञा-
सिपमिति प्रत्यागतः ॥ ८ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

तद्बु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः पट्शतानि

गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे ।

उ हेत्यनर्थको निपातः । तत्तत्र जानश्रुतिर्गवां पट्शतानि निष्कं
कण्ठामरणमश्वतरीयुक्तं तदा गृहीत्वा रैकं प्रति गतवान् ।

तः हाभ्युवाद ॥ १ ॥

गत्वा च राजा तं रैकमित्युवाचेत्यर्थः ॥ १ ॥

रैकेमानि पट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म

एतां भगवो देवताः शाधि यां देवतामुपास्ते इति ॥ २ ॥

हे रैकेतत्सर्वमानीतं तद्ब्रूहाण त्वं यां देवतामुपास्ते तां देवतां मेऽनु-
शाधि विविच्य ज्ञापयेति प्रार्थयामास ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु ।

अहेत्याश्चर्ये । योगमहिमविदितलोकत्रयो जानश्रुतिर्वृद्धज्ञानविधुरता-
निमित्तानादरगर्भहंसवाक्यश्रवणेन शोकाविष्टतां तवूनन्तरमेव ब्रह्मजि-

ज्ञास्योद्योगं च विवित्वाऽऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिज्ञाय सत्यामपि योग्यतायां चिरकालसेवां विनाऽर्थप्रदानेन श्रुश्रूषमाणस्य यावच्छक्तिप्रदानेन विना ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता न भवतीति मत्वा तमनुगृह्यन्त्यस्य शोकाविष्टतामुपदेशयोग्यताख्यायिकां ब्रह्मजिज्ञासादार्ढ्यसिद्ध्यर्थं स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतसकलवृत्तान्तत्वलक्षणस्वमहिमानं च शोचितृत्वप्रवृत्तिनिमित्तकशूद्रशब्दामन्त्रणेन ख्यापयन्हारेत्वा हारसहित इत्या रथोऽश्वतरैरथस्तेनैव गोभिः सहास्तु कलत्रहीनस्य ग्रामगृहादिशून्यस्य मम गोस्थादिरक्षणे का शक्तिः । मत्प्रयोजनापर्यवसाय्यल्पधनदानेन च कथं तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवेदित्युवाचेत्यर्थः । स्फापितं चेत्यादिना रक्पकरणे पठितेन शुचेर्दध्वेति सूत्रेण रक्पत्यये शुचेश्वकारस्य वकारे, अमितम्पोर्दीर्घध्वेति पूर्वसूत्रानुवृत्तेन धातोरुकारस्य दीर्घादेशेन च शूद्रशब्दो निष्पन्नो भवति ।

तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः

संहस्रं गवां निष्क्रमश्वतरैरथं दुहि-

तरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

त* हाभ्युवाव रैकेद* संहस्रं गवामयं

निष्कोऽयमश्वतरैरथ इयं जायाऽयं ग्रामो

यस्मिन्नास्तेऽन्वेष्ट मा भगवः शार्धीति ॥ ४ ॥

तदभिप्रायं जानन्नधिकं गवां संहस्रं रैकस्य परिणयार्थं स्वकन्यामावासायं तत्रत्यं ग्रामं चोपाजहारेत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वोपहृतं सर्वं समर्प्य मामनुशाध्येष न प्रत्याख्याहीति प्रार्थयामासैत्यर्थः । यस्मिन्ग्रामे त्वमास्ते निवसिष्यसि सोऽयं तव वासार्थो ग्राम इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्यन्नुवाच ।

तस्या मुखमुपायनरूपापोयमद्वनीकुर्वन्नुक्तवानित्यर्थः ।

आजहारेमाः शूदानेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा इति ।

इमा दक्षिणा आजहर्त्य, आजहारेति व्यत्ययश्छान्दसः । अनेनैव मुखेनोपायेन मां ब्रह्मोपदेशरूपं वाक्यमान्त्रापयिष्यसे ब्रह्मविद्योपदेशार्थं

करिष्यसीत्यर्थः । 'थासः से' इत्येतदभावश्छान्दसः । पुनरपि शूद्रेतिसंबोध-
नस्य पूर्ववदेव प्रयोजनम् । अत्र शूद्रशब्दस्य न रुद्ध्या वर्णविशेषोऽर्थः ।
चतुर्थवर्णस्य ब्रह्मविद्यायामनधिकारादिति द्रष्टव्यम् ।

ते हैते रैक्पर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास ।

यत्र ग्रामेषु रैक् उवास ते महावृषाख्यदेशेषु रैक्पर्णा इति प्रसिद्धा-
स्तान्ग्रामांश्चास्मै ददावित्यर्थः ।

तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तत्सर्वं दत्तवते जानश्रुतये रैक्ः स्वोपास्यां देवतामुपविवेशेत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

वायुर्वायु संवर्गः ।

संवर्जननामं गुणयोगाद्वापुरेव संवर्गः । संवर्जनं संग्रहणमेकीकृत्य
ग्रहणमित्यर्थः । संवर्गत्वगुणको वायुर्ध्वेय इति यावत् ।

संवर्गत्वमेवोपपादयति—

यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति

यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा

चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

उद्वायत्युद्वासनं प्राप्नोति विनश्यतीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापि-

यन्ति वायुर्हवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते ।

अग्निमूर्ध्वचन्द्राणां तेजोरूपाणां जलस्य च लये वायावेकीभावाद्वायुः
संवर्ग इत्यर्थः । प्रक्रमे हि 'एनं सर्वं तदभिसमेति' इत्यादिब्रह्मवि-
द्याप्रशंसावगमाद्ब्रह्ममाणालिङ्गानुपपत्तेश्च वायुशब्देन वायुशरीरकः पर-
मात्मोच्यते । संवृङ्क् एकीकृत्य गृह्णातीत्यर्थः ।

इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

एवं देवेषु संवर्गोऽयमित्यर्थः ॥ २ ॥

अध्यात्मं प्राणः संवर्ग इत्याह—

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति ।

स पुरुषो यस्मिन्काले स्वपितीत्यर्थः ।

प्राणमेव यागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणश्च श्रोत्रं प्राणं

मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संबुद्धं इति ॥ ३ ॥

प्राणे वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसामेकीभावात्प्राणं संवर्गमुपासीतित्यर्थः ।
अत्रापि प्राणशब्दस्तच्छरीरकपरमात्मपरो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

उक्तमर्थमुपसंहरति—

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

संवर्गविद्यास्तुत्यर्थमाख्यायिकेयमारभ्यते—

अथ ह शौनके च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्ष-

सेनिं परिविप्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे ।

कापिगोत्रं शुनकपुत्रं कक्षसेनसुतमभिप्रतारिणामानं च तौ द्वौ क्ष-
पारैः परिविप्यमाणौ भोजनायोपदिष्टौ कश्चित्संवर्गोपासको ब्रह्मचारी
भिक्षितवान् ।

तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

अयं ब्रह्मचारी संवर्गविद्यानिष्ठो दुरभिमानी यद्वक्ष्यति तच्छ्रोष्याय
इति पुद्गला भिक्षां न दत्तवन्तौ ॥ ५ ॥

स होवाच ।

स ब्रह्मचार्युवाच ।

महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार

भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति

मर्त्या अभिप्रतारिन्वदृषा वमन्तम् ।

अधिदैवतं महात्मनोऽन्यादित्यचन्द्रजलरूपान् । अध्यात्मं वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरूपांश्चतुरश्रतुःसंख्याकान्देवान्सर्वलोकस्य गोप्ता स एक एव देवो वायुप्राणरूपी कः प्रजापतिर्जगार संहृतवान् । हे कापेयामिप्रतारिणावेवंभूतं प्रजापतिं बहुरूपतया वसन्तं मर्त्या मरणधर्माणोऽविद्यामोहिताः सन्तो न जानन्तीत्यर्थः । गोपा गुपू रक्षणेऽमुप्रत्ययान्तः ।

यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

जगत्सर्वं यस्मै यस्य संवर्गस्य प्रजापतेरन्नं तस्मै भिक्षमाणाय मह्यमन्नं न दत्तम् । अतः केऽपि न जानन्तीत्युपासनादाढ्यापितोपास्यैक्यबुद्ध्या भिक्षमाणाय स्वस्मा अप्रदानमेव स्वोपास्यदेवताया अप्रदानं मत्वा तस्मा एतन्न दत्तमिति तौ निन्दितवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

तद्व ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयाय ।

कापेयः शौनकस्तद्ब्रह्मचारिणोक्तं प्रतिमन्वानो मनसाऽऽलोचयंस्तत्समीपं प्रत्यागत्योवाच ।

आत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनयमानो यदनन्नमतीति वै वयं ब्रह्मचारिभेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

देवानां निपन्ता प्रजानामुत्पादकः कमनीयदंष्ट्रायुक्तो हिरण्यविदारकदंष्ट्रायुक्त इति वा । बभसो भक्षणशीलोऽसुरसंहारक इति यावत् । असूरिर्विषश्चिन्न भवतीत्यनसूरिर्विषश्चिदिति यावत् । अस्य च नृसिंहस्य परमात्मनो महिमानं महान्तमाहुः । यत्स्वयमन्यैरनद्यमानोऽनाश्वमानोऽन्नं चागादिकं नाशयत्येवंभूतः परमात्मेव संवर्गो न त्वदुक्तः प्रजापतिरित्यर्थः । अतो वयं न त्वदुक्तं प्रजापतिरूपं संवर्गमुपास्महे । अपि तु परमात्मानमेव । अतस्त्वं संवर्गं यथावन्न जानासीत्युक्त्वाऽस्मै भिक्षां प्रयच्छतेति परिचारकानाहतुरित्यर्थः । अनेन संवर्गविद्याया वायुप्राणशरीरकपरत्वमाधिष्कृतं भवति ॥ ७ ॥

तस्मा उ ह ददुः ।

तस्मै ब्रह्मचारिणे परिचारका मिक्षां ददुरित्यर्थः ।

संवर्गविद्यास्तुतये तत्संवन्धिपदार्थान्कृतायत्वेन विरादत्वेनाश्रित्वेना-
ज्ञादित्वेन च स्तौति—

ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम् ।

अधिदैवतमग्न्यादित्यचन्द्रजलरूपाः पदार्था अपियन्तश्चत्वारोऽपीषमानो
वायुरेक इति पञ्च । अध्यात्मं वागाद्या अपियन्तश्चत्वारोऽपीषमानः
माण एक इति पञ्च । आहत्य दशत्वसंख्यामाप्ताः कृतापता भजन्ते ।
कृतसंज्ञके तस्मिन्ने चतुरङ्कायड्यङ्कायद्वाङ्कायैकाङ्कायानामनुमधिष्ठया
दशाङ्कत्वम् । एकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां च समावेशे दशत्वसंख्या-
संभवादिति भावः ।

तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतम् ।

तस्माद्धेतोः संवर्गविद्योपास्यं दशत्वसंख्यायुक्ततया कृतायरूपं सद्-
शतु दिक्षु विद्यमानमन्नमेव भवति । 'दशाक्षरा विराट्' 'अन्नं विराट्'
इति श्रुतेः ।

सैषा विराड्ज्ञादी ।

दशत्वसंख्याभ्रयत्वादृशाक्षरा विराटिति विराट्छब्दो भवति । अन्न-
मतीत्यज्ञादी । कृतसंज्ञकेऽपि दशसंख्याया मक्षयदन्तर्भूतत्यादृशत्वसं-
ख्यायाश्च विरादत्याद्विराजश्चाश्रित्याद्य दशसंख्यागर्भकृतापस्थानीपसं-
वर्गविद्योपास्यस्याज्ञादित्यमप्यन्तीत्यर्थः ।

तथेदं सर्वं दृष्टम् ।

तथा विराजोपासिततया दशदिग्यतिपदार्थजातं दशत्वसंख्यासाक्षा-
दृष्टं भवत्युपासितं भवतीत्यर्थः ।

तदुपासनस्य फलमाह—

सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यज्ञादो भवति

य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

तृतीयः गण्डः ॥ ३ ॥

तदुपासकस्य सार्वज्ञ्यं ब्रह्मलक्षणान्नानुभवश्च भवतीत्यर्थः । विद्यास-
माप्तिद्योतकं द्विर्यचनम् । व्यासार्थेस्तु 'छन्दोभिधानात्' [ब० सू० १।१।
२५] इति सूत्रेऽन्नादिति पाठमाश्रित्याज्ञं च तदन्तीत्यन्नादिति भोक्तृत्व-
भोग्यत्वाश्रयपरमात्मपरतया व्याख्यातम् । अस्याः संवर्गविद्यायाः परमा-
त्मपरत्वमेव न प्रसिद्धवायुप्राणविषयत्वम् । 'यथा कृतायविजिताया-
धरेऽपाः संयन्ति' इत्यादिना संवर्गविद्यानिष्ठरैकप्रभावे सर्वेषामन्तर्भाव-
वर्णनात् । 'आत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यवद्भ्यो बभसोऽनसू-
र्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमतीति' इतरादिनाश्रयत्वे
सति सकलविनाशकत्वसर्वसंप्रतिपन्नमहामहिमशालित्वसर्वदेवनियन्तृत्व-
ब्रह्मादिसकलप्रजोत्पादकत्वहिरण्यवद्भूत्वाद्युपलक्षितनृसिंहविग्रहत्वादिप्र-
तिपादनात् । 'वै षयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे' इति कशब्दितप्रजाप-
त्यात्मकसंवर्गप्रत्याख्यानाच्च परमात्मविषयैवेयं विशेति द्रष्टव्यम् । एत-
त्तण्डान्तर्गतयाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते समन्वयाध्याये । जान-
श्रुतिं शूद्रेत्यामन्त्र्य रैको ब्रह्मविद्यामुपदिदेशेति संवर्गविद्यायाः श्रवणा-
दिदुरादीनां ब्रह्मनिष्ठानामपि दर्शनादग्निविद्यासाध्ययज्ञादिष्वग्निविद्या-
शून्यानां शूद्राणां कर्मकाण्डापशूद्राधिकरणन्यायेनाधिकाराभावेऽपि
ब्रह्मोपासनेऽधिकारः संभवत्येव । न च शूद्रस्य ब्रह्मोपासनोपयुक्तज्ञाना-
संभवः शङ्कनीयः । इतिहासपुराणादिना तज्ज्ञानसंभवात् । न चैवं
यज्ञादिष्वपि तथा प्रसङ्गः । अग्न्यभावात् । "तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनव-
कृतः" [ते० सं० ७।१।१।६] इति यज्ञानुष्ठानस्य निषिद्धतया च तस्य
तदसंभवेऽपि संवर्गविद्यागतशूद्रशब्दामन्त्रणलिङ्गानुग्रहाद्ब्रह्मोपासनाधि-
कारोऽङ्गीकर्तव्य एवेति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'शूद्रस्य तदनादरश्रवणा-
त्तदाश्रवणात्मूच्यते हि' [ब० सू० १।३।३४] शोचितृत्वप्रवृत्तिनिमित्तकेन
शूद्रशब्देन जानश्रुतेः 'कम्बर एनमेतत्सन्तः सयुग्वानमिव रैकमात्थ' इति
हंसोक्तानादरगर्भवाक्यश्रवणात्तदाश्रवणहेतुभूतादुत्पन्ना शुकसूच्यते । न
चतुर्थवर्णत्वं यौगिकार्थस्य प्रकृतस्य मानान्तराविरुद्धस्य ग्रहणसंभवे
मानान्तराविरुद्धस्य रुढ्यर्थस्याग्राह्यत्वाच्छूद्रस्य ब्रह्मोपासनोपधिकवे-
दुप्यलक्षणसामर्थ्यासंभवाच्च न ब्रह्मविद्यायामधिकारः । वैदिकविधी-
नामध्ययनविधिलब्धयेदजन्यज्ञानवन्निर्वाणिकाधिकारिणः । अनाद्यनिवृ-
त्तानां शूद्राधिकारानाक्षेपकत्वादिति न्यायस्य यज्ञोपासनयोरविशे-
षात् । 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकृतः' [ते० सं० ७।१।१।६] इत्यस्य

न्यायसिद्धैकदेशत्वानुवादित्वेन तस्य विनिगमकत्वासंभवात् । 'क्षत्रि-
यत्वगतेश्च' [ब० सू० १।३।३५] । एकान्नप्रदत्वक्षत्रप्रेषणैककन्याप्रदाना-
नेकग्रामदानादिना जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतेश्च । एतेषां क्षत्रियधर्म-
त्वस्यैव शास्त्रीयत्वात् । 'उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्' [ब० सू० १।३।
३५] । संवर्गविद्यासंबन्धिनोऽभिप्रतारिनाम्नश्चैत्ररथवंश्यस्य क्षत्रियस्य
तादृशेन ब्राह्मणेन शौनकेन कापेयेन साहचर्यदर्शनादिहापि संवर्गविद्या-
संबन्धिरैकेण ब्राह्मणेन सहचरितजानश्रुतिरपि क्षत्रिय एवेत्यवसीयते ।
नन्वभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वं कुत इति चेत्, चित्ररथवंश्यत्वात् । ननु
तदपि कुतोऽवगतमिति वाच्यम् । कापेययाज्यत्वालिङ्गात् । न च कापे-
ययाज्यत्वे चित्ररथवंश्यत्वं कुत इति वाच्यम् । ' एतेन वै चैत्ररथं
कापेया अपाजयन् ' [ताण्ड्यब्रा० २० । १२ । ५ ।] इति छन्दो-
गब्राह्मणे चित्ररथस्य कापेययाज्यत्वश्रवणात् । नन्वभिप्रतारिणः कापे-
ययाज्यत्वं वा कुतोऽवसीयते । ' शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च
काक्षसेनिं परिविष्यमाणां ब्राह्मचारी विमिक्षे ' [छा० ४ । ३ । ५ ।]
इत्येकपदस्युपवेशमात्रस्य श्रवणात् । नानादेशागतानां परस्परसंबन्धशू-
न्यानामप्येकपदस्युपवेशसंभवात् । अस्तु वा कथंविद्याज्ययाजकमायः ।
तायता छन्दोगब्राह्मणे चित्ररथस्य कापेययाज्यत्वश्रवणेन चित्ररथरथमेव
सिष्येन्न तु तद्वैश्यमिति चेदुच्यते । कापेयाभिप्रतारिणोः क्लृप्तसंबन्ध-
योरैकपदस्युपवेशस्योचितत्वात्कापेयानां चित्ररथवंश्यानां च याज्ययाज-
कमायसंबन्धस्यान्यत्र प्रसिद्धत्वाद्भिप्रतार्यपि कापेययाज्यचित्ररथवंश्य
इत्येवावसीयते । न च कापेययाज्यतया चित्ररथरथमेवास्त्विति शङ्क्यम् ।
अभिप्रतारिसंज्ञायकत्वे चित्ररथसंज्ञानिवेशासंभवान्नायं चित्ररथः, अपि
तु तद्वैश्यः समानान्ययानां याज्ययाजकमायस्य लोकयेदप्रसिद्धत्वात् ।
न च कापेययाज्यस्य चित्ररथस्य क्षत्रियत्वे किं प्रमाणमिति वाच्यम् ।
' एतेन वै चित्ररथं कापेया अपाजयन्तस्माश्चैत्ररथो नामैकः
क्षत्रपतिरजापत ' इति चित्ररथोत्पन्नस्य क्षत्रियत्वापेक्षनात् ।
ततश्चोक्तस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोः शौनकाभिप्रतारिणोः संवर्गविद्याम-
बन्धमवश्यादिहापि तद्विद्यासंबन्धिनो रैकजानश्रुत्योर्ब्राह्मणत्वं क्षत्रिय-
त्वमवसीयते । ' संस्कारागमर्शाज्जदमायामिष्टायाश्च ' [य० सू० १।३।
३६] । ब्राह्मणोपदेशवदेषु ' उप त्या नेष्ये न मत्याद्गा इति ' [छा० ४।४।५] 'तं होषनिष्ये' [जत० ब्रा० १।१।५।३।३] 'अधीहि

भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः ' [छा० ७।१।१] ' समित्पा-
णयो भगवन्तं पिप्पलादमुपपन्नाः ' [प्र० १।१।१] इति संस्कारः परा-
सृश्यते । शूद्रस्य संस्कारामावोऽभिलष्यते—

शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः [म० १०।४] ।

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति [म० १०।१२६] इति ।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः [ब्र० १।३।३७] । शूद्रत्वाभावनिर्धारणे
सत्येव विद्योपदेशाय प्रवृत्तिर्दृश्यते । ' नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं
सौम्याऽऽहरोप त्वा नेप्ये न सत्यादगाः ' [छा० ४।४।५] इति । ' अवणा-
ध्ययनार्थप्रतिषेधात् ' [ब्र० सू० १।३।३८] ' पृष्टु ह वा एतच्छूद्रमशानं यच्छूद्र-
स्तस्माच्छूद्रसर्माषे नाध्येतव्यम् ' [वा० धर्म० १८ । ११] इति ।
तस्माच्छूद्रस्य वेदश्रवणप्रतिषेधेन तदध्ययनतदर्थानुष्ठानयोः सुतरां
प्रतिषेधात् । ' स्मृतेश्च ' [ब्र० सू० १।३।३८] ' अथ हास्य
वेदमुपशृण्वतस्त्रपुञ्जनुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाछेदो धारणे
शरीरच्छेदः ' [गौ० ध० १२।५।६] इति स्मृत्या च अवणादिकं
शूद्रस्य प्रतिषिद्धम् । अतो न ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याधिकारः । विदुराव-
पस्तु मयान्तराधिगतज्ञानाप्रमोपाज्ज्ञानवन्तः । प्रारब्धकर्मवशाद्येदं श-
जन्मयोग इति तेषां ब्रह्मनिष्ठत्यम् । ननु शूद्राणां ब्रह्मोपासनानधिकारे
श्रीपञ्चरात्राद्यामोक्तताम्रिकमन्त्रानुसंधानपूर्वकब्रह्मोपासनेऽप्यधिका-
रो न स्यात् । नारदस्य शूद्रजन्मनि महर्षिषचनादनुष्ठितमच्युतोपासनम-
प्यमामाणिकं स्यादिति चेत् । न हि ब्रह्मोपासनमात्रे शूद्रस्यानधिकारं
भूमः । अपि तु संवर्गविद्यादिषु वैदिकेपूपासनेषु । अतो नात्र तद्वोप-
शङ्कावकाशः । ननु 'संवन्धादेवमन्यत्रावि' [ब्र० सू० ३।३।२०]
इत्यधिकरणे व्याहृतिविद्याया अध्यात्माधिदैवतस्थानभेदेन भेदस्य
प्रतिपादितत्वात्संवर्गविद्याया अप्यध्यात्माधिदैवतस्थानभेदेन भेदः स्यात् ।
न चेष्टापात्तिः । 'अनु म एतां भगवो देवताः शाधि यां देवतामुपास्ते'
[छा० ४।२।२] इति ब्रह्मविद्यामात्रार्थिने जानश्रुतपे विद्याद्वयो-
पदेशस्यायुक्तत्वादिति चेन्मैवम् । व्याहृतिविद्यायां 'य एष एतस्मिन्म-
ण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्' [बृ० ५।५।२] इत्यत्रेव धार्यो
प्राणे इत्येवं धायुप्राणयोः स्थानत्वेन निर्देशाभावात्स्थानभेदप्रयुक्तवि-
द्याभेदाप्रसक्तेः 'यां देवतामुपास्ते' इति रैकोपास्यदेवताया उपासन-
प्रकारे पृष्टे रैकोपास्यसंवर्गस्य देवतात्मलक्षणस्थानभेदेनोपासनाद्वयसं-
व-

न्धमभिप्रेत्योपासनाद्वयोपदेशे दोषाभावाच्च । न च 'विकल्पोऽविशिष्ट-
फलत्वात्' [ब्र० सू० ३ । ३ । ५९] इति न्यायेन रैकस्य विद्याद्व-
यानुष्ठानाभावात्स्वानुष्ठीयमानविद्यामात्रोपदेश एव युक्तो नाधिक इति
वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । परोपदेशे स्वावगतेरेव प्रयोजकत्वेन
स्वानुष्ठानस्याप्रयोजकत्वादिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

पौडशकलब्रह्मविद्यां प्रस्तौति—

सत्यकामो ह जाबालो जवालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ।

हेत्येतिह्यर्थः । जवालासुतः सत्यकामनामा जवालां मातरमामन्त्रि-
तवान् ।

ब्रह्मचर्यं भवति विपत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ १ ॥

हे भवति स्वाध्यायग्रहणायाऽऽचार्यकुले ब्रह्मचर्यं विपत्स्यामि मे
गोत्रं किमिति पृष्टवान् ॥ १ ॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्देव तात यद्वोत्रस्त्वमसि ब्रह्महं
चरन्ती परिचारिणी यावने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद
यद्वोत्रस्त्वमसि जवाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो
नाम त्वमसि सत्यकाम एव जाबालो ब्रूयीथा इति ॥ २ ॥

अहं भर्तृगृहेऽतिथ्यभ्यागतादिभ्यो बहु परिचर्यांजातं चरन्ती गुर्वादि-
परिहरणशीला च मती तद्यासद्वेन गोत्रानभिज्ञाय यौवनकाले त्वां
लप्स्यतीति, अतो गोत्रं न जाने । अतो जवालायाः पुत्रः सत्यकामना-
माऽहमस्मि नाहं गोत्रं येदंति गुरुसमीपे ब्रूहीत्युक्तवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

स ह शारिद्रुमतं गातममेत्योवाच ।

तः होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति ।

किंगोत्रस्त्वम् । ज्ञातकुलगोत्र उपनेतव्यः । अन्ततः शूद्रत्वाभावो हि निश्चेतव्य इत्यभिप्रायः ।

स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्रोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं
मातरः सा मा प्रत्यब्रवीद्वहं चरन्ती परिचारिणी
यौवने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद यद्रोत्रस्त्वमसि
जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति
सोऽहः सत्यकामो जबालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तः होवाच नेतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधः
सोम्याऽऽहरोप त्वा नेप्ये न सत्यादमा इति ।

एतादृशमार्जययुक्तं वचो नाब्राह्मणो विशेषेण वक्तुमर्हति । अथ
ब्राह्मणशब्दश्चैवर्णिकमात्रपरः । अत्रैवर्णिकः शूद्र इति यावत् । शूद्रो न
विवक्तुमर्हति शूद्राणां कुटिलस्वभावत्वादिति भावः । हे सोम्य, उपन-
यनसंस्कारार्थं समिधमाहर सत्यं नातिक्रान्तवानसि सत्यमेषोक्तया-
नसि । अतस्त्वामुपनेप्य इत्यर्थः । सूत्रितं च—‘तदभावनिर्धारणे च
प्रवृत्तेः’ [अ० सू० १ । ३ । ३७] इति शूद्रत्वाभाषनिश्चये सत्ये-
षोप त्वा नेप्य इत्थुपनयनप्रवृत्तेर्दर्शनादित्यर्थः । अतोऽब्राह्मणशब्दः
शूद्रपरः ।

तमुपनीय कृशानामबलानां चतुः-
शता गा निराकृत्योवाच ।

तमेवमाचार्य उपनीय कृशानामबलानां गवां मध्येऽतिदुर्बलानि
कृशानि गवां चत्वारि शतानि पृथक्कृत्येदं वक्ष्यमाणमुवाचेत्यर्थः ।

इमाः सोम्यानुसंव्रजेति ।

दमा गा अनुगच्छेति ।

ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणाऽऽवर्तयेति ।

स सत्यकामः सहस्रसंख्यापूरणात्वाद्न प्रतिनिवृत्तो भवानीति गा
अरण्यं प्रस्थापयन्नुवाचेत्यर्थः ।

स ह वर्षगणं प्रोवास । .

चिरकालं तुणोदकादिपूर्णं वने गाः प्रवेक्ष्योपितवान् ।

ता यदा सहस्रं संपेदुः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

यस्मिन्काळे ताः सहस्रं संपन्ना बभूवुस्तावन्तं वर्षगणं वन उपितवा-
नित्यर्थः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकामश्च इति ।

एनं गवां संरक्षणेन प्रीतदेवताविशेषाधिश्रितवर्मः सत्यकामश्च इत्या-
मन्वितवान् । सत्यकामश्च इति दूरादधूते चेति प्लुतः ।

भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सौम्य सह-

सः स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते शर्वं ब्रवाणीति ।

प्रतिशुश्राव प्रत्युत्तरं ददे । सत्यकाम इति शेषः । अयम आह
सहस्रसंख्यां ययं प्राप्ताः स्मः । तय प्रतिज्ञा च निर्व्यूढा । अस्मानाचार्य-
कुलं प्रापय । प्रीतश्च तेऽहं ब्रह्मणः शर्वं ब्रवाणीति ।

इतर आह—

वर्षीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला
प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलेष धे
सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रका-
शवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति ।

एकैकस्य हि गोः पादस्य चत्वारोऽवयवाः पुरतः सुरद्वयं पृष्ठतः
पार्श्वद्वयं चातः पादश्चतुष्कलो भवति । ततश्च प्रागादिदिवचतुष्टयं
ब्रह्मणः पादत्वेन प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवत्त्वामकत्वेन य उपास्ते
स इह प्रकाशवान्भवति ।

नैतावन्मात्रं फलमित्याह—

प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतु-
ष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

उक्तोऽर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अग्निष्टे पादं वक्तुं ।

एवं स्वयं पादमुक्त्वा पादान्तरमग्निरुपदेक्ष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीं बभू-
वेत्यर्थः ।

स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि
सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य
समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्मुपोपविवेश ॥ १ ॥

स ह सत्यकामोऽपरेद्युर्नित्यनैमित्तिकं कर्म कृत्वाऽऽचार्यकुलाभि-
मुख्येन गाः प्रस्थाप्य ताः सर्वां गावो यत्र देशे सायंकालेऽभिवभूवुः
परितः स्थिता भवन्ति तत्राग्निमाहृत्य गाश्चोपरुध्य संध्यामुपास्य समि-
धमाधाय ऋषभवचो ध्यायन्नग्नेः पश्चात्प्राङ्मुख उपविष्टवानित्यर्थः ॥१॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम३ इति
भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भग-
वानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं
कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतु-
ष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्त-
वानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह
लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाश्चतुष्कलं पादं
ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

हृत्सस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्र-
स्थापयाँचकार ता यत्राभि सायं यभूवुस्तत्राग्निमु-
पसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः
प्राहुषोपविवेश ॥ १ ॥

तश्च हृत्स उपनिषत्याभ्युवाद सत्यकामा३
इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे
भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला
चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः
पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाश्श्वतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाश्श्वतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

मद्गुप्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अग्निप्रस्थापयांचकार ता यत्राग्नि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङ्मुपोपविवेश ॥ १ ॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३

इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सौम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाश्श्वतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाश्श्वतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

प्राप हाऽऽचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्य-
कामं इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

ब्रह्मविदिव वै सौम्य भासि को नु त्वाऽनुशशासेति ।

को वा ते ब्रह्मोपदिष्टवानित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे ।

मनुष्या मां नानुशिष्टवन्तः । न हि भगवतः शिष्यं मां कश्चिन्मनु-
ष्योऽनुशासितुमुत्सहते, अपि नु देवा एवानुशिष्टवन्त इति प्रति-
ज्ञातवान् ।

भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

काम इच्छायां सत्यां मे भगवानेव वक्ष्यति । मम किमर्थमितर-
प्रार्थनमित्यर्थः ॥ २ ॥

किंच—

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्या-
दैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति ।

आचार्यादेवाधिगता विद्या साधिष्ठं साधुतमत्वं प्रापदिति प्राप्नोतीति
भगवद्दृशेभ्यो मे मया श्रुतम् । अतो नाहं भगवत्तोऽन्यस्मादनुशासनं
पाञ्छामीति भावः ।

तस्मै ह्येतदेवोवाच ।

एषमुक्त आचार्यस्तस्मै सत्यकामायेतदेव षोडशकलब्रह्मविज्ञानमेषो-
वाच । तदेवान्यूनानतिरिक्तमुवाचेत्यर्थः ।

तत्र हेनुमाह—

अथ ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि, चतुर्थप्रपाठकस्य

नवमः गण्डः ॥ ९ ॥

अत्र षोडशकलविद्यायां किञ्चिदपि न वीयाय वैविध्यं न प्राप्तम् ।
अतो हेतोर्विद्याप्रकारे भेदाभावादन्यूनानतिरिक्तं तदेवोवाचेत्यर्थः । द्विरु-
क्तिर्विद्यासमाप्त्यर्था ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

उपकोशलविद्यां वक्तुमाह—

उपकोशलो ह वै कामलायनः
सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवाच ।

कमलमुत उपकोशलनामाऽत्र पूर्वोक्ते जाबाले सत्यकामे विद्यार्थं
ब्रह्मचर्यमवासीत् ।

तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन्परिचचार ।

तदग्निशुभ्रपां द्वादशवर्षं कृतवान् ।

स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तय-

स्तः ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

स्थाध्यायार्थिन इतरान्ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायं ग्राहयित्वा समावर्त-
यन्तं ब्रह्मविद्याधिपं ज्ञात्वा चिरसेवामन्तरेण ब्रह्मविद्या नोपदेष्टुमेति
मत्वा तमेष न समावर्तयति स्म ॥ १ ॥

तं जायोवाच ततो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्पर्य-

चारीन्मा त्वाऽग्रयः परिप्रवोचन्ब्रूहास्मा इति ।

तपसा ततो ब्रह्मचारी सम्यगग्निशुभ्रपां कृतवान् । एतस्य विद्यानुप-
देशे तत्परिचरणप्रीता अग्रय एव गृह्णीं कुर्युः । अतो यथा त्वां मा परि-
प्रवोचन्नग्रयस्तथाऽस्मा उपकोशलाय विद्यामुपदिशेति तस्य मार्थो-
क्तव्यतीत्यर्थः ।

तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचके ॥ २ ॥

एवं जायोक्तोऽप्याचार्यस्तस्य विद्यामनुपदिश्यैव देशान्तरं प्रो-
पितः ॥ २ ॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे ।

स उपकोसलो मानसेन दुःसेन पीडितः सन्ननशनायावतस्थे ।
धृष्टवस्थान इति हि घातुः ।

तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारि-
न्नशान किं नु नाश्नासीति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

स होवाच ब्रह्म इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया
व्याधिभिः प्रतिपूर्णाऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

अस्मिन्जीवे ब्रह्मप्राप्त्यतिरिक्ताः काम्यमाना विषया नानाविधगर्भ-
जन्मजरामरणाविलक्षणफलजनका मनसि विपरिवर्तमानाः सन्ति ।
अतस्तद्विषयमयरूपव्याधिभिः पूर्णाऽस्मि, अतो न मुञ्च इति प्रत्युवा-
चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ हाग्रयः समुद्दिरे ।

एतद्वाक्यं श्रुत्वा परिचरणप्रीता गार्हपत्यादयोऽग्नयो दूयमानमानसाः
संभूयोक्तयन्तः ।

ततो ब्रह्मचारी कुशलं नः
पर्यचागीन्द्रन्तास्मै श्रवामेति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

तस्मै होतुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म
कं च नु खं च न विजानामीति ।

अभ्यासमभिप्रायः—न तावत्प्राणादिप्रतीकोपासनमग्निभिरभिधी-
यते, जन्मजरामरणादिभयमयमीतस्य मुमुक्षोर्मोक्षोपदेशाय प्रवृत्तत्वात् ।
अतो ब्रह्मैवोपास्यमुपविष्टम् । तत्र प्राणादिभिः गमानाधिकरणं ब्रह्म
निर्दिष्टम् । तत्र सकलजगत्प्राणवितृष्ययोगेन प्राणशब्दितस्य ब्रह्मण
उपपन्नताद्यत्प्राणो ब्रह्मैवपुनः तज्जानामि कं ब्रह्म खं ब्रह्मैवपुनः न न

विजाजामि । यद्यपि कंशब्दस्य सुखमर्थः खमित्यस्य चाऽऽकाशोऽर्थः । ततश्च वैपयिकसुखशरीरकमाकाशशरीरकं च ब्रह्मेत्यभिप्रायः, उत कमित्यनेन सुखमभिधीयते खमित्यनेनाऽऽकाशवाचिनाऽपरिच्छिन्नत्वमभिधीयते तयोरन्योन्यविशेषणविशेष्यभावेऽपरिच्छिन्नसुखं ब्रह्मेत्यप्यर्थो लभ्यते । ततश्चानयोर्मध्ये कस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति न जान हति ।

ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति ।

तदभिप्रायज्ञा अग्रयः कं खमित्यनयोर्विशेषणविशेष्यभावोऽभिप्रेत इति स्वाभिप्रायमुक्तवन्त इत्यर्थः । ननु यद्वाव कं तदेव खमित्यनेनैव विशेषणविशेष्यभावप्रतिपादनेनापरिच्छिन्नसुखं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्य लामाद्यदेव खं तदेव कमिति पुनरुक्तिर्व्यर्थेति चेन्न । दाढ्यार्थं वाऽपरिच्छिन्नसुखत्वेन सुखरूपापरिच्छिन्नत्वेन चोपासनासिद्ध्यर्थं वा परस्परविशेषणविशेष्यभावोपदेशसार्थक्यात् ।

प्राणं च हास्मे तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य दशमः

खण्डः ॥ १० ॥

अतो जगत्प्राणयितृत्वेन प्राणत्वविशिष्टं यद्ब्रह्म तदेवापरिच्छिन्नसुखरूपं चेत्पुनरुक्तवन्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

एवं ब्रह्मोपदिश्याग्निमिरेतद्विद्याङ्गभूताऽग्निविद्याऽप्युपदिष्टेत्याह—

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास ।

जगत्प्राणयितृपरिच्छिन्नसुखरूपं च ब्रह्मेत्युपदिश्यैवमुपदिष्टब्रह्मविद्यमेनमुपकोशलं गार्हपत्योऽग्निः स्वविद्यां वक्ष्यमाणामुपदिदेशेत्यर्थः । अथशब्दश्च प्रकृतविषयत्वद्योतनार्थः । अत्र चाथैनमिति शब्दाभ्यां वक्ष्यमाणाग्निविद्यायाः प्रकृतब्रह्मविद्याङ्गत्वमुच्यते ।

अनुशासनप्रकारमेवाऽऽह—

पृथिव्यग्निरन्नादित्य इति ।

मे गार्हपत्याग्नेरेताश्चतसस्तनव इत्यर्थः ।

य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽ-

हमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

पृथिव्यग्न्यन्नादित्यलक्षणानां चतुर्णां रूपाणां मध्येऽग्न्यादित्यरूपयोः पशुत्वप्रकाशकत्वरूपधर्मसंबन्धादैक्यम् । अग्नेरादित्येन यादृशमैक्यं न तादृशमैक्यं पृथिव्यन्नाभ्याम् । तस्मादादित्य एवाहमस्मीत्यग्निरुपाधेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्याम् ।

ब्रह्मप्राप्तिविरोधि पापकर्मापहन्ति ।

लोकी भवति ।

तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मप्राप्तिविरोधिपापनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तेश्च प्रधानभूतब्रह्मविद्याफलत्वमेव तथाऽप्यग्निकलेनाहं स्तूयत इति द्रष्टव्यम् । यद्वा पापशब्दो ब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकपापपरः । लोकशब्दो ब्रह्मलोकप्राप्तिमार्गभूताग्निर्लोकपरो द्रष्टव्यः ।

सर्वमायुरेति ।

ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्पावदायुरपेक्षितं तत्सर्वमेति ।

ज्योग्जीवति ।

व्याप्पादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्ममाप्नुज्ज्वलो जीवति ।

नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते ।

अस्य शिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि न क्षीयन्ते ब्रह्मविद् एष मयन्तीत्यर्थः । संतर्ता ब्रह्मविद्यानुष्ठिते, 'नाम्यावत्प्रविरुद्धे मयति' [मु० ३।२।११] इति भुत्सन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन भयनात् ।

उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिञ्श्च लोकेऽमु-
ष्मिञ्श्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्थैका-
दशः खण्डः ॥ ११ ॥

ए एवमुपास्ते तमस्मिँहोकेऽमुष्मिञ्श्च वयमग्नय उपमुञ्जामो यावद्ब्रह्म-
प्राप्तिविघ्नेभ्यः परिपालयामः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्थै-
कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ हेनमन्याहार्यपचनोऽनुशशास ।

अन्याहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ।

आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति
य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽह-
मस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः
क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिञ्श्च लोकेऽ-
मुष्मिञ्श्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

चन्द्रमसश्चाग्रेष्व प्रकाशकत्वसाम्यादिति भावः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशास प्राण आकाशो
यौर्वियुदिति य एष वियुति पुरुषो दृश्यते
सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः
क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽ-
मुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य त्रयो-
दशः खण्डः ॥ १३ ॥

विद्युत्पुरुषस्यापि प्रकाशकत्वादाहवनीयैक्यम् ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

ते होचुरूपकोसलेषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या चाऽऽत्मविद्या च ।

प्रत्येकमनुशासनानन्तरं मिलित्वा तेऽग्नयोऽब्रुवन् । अस्मद्विद्याऽग्नि-
विद्या, आत्मविद्या परमात्मविद्येत्यर्थः । चक्षुष्योऽङ्गान्निमूतविद्ययोरुप-
देशक्रियायां समुद्ययद्योतनार्थं न तु समप्राधान्यद्योतनार्थः । अग्नि-
विद्या चाऽऽत्मविद्या चोपदिष्टेत्यर्थः ।

आचार्यस्तु ते गतिं वक्षेति ।

एवं वदतामग्नीनामपमभिप्रायः—हे उपकोसल ब्रह्मविद्यामनुप-
दिश्य प्रोक्तुपि गुरो तदलामादनाभ्यासं त्वामुज्जीययितुं ब्रह्मस्वरूपमात्रं
तदङ्गभूतामग्निविद्यां चोपादिक्षाम । आचार्यदेव विदिताया विद्यायाः
साधिकावादाचार्य एव मण्ड्यामत्वादिगुणकं ब्रह्माक्षिरूपं च तदुपासन-
स्थानमङ्गरादिकां च गतिमुपदिशति । ततश्च गतिं वक्षेत्यस्यापदिष्टं
वक्षेत्त्यर्थं न तु गतिमात्रमिति द्रष्टव्यम् ।

आजगाम हास्याऽऽचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति ॥ १ ॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य
ते मुखं भाति को नु त्वाऽनुशशासेति
को नु माऽनुशिष्याद्भो इतीहापेव निहनुते ।

हेति रोदे । अपनिहनुत इवेत्यर्थः । नापनिहनुते न यथावदग्निभि-
रुक्तमित्यप्यब्रवीदित्यभिप्रायः । कंचित्कालमपहनुत्याथामीक्षिर्विश्वेभ्य
एव नूनमुपदिष्टवन्त इत्याह—

इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्युदे ।

इदानीमीदृशा ज्वलनाकारतया परिदृश्यमाना एत एवाग्नयः पूर्व-
मन्याकाराः सन्तो ममोपदिष्टवन्त इत्युक्तवानित्यर्थः ।

आचार्य आह—

किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति ॥ २ ॥

इतर आह—

इदमिति ह प्रतिजज्ञे ।

एतावदुपदिष्टमिति प्रतिज्ञातवान् ।

इतर आह—

लोकान्वाय किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद-
क्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त
एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ।

अग्नयः पृथिव्यादीर्लोकानेव कात्स्न्येन तवोक्तवन्तः, अङ्गमूताम-
ग्निविधां कात्स्न्येनोक्तवन्त इत्यर्थः । न तु ज्ञातव्यं ब्रह्म कात्स्न्येन ।
अहं तु ते एकाग्रजलाश्लेषतुल्यसर्वपापाश्लेषापादकविद्याविषयमूतं ब्रह्म
वक्ष्यामि यदि शुश्रूषस इत्यर्थः । पापाश्लेषो नाम पापहेतुमूतकर्माचर-
णेऽपि पापोत्पत्तिप्रतिबन्धकशक्तिमन्त्वम् । इदं च प्रामादिकपापविष-

यम् । पापशब्दश्च सुकृतदुष्कृतसाधारणः । एतच्च तत्र तत्रोक्तं तत्रैवानु-
संधेयम् ।

इतर आह—

ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आ-

त्मेति होवाचेतदमृतमभयमेतद्ब्रूतेति ।

योगिमिषोऽक्ष्यन्तर्बर्ती पुरुषो दृश्यते, अयमेवाऽऽत्मा नियन्तेत्यर्थः ।
अमृतत्वं निरतिशयमोग्यत्वम् । अभयत्वं दुःखासंमिश्रित्यम् । ब्रह्मत्वं
निरतिशयबृहत्त्वम् ।

तययप्यस्मिन्सर्पिर्वेदिकं वा सिञ्चति

वर्त्मनि एव गच्छति ॥ १ ॥

तस्मान्निर्लेपस्थानिप्रमावादास्मिन्नक्षणि यद्यपि सर्पिर्वेदिकं वा
कश्चिसिञ्चेत्, तत्पार्श्वद्वयमेव गच्छति न तत्र छिप्यते ॥ १ ॥

एत* संयद्दाम इत्याचक्षत एत* हि सर्वाणि वामा-

न्यग्निसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यग्निसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

संयन्ति संगतानि वामानि यननीयानि प्रार्थनीयानि यस्मिन्स संय-
द्दामः । सर्वकल्पाण्युणाभयत्वं सत्यसंकल्पात्वं वा संयद्दामत्वम् । तद्-
पासकस्यापि तत्क्रतुन्यायात्तद्भयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि

नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

वामनीत्यं व्याधितेषु शोभनप्रापकत्वम् । तत्क्रतुन्यायेन तद्गुणोपात्त-
कस्यापि तद्भयतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु
भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

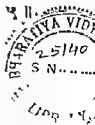
मामनीत्वं सर्वलोकव्याप्तदीप्तिमद्विग्रहयुक्तत्वम् । उपासकस्यापि तद्भवत्यपेक्षायामित्यर्थः । अत्र संप्रदायमत्वमामनीयत्वमामनीत्वेषु फल-
कथनं फलरूपतात्पर्यलिङ्गोपन्यासेन तेषु गुणेषु तात्पर्यप्रदर्शनार्थं न तु
सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चतीत्यत्रेवार्थवादमात्रतया स्तुतिरूपत्वमिति प्रदर्श-
नार्थम् । सर्पिर्वेति वाक्यस्य स्तुतिर्त्वं व्यासार्थैरुक्तम् ॥ ४ ॥

अथ यद् वैवास्मिञ्शव्यं कुर्वन्ति
यदि च नार्चिपमेवाभिसंभवन्ति ।

अथशब्दः प्रकृतविषयत्वद्योतनार्थः । अस्मिन्ब्रह्मविदि, सामान्या-
भिप्रायत्वादस्यैकवचनस्योत्तरज्वाभिसंभवन्तीति बहुवचनेन न विरोधः ।
यत्, यदि शव्यं शवदहनादिकर्म पुत्रादयः कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति
सर्वथाऽपि तेऽर्चिपमेवाभिसंभवन्ति । अचिराद्विशब्दाश्च 'आतिवाहि-
कास्तल्लिङ्गत्' [ब० सू० ४ । ३ । ४] इति न्यायेन तदभिमानिदेव-
त्तापरा इत्यन्यत्र स्थितम् । अत्र केचिदुपकोशलविद्याङ्गभूताग्निविद्यावै-
मवेन शवदहनादिवैगुण्येऽप्युपकोशलविद्यानिष्ठस्य न क्षतिः, विद्यान्त-
रनिष्ठस्य वृहतादिवैगुण्ये किञ्चिद्वैगुण्यमस्तीति वदन्ति तन्न । 'न लिप्यते
कर्मणा' [बृ० ४ । ४ । २३] इति श्रुतिसिद्धान्तार्थानुवादित्वादस्य वाक्य-
स्यैतादृशार्थप्रत्यायकत्वाभावात् । अतोऽथ यद् वैवास्मिन्नित्येतत्सर्वब्रह्म-
विज्ञाधारणमेव ।

अर्चिपोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्पहुद-
ङ्गेति मासाः स्तान्मासेभ्यः संवत्सरः संवत्सरादा-
दित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः
स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्य-
माना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते नाऽऽवर्तन्ते ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥



यान्पण्मासानुद्गुत्तरादिशायामादित्य एति तान्मासानित्यर्थः ।
 देवपथः, देवैर्नीयमानः पन्था देवपथः । ब्रह्मप्रापकः पन्था ब्रह्मपथः ।
 एतेन मार्गेण प्रतिपद्यमाना इमं चोरं मानवमावर्तं घटीयन्त्रवज्जननमरण-
 प्रापकं मनुष्यादिशरीरोपलक्षितं संसारं पुनर्न प्रतिपद्यन्ते । द्विरुक्तिर्वि-
 द्यासमाप्त्यर्था । अत्र च यत्किञ्चिद्वक्तव्यमुत्तरत्र वक्ष्यते । अत्र पञ्चा-
 ग्निविद्यायामुपकोशलविद्यायां चार्चिरादिगतेः पाठाद्यस्यां विद्यायाम-
 चिरादिगतिः श्रूयते तन्निष्ठानामेवार्चिरादिगत्या ब्रह्मप्राप्तिर्नान्येषाम् ।
 न च 'तद्य इत्यं विदुर्यं चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' [छा० ५ ।
 १० । १] 'श्रद्धां सत्यमुपासते' [बृ० ६ । २ । १५] इति सर्वब्रह्म-
 विद्यासाधारण्यं श्रुतमिति वाच्यम् । तथा सत्युपकोशलविद्यायामर्चिरा-
 दिगतिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'अतिपमः सर्वेषा-
 मविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्' [ब्र० सू० ३ । ३ । ३१] सर्वेषां
 सर्वोपासननिष्ठानामर्चिरादिमार्गेणैव गन्तव्यत्वादेतद्विद्यानिष्ठानामेवेति
 नियमो नास्ति । तथा सति 'यि चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' 'श्रद्धां
 सत्यमुपासते'

बन्धः प्रतिपाद्यस्तत्रेतिशब्दो नार्थविवक्षां वारयति यथा इति ह स्मोपाध्यायः कथयतीति । तस्मादिहामृतत्वादीनामाचार्यवचनसंबन्धस्य प्रतिपाद्यत्वादितिशब्दो मनो ब्रह्मेतीत्यादाविव नाविवक्षाकारकः । ततश्च स्वामाविकामृतत्वादीनां जीवेऽसंभवात् । तथा प्रतिषिम्बे 'रश्मि-मिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' [बृ० ५।५।२] इति चक्षुष्प्रतिष्ठितत्वेन श्रुति-प्रसिद्धादित्यरूपदेवताविशेषे चासंभवात्परमात्मीवाक्ष्यन्तर्वर्ती । यदुक्तं निराधारस्य परमात्मनश्चक्षुरुपस्थितिर्न संभवतीति तत्राऽऽह—'स्थाना-दिव्यपदेशाच्च' [ब्र० सू० १।२।१४] । 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' [बृ० ३।७।३] इत्यादायन्तर्यामिग्राह्यणे चक्षुषि स्थितिनियमनादेः परमात्मधर्मतया भवणाद्योगिदृश्यतया दृश्यत इत्यस्योपपत्तेश्चाक्ष्यन्तर्वर्तिनः परमा-त्मत्वे नानुपपत्तिः । 'मुखविशिष्टाभिधानादेव च' [ब्र० सू० १।२।१५] कं ब्रह्मेत्यपरिच्छिन्नत्वविशिष्टमुखरूपस्याग्निभिरुपदिष्टस्य ब्रह्मण एव 'एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति वाक्ये प्रकृतपरामर्शना य एष इति सर्व-नाम्नाऽभिधीयमानत्वाच्च । न च तद्ब्रह्माग्निविद्यया व्यवहितमिति वाच्यम् । अग्निविद्याया अपि ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन न हि स्वाङ्गमिति न्यायेनाव्यव-धायकत्वात् । तदङ्गत्वं च तत्प्रकरणमध्यपातात् । 'अथ हैनं गार्हपत्योऽ-नुशशास' इति ब्रह्मविद्याधिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेश इति प्रतिपादना-द्ब्रह्मविद्योपयुक्तफलव्यतिरिक्तफलान्तराभवणाच्च । ननु कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति वाक्येनापरिच्छिन्नमुखरूपं ब्रह्मेति नोपदिश्यते, अपि तु प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति त्रिभिर्वाक्यैर्मुख्यप्राणो लौकिकमुखे आकाशे च ब्रह्मदृष्टिर्विधीयते तत्राऽऽह—अत एव य स ब्रह्म, अत एवापरिच्छिन्नमुखस्य ब्रह्मत्वाभिधानादेवापरिच्छिन्नमुखरूपं ब्रह्मे-वात्र प्रतिपाद्यते नात्रह्यणि ब्रह्मदृष्टिः । अब्रह्मभूतेषु मुख्यप्राण-लौकिकमुखाकाशेषु ब्रह्मदृष्टिविधिरूपत्वे तत्रानुपपत्तेरेवामायेन 'विजा-नाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि' इति प्रश्नस्य 'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' इति प्रचनस्य चासंगतत्वापत्तेः । तदसंगतिप्रकारश्च प्रागेव वर्णितः । इतश्च परं ब्रह्म 'श्रुतोपनिषत्कगत्वभिधानाच्च' [ब्र० सू० १।२।१६] । श्रुतोपनिषत्क-स्याधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसंधेयतया श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यमानाऽवि-रादिका गतिर्या तामपुनरावृत्तिलक्षणपरमपुरुषप्राप्तिकरीमुपकोशलाया-क्षिपुरुषं श्रुतवन्ते 'अथ यद्देवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति' इत्यादिनाऽऽचार्य उपदिशति, अतोऽप्ययमक्षिपुरुषः परमात्मा । 'अनवस्थितेरसंभवाच्च

नेतरः' [ब्र० सू० १।२।१७] । प्रतिविम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्था-
नादमृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वसंभवान्न परमात्मेतरम्भा-
यादिरक्षिपुरुषो भवितुमर्हतीति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

रहस्यप्रकरणे प्रसङ्गादारण्यकत्वसाम्याच्च यज्ञे क्षत उत्पन्ने व्याहृ-
तयः प्रायश्चित्तार्थहोममन्त्रतया विधातव्यास्तद्विमिश्रस्यैव ब्रह्मत्वलक्ष-
णमात्विज्यं तस्य च ब्रह्मणो मौनभावश्चकमित्येवमादिविध्यर्थमिव
मारभ्यते—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते ।

योऽयं पवते वायुः स एव यज्ञ इत्यर्थः ।

कथं वायोर्यज्ञत्वमित्यत्राऽऽह—

एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति ।

वायुर्हि गच्छन्सर्वं पुनाति । वर्षवातातपेर्बस्तुशुद्धिः स्मृतिप्रसिद्धा
यन्पुनातीति पदद्वयगतयोर्पकारनकारयोर्ब्रह्मण्ये प्रत्यभिज्ञानाजकारस्य
नकारविकारत्वाद्यज्ञशब्दस्य यन्पुनातीति निर्वचनमिति भावः ।

उक्तमेवोपसंहरति—

यदेष ह यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः ।

एवं यज्ञस्य वायोश्चामेदोषपावनेन यज्ञस्य गन्तृत्वं संपाद्य गन्तु-
र्ब्रह्मस्य मार्गमाह—

तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥

प्रवृत्तिसाधनमूतो वाद्यनसयोर्मार्ग इति भावत् ॥ १ ॥

तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा

वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराम् ।

यज्ञस्य मनोऽलक्षणमार्गं मनसा ब्रह्मा संस्करोति । होत्राद्याखयोऽपि
वाचिय सम्पन्नपुक्तया वाचं संस्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परि-
धानीयाया ब्रह्मा व्यवदति ॥ २ ॥

अवदतीत्यत्र क्षेपार्थो 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' इति नलोपः ।
यत्र यज्ञे प्रातरनुवाकशस्त्र उपाकृत आरब्धे सति परिधानीयाया
ऋचः प्राग्वद्ब्रह्मा व्यवदति । विशब्दो विविधार्थो नञश्च निन्दितत्व-
मर्थः । विविधं निन्दितं च वदति मौनं त्यजति चेदित्यर्थः ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनीं सः स्कुर्वन्ति हीयतेऽन्यतरा ।

तदा मनःप्रणिधानस्य नाशेन मनोलक्षणयज्ञवर्तनीसंस्कारस्य ब्रह्म-
मनसोऽमावादेऽपि वर्तनी नश्यति होत्रादिवाक्संस्कारा वागूपा यज्ञ-
वर्तनी परमास्त इत्यर्थः ।

तर्हि को दोष इत्यत्राऽऽह—

स यथैकपाद्ब्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिप्य-
त्येवमस्य यज्ञो रिप्यति यज्ञः रिप्यन्तं यजमा-
नोऽनुरिप्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३ ॥

गच्छन्नेकपात्पुरुषो वैकेन चक्रेण प्रवर्तमानो रथो वा यथा नश्यत्ये-
वमस्य यजमानस्य यज्ञो नश्यति विगुणो भवतीति यावत् । तस्मिन्ने-
व यजमानोऽपि नष्टफलः पापी च भवतीत्यर्थः ।

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परि-
धानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युक्ते एव वर्तनी
सः स्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥ स
यथोभयपाद्ब्रजन् रथो बोध्याभ्यां चक्राभ्यां
वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतिति-
ष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतिति-
ष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

वर्तन्याविति वक्तव्ये सुपां सुलुगिति च्छान्दसो लुक् ॥ ४ ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

यज्ञभंशे व्याहृतिर्होमः प्रायश्चित्तमिति वक्तुं प्रस्तौति—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् ।

लोकसारजिघृक्षया लोकानुद्दिश्यातपत् । तप आलोचने । आलो-
चनरूपं ज्ञानं कृतवानित्यर्थः ।

तेषां तप्यमानानां रसान्प्रावृहत् ।

उद्धृतयाज्ञप्राहेत्यर्थः ।

अग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

लोकानालोच्य त्रिलोक्या अग्निवाय्वादित्याः सारमूता इति निमि-
त्तावेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां

तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो

वायोर्यजूश्च सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

स एतां वर्षां विस्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्य-

मानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यूग्भ्यो भुव-

रिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

तपयुक्तो रिप्येद्भूः स्यादेति गार्हपत्ये जुहुयात् ।

तत्तस्माद्वेतोर्ऋचो निमित्ताद्यदि यज्ञो रिप्येत्क्षतं प्राप्नुयादित्यर्थः । तर्हि
तत्राप्यधित्तायं मूः स्यादेति मन्त्रेण गार्हपत्येऽग्नी जुहुयादित्यर्थः ।

ऋचामेव तदग्नेनचां वीर्यणचां

यज्ञस्य विगिष्टः संदधाति ॥ ४ ॥

यदृषामृकं यन्वि तद्विरिष्टम् । तद्यज्ञस्य क्षतमृचां वीर्यणीनमा
ग्नेन मूरितिष्यादित्या गमाधत्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ
जुहुयाद्यजुषामेव तद्भसेन यजुषां वीर्येण यजुषां
यज्ञस्य विरिष्टः संदधाति ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहव-
नीये जुहुयात्सामामेव तद्भसेन सामां वीर्येण
सामां यज्ञस्य विरिष्टः संदधाति ॥ ६ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णः संवध्यात् ।

सुवर्णस्य संधानं नाम कठिनस्य मुहुतापादनम् । क्षारद्वयसंपर्कपूर्व-
कतापेन हि सुवर्णस्य परस्परसंधानयोग्यमुहुता भवतीत्यर्थः । शिष्टं
स्पष्टम् ।

सुवर्णेन रजतः रजतेन त्रुषु अपुणा सीसः
सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या
विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टः संवध्याति ।

व्याहृतीनां पृथिव्यादिलोकसारभूताग्न्यादिवेवतासारमूतप्रपीसार-
त्वात्तद्दीर्घत्वाच्चैषामुक्तानां वीर्येणैव सुवर्णादिसंधानवदेव यज्ञकृतं समा-
हितं भवतीत्यर्थः ।

भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

यस्मिन् यज्ञ एवंविद्ब्रह्मनामत्विग्भवति स यज्ञः कृतभेषजः कृतौषधः
समीचीनेन चिकित्सकेन यथा रोगार्तः पुरुषः कृतभेषजो भवति तथे-
त्यर्थः ॥ ८ ॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ।

उदक्प्रवण उत्तरमार्गप्रतिपत्तिहेतुरित्यर्थः ।

एवंविदः ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा ।

एवंविधं ब्रह्मनामकमुत्विजमनुगतैषा वक्ष्यमाणा गाथा भवतीत्यर्थः ।

यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥ मानवः ।

यतो यतो यत्र यत्र यज्ञस्य क्षतमावर्तते, आ समन्ताद्याप्य वर्तते,
आ ईषद्वा वर्तते तत्सर्वं मननशीलो ब्रह्मा गच्छति समाधत्त इत्यर्थः ।

ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरुन्श्वाऽभिरक्षति ।

अश्वा ब्रह्मवाऽऽरूढान्बोधान्यथा रक्षत्येवमेक एव ब्रह्मर्त्विक्कुरुन्कर्तृ-
त्विजो रक्षति ॥ ९ ॥

एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानश्च सर्वांश्च-
त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं
कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकस्य
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थप्रपाठकः
समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ ब्रह्मणो वेदनेन यजमानादीनामृत्विजां च रक्षणप्रतिपादनेनो-
प्राप्तमृतीनां वेदनानियमः सूच्यत इति 'अङ्गेषु यथाभयमायः' [ब्र०
सू० ३।३।६१] इत्यधिकरणे 'दर्शनाच्च [ब्र० सू० ३।३।६६]
इति सूत्रितम् ॥ १० ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकस्य
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां चतुर्थप्रपाठकः
समाप्तः ॥ ४ ॥

प्राणविद्या प्रस्तूयते—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद
ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति ।

ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वगुणकं प्राणं यो वेद स तत्कृत्युन्यायेन स्वयमपि ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवतीत्यर्थः । ज्येष्ठत्वं च वृद्धतमत्वं 'वृद्धस्य च' इति वृद्धशब्दस्य ज्येष्ठशब्दविधानात् । श्रेष्ठत्वं प्रशस्ततमत्वं 'प्रशस्यस्य श्रेष्ठः' इति प्रशस्यशब्दस्य श्रेष्ठशब्दविधानात् ।

एवं फलप्रदर्शनेन पुरुषमभिमुखीकृत्याऽऽह—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

वावशब्दोऽवधारणार्थः । गर्भस्थपुरुषे प्राणव्यापारप्रवृत्त्यनन्तरमाधित्वादिन्द्रियप्रवृत्तेः प्राणस्येन्द्रियापेक्षया ज्येष्ठचमिन्द्रियव्यापाराणां सर्वथैतदधीनत्वाच्छ्रेष्ठत्वं च ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति ।

स्वानां ज्ञातीनां मध्ये वसिष्ठो भवतीत्यर्थः ।

को वसिष्ठ इत्यत्राऽऽह—

वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

अतिशयेन वसुमान्वसिष्ठः । वाग्मी हि लोकेऽतिशयेन वसुमान्भवति । अतश्च वसुमत्तासंपादकसद्यश्चहारजनकत्वं वाचो वसिष्ठत्वमिति भावः ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह
तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च ।

हशब्दः प्रसिद्धौ । अत्र चासुत्रं च प्रतितिष्ठतीत्यर्थः ।

का तर्हि प्रतिष्ठेत्यत्राऽऽह—

चक्षुर्वाच प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

'चक्षुषा हि समे दुर्गे च प्रतितिष्ठति' [वृ० ६ । १ । ३] इति वृहदारण्यके समानप्रकरणे श्रवणात्प्रतिष्ठासंपादकसमवियमभूतलप्रदर्शकत्वमेव चक्षुषः प्रतिष्ठात्वम् ॥ ३ ॥

यो ह वै संपदं वेद सः हास्मै
कामाः पयन्ते देवाश्च मानुषाश्च ।

अस्मा उपासकाय कामाः संपद्यन्त इत्यर्थः ।

का तर्हि संपवित्यत्राऽऽह—

श्रोत्रं वाच संपत् ॥ ४ ॥

‘श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः’ [वृ० ६।१।४] इति
वृद्धदारण्यके समानप्रकरणे श्रवणात्संपन्नेतुभूतयेदशास्त्रतदर्थश्रवणादिसं-
पादकत्वमेव श्रोत्रस्य संपत्त्वम् ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनः ह स्वानां
भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

छक्चन्दनादिविषयज्ञानरूपभोगायतनत्वमेव मनस आयतनत्वम् ॥ ५ ॥
मुदयप्राणस्य श्रेष्ठसंपादनायाऽऽसपायिकामाह—

अथ ह प्राणा अहःश्रेयसि व्यूदिरेऽहः
श्रेयानस्म्यहः श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

अथशब्द आत्म्यायिकोपक्रमार्थः । अहंश्रेयसि स्वश्रेयसि निमित्ते
विषये वा व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति विषादं चकु-
रित्यर्थः ॥ ६ ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमे-
त्योचुर्मगयन्को नः श्रेष्ठ इति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतर-
मिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

पुष्पाकं मध्ये यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरमतिशयेन पापिष्ठमतिहेयमिव
दृश्येत स वः श्रेष्ठ इत्युपाधेत्यर्थः ॥ ७ ॥

मा ह यागुवकाम ।

मा प्रमिष्टा यावन्पश्चेद्व्यापरीक्षणाप शरीरादुत्क्रान्तयतीत्यर्थः ।

सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ।

सा वागेकं संवत्सरं प्रवासं कृत्वा पुनरागत्य ब्रूते मां विना जीवितुं
कथं शक्ता इत्युक्तवती ।

यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा
शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति ।

यथा कला मूका घाग्निन्द्रियव्यापाररहिता अपीतरेः प्राणैस्तत्कार्यं
कुर्यन्तो जीवन्त्येवं ययमप्यजीविष्येति प्रत्यूह्युः ।

प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा वाक्स्वश्रेष्ठं नास्तीति निश्चित्य देहं प्रविष्टवती ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम ।

चक्षुस्तत्कालम् । एवमुत्तरत्रापि ।

तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जी-
वितुमिति यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन
वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो
मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच
कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः
प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा
ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथम-
शकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः
प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्व-
न्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

अमनसोऽप्रीटमनसः ॥ ११ ॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पङ्-
वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत् ।

स मुख्यः प्राण उच्चिक्रमिषन्नुत्क्रमितुमिच्छन्पथा शोमनोऽश्वः परी-
क्षार्थमश्वारूढेन ताडितः पङ्क्रीशशङ्कून्पादबन्धनकीलकान्संखिदेद्-
त्पाटयेदेवमितरान्प्राणान्सर्वस्वस्थानेभ्य उत्पादितवान् ।

तः हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः
श्रेष्ठोऽसि मोत्कमरीरिति ॥ १२ ॥

हे भगवन्पूजाहं त्वमेधि स्वामीति शेषः । अस्तेर्लोडि मध्यमपुरुषे-
कवचनं भवेत्यर्थः । अस्माकं मध्ये त्वमेव श्रेष्ठोऽसि त्वमुत्कमणं मा कार्षी-
रितीतरे प्राणास्तमागत्योचुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

अधेतरे प्राणा विशः करानिध राज्ञो मुख्यप्राणाय स्वस्वगुणानर्पि-
तवन्त इत्याह—

अथ हेनं वागुवाच यदहं वसि-
ष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ।

यस्यैवं वाग्मिनो वसुमत्तासंपादकत्वलक्षणेन गुणेनाहं वसिष्ठोऽस्मि
त्वं तेन गुणेन वसिष्ठोऽसीत्यर्थः । मदीयगुणस्य त्वदधीनत्वात्तदीय एव
स गुण इति भावः । उक्तं च व्यासार्थैः—अहं यत्स्वकार्यकरणसम-
र्थोऽस्मि तस्य त्वदधीनत्वात्तदीय तत्कार्यसामर्थ्यमित्यर्थ इति । एवमुत्तर-
मापि ब्रूष्यम् ।

अथ हेनं चक्षुरुवाच यदहं प्रति-
ष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥ १३ ॥

अथ हेनः श्रोत्रमुवाच यदहं संपदस्मि त्वं
तत्संपदसीत्यथ हेनं मन उवाच यदहमाय-
तनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

न ५ वाचो न चक्षुषि न श्रोत्राणि न

मनाःसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाऽऽचक्षते
प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

लौकिका वाऽऽगमज्ञा वा वागादीनीन्द्रियाणि सर्वाणि वागादि-
शब्दैर्न व्यवहरन्त्यपि तु प्राणशब्देनैव व्यवहरन्ति तत्कस्य हेतोः प्राणा-
धीनसत्ताकत्वादितरेषाम् ।

यदधीना यस्य सत्ता तत्तद्विधेयं भण्यते । इत्युक्तेः ।

प्राणाधीनसत्ताकत्वादितरेषामिन्द्रियाणां सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणादेव
भवन्तीत्यर्थः । एतत्खण्डान्तर्गतवाग्बिषयकमधिकरणमुपन्यस्यते । गुणो-
पसंहारपादे छान्दोग्यवाजसनेयकयोः कौपीतकिनामुपनिषदि च दशमेऽ-
ध्याये—‘ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च येदं ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च स्वानां
भवति ’ इत्यारभ्य प्राणविद्या पठ्यते । तत्र सर्वत्र प्राणस्य ज्येष्ठचश्रेष्ठगुणक-
त्वम्, वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसां यत्तुमत्तासंपादकत्वसमविषमभूतलादिप्रवर्श-
कत्वसंपन्नेतुभूतवेदशास्त्रातर्क्यश्रयणादिसंघावकत्वस्रक्चक्षुःश्रोत्रादिबिषयज्ञा-
नरूपभोगायतनत्वलक्षणवसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्त्वायतनत्वरूपगुणवत्त्वम्,
वागादीनां च श्रेष्ठचक्षुषपरस्परविवादेन ब्रह्मसंभोषसर्पणम्, यस्मिन्व
उत्क्रान्ते शरीरानवस्थितिः स चः श्रेष्ठ इति ब्रह्मवचनम्, तत्परीक्षि-
क्षिपया वागादीनामेकैकस्य शरीरादुत्क्रम्य पर्यटनम्, तस्मिन्शरीरस्ये-
न्द्रियाणां च यथापूर्वमवस्थानम्, प्राणस्योत्क्रमणप्रवृत्तौ तेषां विशर-
णम् । ततो भीतानां वागादीनां मोत्कामीस्त्वं नः श्रेष्ठ इति मुख्यप्राणं
प्रति प्रार्थनमित्येतत्सर्वं क्रमेण वर्णितम् । कौपीतकिशास्त्रायां तु छान्दो-
ग्यवाजसनेयकवत्, यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यनेन प्रकारेण
प्राणे वागादिगतयसिष्ठत्वादिसमर्पणं नोक्तम् । अतो वागादिगतयसिष्ठ-
त्वादेः प्राणाधीनत्वाप्रतीत्या वागादीनां स्वातन्त्र्यप्रतीतिश्छान्दोग्यवाज-
सनेयकस्मात्प्राणविद्यातः कौपीतक्यान्नात्प्राणविद्यायां भेदप्रतिमोद्गमः ।
तथा तस्यामेवोपनिषदि चतुर्थेऽध्याये ‘ अथातो निःश्रेयसादानं सर्वा ह
वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुस्तद्वाकभूतं
शिष्येऽथैनद्वाक्प्रविवेश तद्वाचा वदच्छिष्य एव ’ ‘अथैनच्चक्षुः प्रविवेश

तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एवाथैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एवाथैनन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एवाथैनत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ ते देवाः प्राणे निश्चेयसं विदित्वा प्राणमेष प्रज्ञात्मानमभिसंभूय ' [कौ० २।९] प्राणराहित्यदशायामपि वागादीनां स्वकार्यकरत्वप्रदर्शनेन च्छान्दोग्यैक्याप्रतीतेरिति पूर्वपक्षं कृत्वा बहुसारूप्यप्रतीतौ किञ्चिद्वैरूप्यस्य प्रत्यभिज्ञाविरोधित्वाभावाद्द्विधैक्यमिति 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे ' [ब्र० सू० ३।३।१०] इति सूत्रेण सिद्धान्तितम् । सर्वाभेदात्मतिज्ञातप्राणज्यैष्ठ्यभेदयोपपादनप्रकारस्य तिसृष्वपि शारास्वभेदाच्छास्त्रान्तरविद्यायां शास्त्रान्तरविद्यागतगुणोपसंहारः कर्तव्य इति सूत्रार्थः । प्रकृतमनुसरामः ॥ १५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति ।

वागादीन्प्रति किं मेऽन्नं भविष्यतीति मुरयप्राणः पप्रच्छेत्यर्थः ।

यत्किञ्चिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुः ।

श्वशकुनिपर्यन्तसर्वप्राणिनां यदन्नजातं तत्तवान्नजातमिति वागादयः प्रत्युचुः ।

श्रुतिः स्वेन रूपेणाऽऽह—

तद्वा एतदनत्यान्नम् ।

यत्किञ्चिद्लोके प्राणिमिरक्षते तदेतदन्नम्य प्राणम्यान्नं प्राणेनेव तदद्यत इत्यर्थः ।

अनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् ।

जडनादिपिथिधचेष्टायुक्तत्वात्प्राणम्यान इति प्रत्यक्षं नाम । देवानां परोक्षप्रियत्वात्प्रत्यक्षमन इति नाम परित्यज्य प्राण इति परोक्षेण नासाप्यपहारः । ततश्चादनचेष्टाया अपि तदीयत्वात्सर्वप्राणिजातेनाद्यमानमन्नं गद्यं तेनेवाद्यत इति प्राणम्य गद्यमन्नमित्यर्थः । यद्वा, अन इत्यस्य

नकारान्तरयुक्तस्यान्नत्वेनान्नस्यानसंबन्धित्वादन इत्यस्य प्राणनामत्वस्य प्रत्यक्षत्वादन्नं तत्संबन्धीत्यर्थः । अत्र प्राणविद्यानिष्ठेन सर्वप्राण्यन्नादनस्य कर्तुमशक्यत्वान्नास्य वाक्यस्य सर्वप्राण्यन्नादनकर्तव्यत्वमर्थः, अपि तु सर्वप्राणिजातान्ने प्राणान्नत्वचिन्तनं कर्तव्यमित्यर्थः ।

सर्वप्राणिजातान्ने प्राणान्नत्वचिन्तनं स्तौति—

न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

प्राणविद्यानिष्ठस्यामक्षयमक्षणदोषो नास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः ।

किं मे वदन् भविष्यतीति मुख्यप्राणेन पृष्टा इतरे प्राणा आपस्ते वदन् भविष्यन्तीत्युचुः । आपो वासत्वेन चिन्तनीया इति होचुरित्यर्थः ।

तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाङ्गिः परि-

दधति लम्मुको ह वासो भवत्यनमो ह भवति ॥ २ ॥

तस्मादपां वासस्त्वदेवेतस्मिन्नपि काले भोक्ष्यमाणा भोजनात्प्राक्पश्चाच्चाऽऽचमनीयाभिरङ्घ्रिर्वासोभिः परिहितमनग्नं प्राणं कुर्वन्ति आचमनीयास्वप्नु वासस्त्वचिन्तनेन वासोभूताभिरङ्गिः प्राणस्य परिहितत्वादिति भावः । अणु वासस्त्वचिन्तनेन प्राणस्यानग्नत्वचिन्तनेन च स्वयमपि वासो लम्मुको भवति वासो लब्धा भवति । एवमनग्नश्च भवति तत्कृतुम्यायेनेति भावः ।

तद्धेतस्तत्प्रकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपथायोक्त्वोवाच ।

व्याघ्रपथुन्नाय नाम्ना गोश्रुतये जबालापुत्रः सत्यकामनामेवं प्राणदर्शनमुक्त्वाऽन्यदप्युवाच ।

किं तदित्यत्राऽऽह—

यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जाघेरन्नेवा-

स्मिञ्छास्ताः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

एतत्प्राणदर्शनं शुष्काय वृक्षायापि यदि ब्रूयादस्य शाखा अभ्युत्पद्येरन्पत्राणि च प्ररोहेयुः ॥ ३ ॥

मन्थारयं कर्माऽऽरम्यते—

अथ यदि महज्जिगमिपेत् ।

महत्त्वं ज्येष्ठ्यश्रेष्ठ्यादिलक्षणं यदि प्राप्तुमिच्छेदित्यर्थः ।

अमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याञ्च रात्रौ सर्वौ-
पधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमस्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय
स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ४ ॥

उक्तकाले सर्वौपधस्य ग्राम्यारण्यौषधीनां मन्थं पिष्टमौदुम्बरे कंठा-
कारे चमसाकारे वा पात्रे दधिमधुनोः प्रक्षिप्योपमद्यग्नतः स्थापयित्वा
ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्रावाज्येन हुत्वा मन्थे हुतशेषं नितयेदि-
त्यर्थः ॥ ४ ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातम-
वनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे
संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे
संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा
मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृज्याञ्जली मन्थमाधाय जपति ।

प्रतिसृज्याभिगम्य प्रदक्षिणं कृत्वेति याऽर्थः । अञ्जली मन्थं निधाय
यक्ष्यमाणं मन्त्रं जपेदित्यर्थः ।

मन्त्रमेवाऽऽह—

अमोनामाऽसि ।

अम इति नाम यस्य सोऽमोनामाऽसीत्यर्थः ।

ननु अम इति प्राणस्य नाम । कथमप्राणस्य मन्थस्यामोनामत्वमि-
त्यत्राऽऽह—

अमा हि ।

त्वं प्राणोऽसीत्यर्थः ।

मन्यस्य प्राणत्वमुपपादयति—

ते सर्वमिदम् ।

इदं जगत्सर्वं ते तदधीनं मन्यलक्षणाग्राधीनत्वाज्जगत इति भावः ।

स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः स
मा ज्यैष्ठ्यचः श्रेष्ठ्यचः राज्यमाधिपत्यं
गमयत्वहमेवेदः सर्वमसातीति ॥ ६ ॥

स हि मन्थभूतः प्राण इत्यर्थः । शिष्टं राजा दीप्तिमानधिपतिः शेषी-
त्यर्थः । मा मां गमयतु । इदं सर्वमहमेवासानि सर्वानियन्तृतया भवानी-
त्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

अथ स्वत्वेतयर्चा पच्छ आचामति ।

वक्ष्यमाणयर्चा पच्छः पादशो मन्थं मक्षयतीत्यर्थः । 'तत्सवितुर्वृ-
णीमहे वयं देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठः सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि'
अस्याध्वर्चोऽयमर्थः—वयं श्रेष्ठं सर्वधातमं सर्वधारकं तद्विशिष्टं भोजनं
सवितुर्वृणस्य सवितुर्वृणाद्बुणीमहे प्रार्थयामहे । अत्र प्राणस्य सवितुश्चा-
भेदेन सवितुरित्युक्तिः । अथ तद्वत्तेन भोजनेन संतुष्टाः सन्तस्तुरं तूर्णं
शीघ्रं भगस्य सूर्यस्य देवस्य धीमहि ध्यायेमेष्वर्थः । स्वरूपमित्यध्याहारः ।
अथ वा संबन्धसामान्ये षष्ठी सवितारं ध्यायेमेष्वर्थः ।

तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य
भोजनमित्याचामति श्रेष्ठः सर्वधातममित्या-
चामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

निर्णिज्य कश्चन चमसं वा पश्चादग्नेः
संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा ।

कंसाकारं चमसाकारं धोदुम्बरपात्रं प्रक्षाल्याग्नेः पश्चादग्निने वा
केवलभूम्यां वा प्राविशराः शयीत ।

वाचंयमोऽप्रसाहः ।

वाचंयमो वाग्यतः सन्, अप्रसाहो न प्रसह्यत इत्यप्रसाहः । अनिष्ट-
स्वप्नदर्शनेन यथा नाभिप्लुतो भवति तथा संयतचित्तः सन्नित्यर्थः ।

स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ७ ॥

तदेव श्लोको यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियः
स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मि-
न्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ८ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अत्र सतीति शेषः । समृद्धिं कर्मनिष्पत्तिमित्यर्थः । द्विरुक्तिर्विद्या-
समाप्त्यर्था । एतत्सण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते 'सर्वा-
न्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्, [ब० सू० ३।४।२८] इत्यत्र
'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' [१।२।१] इति
च्छान्दोग्ये 'नह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति' [६।१।१४]
इति धाजसनेयके च श्रवणाद्वामदेव्योपासनानिष्ठस्य प्रार्थयमानसर्व-
योपिदपरिहारानुमतिवत्सर्वान्नानुमतिः प्राणविद्यानिष्ठस्य सर्वदा क्रियत
इति पूर्णपक्षे प्राप्त उच्यते—'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।
[ब० सू० ३।४।२८] प्राणात्यय एव प्राणविदः सर्वान्नानुमतिं
न सर्वदा । ब्रह्मविदोऽप्युपस्तेः प्राणात्यय एवोच्छिष्टाशनस्य दर्शनेन
प्राणविदः सर्वान्नानुमतेरापद्विषयत्वस्य किं पुनर्न्यायसिद्धत्वात् ।
'अवाधाच्च' [ब० सू० ३।४।२९] 'आहारशुद्धी सत्त्वशुद्धिः'
[छा० ७।२६।२।] इति शास्त्रावाधार्थमप्येवमेव न्याय्यमितरथा
तस्य बाधः स्यात् । 'अपि च स्मर्यते' [ब० सू० ३।४।३०]

प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।

लिप्यते न स पापेन पञ्चपत्रमिवाम्मसा ॥ [मनु० १०।१०४]

इति स्मरणाच्च सर्वाङ्गीनत्वमापद्विषयम् । 'शब्दश्चातोऽकामकारे'
[ब० सू० ३।४।३१] । 'तस्माद्वाह्यणः सुरां न पिबति पाप्मना
नोत्पृजाः' इति कठमंहितायां कामकारप्रतिषेधकशब्ददर्शनात्पाप्मना
संयुतो न मयानोति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीति हि तस्याः भुते-
रयः । ननु ब्रह्मविद् उपस्तेः प्राणात्यये सर्वाङ्गीनत्वदर्शनात्प्राणविदः
सर्वाङ्गीनत्वस्याऽप्यद्विषयत्वं कैमुतिकन्यायेन मिथ्यतीत्यनुपपन्नम् ।
वामदेव्योपासननिष्ठस्य सर्वयोपिदपरिहारतया प्राणविद्यानिष्ठस्य पचन-

लात्सर्वान्नीनत्वमिति वदन्तं प्रत्येतस्यानुत्तरत्वादिति चेन्न । वामदेव्यो-
पासनस्य 'न कांचन परिहरेत्तद्वतम्' [छा० २।१३।२] इति सर्वयोपि-
दपरिहारेऽपि स्पष्टविधिश्रवणात्, प्रकृते च 'न ह वा एवंविदि किंच-
नानन्नं भवति' [छा० ५।२।१] इत्यत्र सर्वान्नमक्षणविधेः कल्प्यत्वात्,
प्रत्यक्षनिषेधविरोधे च विधिकल्पनानुदयेनार्थवादत्वस्यैव युक्तत्वात्सर्व-
प्राप्यन्ने 'एत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्यः' [छा० ५।२।१] इति
विहितस्य प्राणाश्रित्वचिन्तनस्य स्तुतिमात्रं क्रियते 'न ह वा एवंविदि
किंचनानन्नं भवति' इति । न चैवं सति निषेधशास्त्रविरोधात् 'एवं-
विदि पापं कर्म न श्लिष्यते' [छा० ४।१४।३] इत्यादेरपि स्तुतिमात्रत्व-
प्रसङ्ग इति वाच्यम् । पाप्मनामश्लेषाभावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गेन सकलपापा-
श्लेषस्य मोक्षविधिशालात्रापेक्षितत्वेन फलविधित्वस्य वक्तव्यत्वात्प्राण-
विद्यायाश्च ज्येष्ठत्वादिफलकत्वेन फलाकाङ्क्षाया अभावादिति स्थितम् ।
तथा गुणोपसंहारपादे 'लम्मुको ह वासो भवति' [छा० ५।२।२]
इत्यर्थवादोपबृंहितात् 'किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्त-
स्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताद्योपरिष्ठाच्चान्द्रिः परिक्रधति' [छा० ५।२।२]
इति छान्दोग्ये श्रवणाद्वासस्त्वचिन्तनमिति प्रतीयते । बृहदारण्यके
काण्वशाखायां 'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा
चाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो मन्यन्ते' [बृह० माध्य० ६।२।
१५] इति वाक्येऽनग्रं कुर्वन्त इति श्रवणाद्वासस्त्वचिन्तनमपि प्रतीयते,
आचामन्तीत्याचमनविधिरपि प्रतीयते । माध्यंदिनशाखायां 'तस्मा-
देवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाऽऽचामेदेतमेव तदनमनग्रं कुरुते' [बृह०
माध्य० ६।२।१५] इत्यनग्रत्वचिन्तनाद्वासस्त्वचिन्तनविधिरपि प्रतीयते,
आचामेदित्याचमनविधिप्रत्ययश्रवणादाचमनविधिः स्पष्टं प्रतीयते । तत्र
द्वयोरपि विधेयत्वे गौरवाद्येकस्यैव विधेयत्वे वक्तव्य आचामेदित्याच-
मने स्पष्टविधिप्रत्ययश्रवणात्स्मृत्याचारप्राप्ताचमनातिरिक्तमाचमनान्तरं
प्रतीयते, वासस्त्यादिश्रवणं तु कथंचित्स्तुतिरूपतया नेतव्यमिति पूर्वपक्षे
प्राप्तेऽभिधीयते—'कार्याख्यानादपूर्वम्' [व० सू० ३।३।१८] । कार्या-
ख्यानाद्विधेरप्राप्तविधानस्वामाव्यात्, आचमनस्य च स्मृत्याचाराभ्या-
मेव प्राप्तत्वादाचमनान्तरविधाने विनिगमकानुपलम्भाद्प्राप्तमाचमनी-
यास्वप्नु-वासस्तवानुचिन्तनं विधीयते । छान्दोग्य आचमनस्यैवाप्रतीतेः
शास्त्रान्तरेऽपि वासस्त्वानुसंधानस्यानुगतत्वात्तदेव विधीयत इति
स्थितम् । ननु कथं वागादीनामचेतनानामुक्तिप्रत्युक्तिपरम्परेति चेन्न ।

वागादिशब्दानाम् 'अमिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' [ब० सू० २।१।५] इति सूत्रोक्तन्यायेन तदमिमानीवेवतापरत्वात् । तत्र हि 'न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्' [ब० सू० २।१।४] ब्रह्मणो जगद्विलक्षणत्वेनोपादानत्वं न संभवति । घटरुचकादिषु हि लक्षणानामेव मृत्सुवर्णादीनामुपादानत्वं दृष्टं प्रकृते च ब्रह्म-जगतोर्विलक्षणत्वं । 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' [तै० २।६।१] इति ब्रह्मजगतोर्विज्ञानत्वाविज्ञानत्वप्रतिपादकशब्दादेवावगम्यते । ननु जगतोऽचेतनत्वे 'सुदब्रवीत्' [श० प० ब्रा० ६।१।३।२] इत्यचेतनाया सुवो वक्तृत्वं नोपपद्यते तत्राऽऽह 'अमिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।' [ब० सू० २।१।५] सुवाविशब्दैस्तत्तदमिमानीवेवता व्यपदिश्यन्ते 'हन्ताहमिमास्तिषो देवताः' [छा० ६।३।२] इति तेजोब्रह्मणा देवताशब्देन विशेषणाच्चेतनानां च देवतात्वासंभवात्तदमिमानीनि देवता तेजोब्रह्माविशब्दैर्व्यपदिश्यत इत्यभ्यवस्यामः । अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदित्यग्नेर्वाच्यनुप्रवेशरूपानुगतिश्रवणाद्वागादिशब्दैस्तदनुप्रवेशेन तदात्मनो ताग्न्याद्यन्नाभिधानानुपपत्तिः । अतश्चेतनस्य ब्रह्मणोऽचेतनजगदुपादानत्वं न संभवतीति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'दृश्यते तु' [ब० सू० २।१।६] । तुशब्दश्चोद्यव्यावृत्त्यर्थः । विलक्षणेभ्योऽपि गोमयादिभ्यो वृश्चिकादेरुत्पत्तिर्दर्शनाद्विलक्षणाद्ब्रह्मणो विलक्षणजगदुत्पत्तिरुपपद्यते । 'असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।' [ब० सू० २।१।७] विलक्षणादुपादानाद्विलक्षणोत्पत्त्यङ्गीकार उपादेयस्यात्पक्षेः प्राग्विलक्षणोपादानात्मन्यवस्थानस्य वक्तुमशक्यत्वेनासत्कार्यत्वावप्रसङ्ग इति चेन्न । उपादानोपादेययोः सालक्षण्यनियमप्रतिषेधमात्र एवास्माकं संरम्भः । सूक्ष्मचिद्विद्विशिष्टं ब्रह्म स्वस्माद्विलक्षणजगदाकारेण परिणमत इत्येतत् न त्यक्तम् । अत्र चोदयति—'अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गान्दसमञ्जसम्' [ब० सू० २।१।८] । ब्रह्मण एव जगन्नूपेण परिणामे तयोरेक्याद्व्ययोविषु सर्वदशास्वचेतनगता दोषा ब्रह्मणि स्युः । ततश्च ब्रह्मणो निरनिष्टत्वनिरवद्यत्यप्रतिपादकश्रुत्यसामञ्जस्यं भवति । तत्र सिद्धान्तमाह—'न तु दृष्टान्तभावात्' [ब० सू० २।१।९] । न त्वेवं संभवति यथा बालस्य युवानं प्रत्युपादानत्वेऽपि बालयुवादिशब्दैरात्मनोऽभिधानेऽपि बालत्वयुवत्वादिभिर्नाऽऽत्मा दृष्यत एवमेव नाचेतनगतैर्दोषैरात्मा दृष्यते । 'स्वपक्षदोषाच्च' [ब० सू० २।१।१०] । निर्विकारस्य चिन्मात्रैकरसस्य

पुरुषस्य प्रकृतिसंनिधानेन प्रकृतिधर्माध्यासनिबन्धना जगत्प्रवृत्तिरिति सांख्यपक्षोऽपि दृष्ट एव । 'तर्काप्रतिष्ठानादपि' [ब० सू० २।१।११] । तर्काणामन्योन्यव्याघातेनाप्रतिष्ठितत्वादपि तन्मूलप्रधानकारण-
वादस्त्याज्य एव । 'अन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्गोक्षप्रसङ्गः' [ब० सू० २।१।११] । यथा प्रतिकूलतर्कपराहतिर्न भवति तथा सत्तर्कैः प्रधान-
कारणत्वमनुमीयत इति चेदेवमपि कालान्तरे त्वत्तोऽतिशयितानां तर्क-
कुशलानां संभवेन प्रतिकूलतर्कपराहतिदोषानिस्तारात् । तस्माद्ब्रह्मणो
जगदुपादानत्वं न दुष्यतीत्युक्तम् । अतो यागादीनां वक्तृत्वे नानुपपत्ति-
रिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ८ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

प्रकृतविविक्तजीवयाधात्म्यविषयां पञ्चाग्निविद्यां संसृतिवैराग्याप-
प्रस्तौति—

श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय ।

अरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः श्वेतकेतुः पञ्चालानां जन-
पदानां सभामाजगाम ।

॥ तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच ।

जैवलस्यापत्यं जैवलिर्नामतः प्रवाहणस्तं श्वेतकेतुमुक्तवान् ।

कुमारान् त्वाऽशिपत्पितेति ।

हे कुमार त्वा त्वां तव पिताऽन्वशिपत्किमनुशिष्टवान्किमित्य-
पृच्छदित्यर्थः ।

इतर आह—

अनु हि भगव इति ॥ १ ॥

हे भगवः पूजाहानुशिष्टोऽस्मीति ॥ १ ॥

एवमुक्तो जैवलिः पप्रच्छ—

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ।

प्रजा इतोऽधीत ऊर्ध्वं यत्प्रयन्ति तद्वेत्थ जानीये किं कर्मिणां
गन्तव्यो देशः क इत्यर्थः । इतर आह—

भगव इति ।

जान इति शेषः । पुनः पृच्छति—

वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति । ✓

कर्मिणां पुनरावृत्तिप्रकारः क इत्यर्थः । इतर आह—

न भगव इति ।

पुनः पृच्छति—

वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति ।

देवयानपितृयाणयोर्व्यावर्तने भेदके रूपे किं वेत्थेत्यर्थः । केन प्रका-
रेण तयोर्भेद इत्यर्थः । इतर आह—

न भगव इति ॥ २ ॥

पुनः पृच्छति—

वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यता ३ इति ।

अस्माल्लोकादनवरतं गच्छद्भिः पुरुषैः कस्मान्हेतोर्भूलोको न संपूर्यत
इत्यर्थः । बाजसनेयके समानप्रकरणे ' वेत्थ यथाऽसौ लोक एव बहुभिः
पुनः पुनः प्रपद्भिर्न संपूर्यता ३ इति ' [वृ० ६।२।२] इति श्रवणात्
मुप्य लोकास्यामाता क इति प्रश्नस्य फलितार्थः ॥ ३ ॥

इतर आह—

न भगव इति ।

पुनः पृच्छति—

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ।

आप इति मूतान्तराणामप्युपलक्षणम् । भूतसूक्ष्माणि पञ्चम्यामाहुती
यथा येन प्रकारेण पुरुषवचसः पुरुष इति वचो यासां ताः पुरुषवचसः
पुरुषशब्दाभिलष्या इत्यर्थः । कस्य पञ्चम्यामाहुतापित्यपेक्षायां पुरुष-
वचस्त्वमवनकर्तृतया निर्दिष्टा आप एव ह्यमानतया संबध्यन्ते । असं-
निहितार्थान्तरकल्पने गौरवात् । ततश्चाप्य पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष-
वचसो भवन्तीत्यर्थः । ततश्चापामेव पञ्चस्वप्याहुतीषु ह्यमानत्वमिति
सिध्यतीति द्रष्टव्यम् । इतर आह—

नैव भगवत इति ॥ ३ ॥

रंहत्याधिकरणे [वृ० सू० ३।१।१] भगवता माप्यकृता—
कर्मिणां गन्तव्यदेशं, पुनरावृत्तिप्रकारं, देवयानपितृयाणपथव्यावर्तने,

अमुष्य लोकस्यापासारं च वेत्थेति पृष्ट्वा वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुता-
वापः पुरुषवचसो भवन्तीति ' पप्रच्छेति भाषितम् ॥ ३ ॥

एवमुक्तवन्तं श्वेतकेतुं राजा प्रत्याह—

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि
न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो भुवीनेति ।

किं कस्मादनुशिष्टोऽस्मीत्युक्तवानसि । यो हीमान्वर्थजातानि न
जानीयात्स कथमनुशिष्टोऽस्मीति वदेत् । यद्वा किमनुशिष्टः किमर्थमनु-
शिष्ट इत्यर्थः ।

स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय ।

स श्वेतकेतु राजा जैवल्लिनाऽऽयासितः सन्पितुः स्थानमाजगाम ।

तं होवाचाननुशिष्य याव किल मा

भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिपमिति ॥ ४ ॥

गत्वा च तं पितरमित्यमुषाच मामननुशिष्य समावर्तनकालेऽनुशास-
नीपानि सर्वाण्यननुशिष्यैव त्वामन्वाशिपमिति भगवान्मां प्रत्यब्रवी-
दित्यर्थः ॥ ४ ॥

तत्कथमित्यब्राह्म—

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षी-

त्तेषां नैकंचनाशकं विषक्तुमिति ।

राजन्यबन्धुर्मा पञ्च प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां मध्य एकंचनैकमपि प्रश्नं विषक्तुं
विशिष्य वक्तुं नाशकं न शक्तोऽब्रूवमिति पितरमुवाचेत्यर्थः । राजन्या
बन्धवो यस्य स राजन्यबन्धुः, राजन्यानां बन्धुरिति वा । स्वयमराजन्य
इत्यर्थः । राजन्याभास इति यावत् ।

स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो

यथाऽहमेपां नैकंचन वेद ययहमि-

मानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

त्वं मां प्रति तदाऽऽगमनकाल एतान्प्रश्नान्यथाऽवदस्तेषां नैकंच-
नाशकं विषक्तुमिति यथोक्तवानसि तथाऽहमपि तेषां मध्य एकंच-

नैकमपि यथा यथावत्सत्यमित्यर्थः । न वेद् नाज्ञासिपम् । यद्यज्ञासिपं
तर्हि ते प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले कुतो नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय ।

एवमुक्त्वा गोत्रतो गौतम आरुणी राज्ञः स्थानमाजगाम ।

तस्मै ह प्राप्तायाहाँ चकार ।

प्राप्ताय तस्मै गौतमाय राजाऽहाँ पूजां चकारेत्यर्थः ।

स ह प्रातः सभाग उदेयाय ।

ततः स प्रातःकाले राज्ञि समागे सभागते सत्युदेयाय गौतम आज-
गाम । पद्मा भाजनं भागः पूजा तेन युक्तोऽर्घ्यादिभिः पूज्यमानः समा-
गत इत्यर्थः ।

तः होवाच मानुषस्य भगवन्गौ-

तम वित्तस्य वरं वृणीथा इति ।

हे भगवन्गौतम मनुष्यसंबन्धिवित्तसंबन्धिवरं वृणीष्वेत्युवाचेत्यर्थः ।

स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव

कुमारस्यान्ते वाचमभापथास्तामेव मे ब्रूहीति ।

हे राजन्मानुषं वित्तं तवैव तिष्ठतु तेन मम न किञ्चित्प्रयोजनम् ।
किंतु मरुग्रस्य समीपे पञ्चप्रश्नलक्षणां यां वाचमुक्तवानसि तामेव
मे ब्रूहीति ।

स ह कृच्छ्री बभूव ॥ ६ ॥

तः ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार ।

एवमुक्तो राजा गौतमस्पाप्रत्यारूपेयतां ज्ञात्वा कृच्छ्री दुःखितो
बभूव, तं च गौतमं विद्यार्थं चिरं वसेत्याज्ञप्तवान् ।

तः होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न

प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्माद्

सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमनुदिति ।

हे गौतम त्वं मां यथाऽयदः । तथा करिष्यामीति शेषः । इयं वक्ष्य-
माणा विद्या पुरा विद्यमानाऽपि यथा येन प्रकारेण यस्माद्धेतोरिति

नैकमपि यथा यथावत्सत्यमित्यर्थः । न वेद् नाज्ञासिपम् । यद्यज्ञासिपं
तर्हि ते प्रियाय पुत्राय समावर्तनकाले कुतो नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय ।

एवमुक्त्वा गोत्रतो गौतम आरुणी राज्ञः स्थानमाजगाम ।

तस्मै ह प्राप्तायाहौ चकार ।

प्राप्ताय तस्मै गौतमाय राजाऽहौ पूजां चकारेत्यर्थः ।

स ह प्रातः सभाग उदेयाय ।

ततः स प्रातःकाले राज्ञि सभागे सभागते सत्युदेयाय गौतम आज-
गाम । यद्वा भाजनं भागः पूजा तेन युक्तोऽर्धादिभिः पूज्यमानः समा-
गत इत्यर्थः ।

तः होवाच मानुषस्य भगवन्गौ-

तम विचस्य वरं वृणीथा इति ।

हे भगवन्गीतम मनुष्यसंबन्धिवित्तसंबन्धिवरं वृणीष्वेत्युवाचेत्यर्थः ।

स होवाच तथैव राजन्मानुषं विचं यामेव

कुमारस्यान्ते वाचमन्नापथास्तामेव मे ब्रूहीति ।

हे राजन्मानुषं विचं तथैव तिष्ठतु तेन मम ॥ किञ्चित्प्रयोजनम् ।
किंतु मनुष्यस्य समीपे पञ्चप्रभ्रलक्षणां यां वाचमुक्तवानसि तामेव
मे ब्रूहीति ।

स ह ऊच्छ्री बभूव ॥ ६ ॥

तः ह चिरं वसेत्प्राज्ञापयांचकार ।

एवमुक्तो राजा गौतमस्याप्रत्याख्येयतां ज्ञात्वा कूच्छ्री दुःखितो
बभूव, तं च गौतमं विद्यार्थं चिरं वसेत्प्राज्ञमयान् ।

तः होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न

शक्न्यन्नः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्माद्

सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमनुदिति ।

हे गौतम त्वं मां यथाऽवदः । तथा करिष्यामीति शेषः । इयं पक्ष्य-
माणा विद्या पुरा विद्यमानाऽपि यथा येन प्रकारेण यस्माद्धेतोरिति

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति ।

आदित्यादिलक्षणसमिदाद्युपेते द्युलोकलक्षणाग्नौ देवा इन्द्रियाणि श्रद्धां 'श्रद्धा वा आपः' इति श्रुतेः श्रद्धाशब्दिता अपो जुह्वति । आत्म-धर्मभूतबुद्धिविशेषलक्षणश्रद्धाया होतव्यत्वासंभवाच्छ्रद्धाशब्देनाऽऽप एवोच्यन्त इति द्रष्टव्यम् । न चेन्द्रियाणां द्युलोकाग्नौ भूतसूक्ष्मरूपाहु-तिप्रक्षेपकर्तृत्वं कथमिति वाच्यम् । इन्द्रियाणामभावे भूतसूक्ष्माणां जीवं परिष्वज्य द्युलोकगमनासंभवादिन्द्रियाणां होतृत्वमुपपद्यत इति द्रष्टव्यम् । द्युलोकादिप्रापककर्मणामिन्द्रियाधीनत्वाद्वा तथोक्तिरिति द्रष्टव्यम् ।

तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

एवं स्वकर्मभिर्द्युलोकं गतो जीवः स्वर्मभोगयोग्यदिष्यदेतपुक्तो भवतीत्यर्थः । न चाप्साब्दितानां भूतसूक्ष्माणां सोमराजमाथे कथिते कथं जीवस्य सोमराजमाथ उपपद्यत इति वाच्यम् । उत्तरत्र पितृयाणे 'एष सोमो राजा' [छा० ५ । १० । ४] इति चन्द्रमसं प्राप्तस्य जीवस्य सोमराजमावश्रवणादत्र निर्दिश्यमानसोमराजमावस्यापि भूत-सूक्ष्मपरिष्वक्तजीवविषयत्वात् ।

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पर्जन्यो वाक् गीतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदमं धूमो
वियुदर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नग्नौ देवाः सोमश्च राजानं जुह्वति

तस्या आहुतेर्वर्षश्च संभवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति ।

आदित्यादिलक्षणसमिदाद्युपेते द्युलोकलक्षणाग्नौ देवा इन्द्रियाणि श्रद्धां 'श्रद्धा वा आपः' इति श्रुतेः श्रद्धाशब्दिता अपो जुह्वति । आत्म-धर्मभूतबुद्धिविशेषलक्षणश्रद्धाया होतव्यत्वासंभवाच्छ्रद्धाशब्देनाऽऽप एवोच्यन्त इति द्रष्टव्यम् । न चेन्द्रियाणां द्युलोकाग्नौ भूतसूक्ष्मरूपाहु-तिप्रक्षेपकर्तृत्वं कथमिति वाच्यम् । इन्द्रियाणामभावे भूतसूक्ष्माणां जीवं परिष्वज्य द्युलोकगमनासंभवादिन्द्रियाणां होतृत्वमुपपद्यत इति द्रष्टव्यम् । द्युलोकाविप्रापककर्मणामिन्द्रियाधीनत्वाद्वा तथोक्तिरिति द्रष्टव्यम् ।

तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

एवं स्वकर्मभिर्द्युलोकं गतो जीवः स्वर्गभोगयोग्यदिव्यदेहयुक्तो भवतीत्यर्थः । न चाप्साब्धितानां भूतसूक्ष्माणां सोमराजभावे कथिते कथं जीवस्य सोमराजभाव उपपद्यत इति वाच्यम् । उत्तरत्र पितृपात्रे 'एष सोमो राजा' [छा० ५ । १० । ४] इति चन्द्रमसं प्राप्तस्य जीवस्य सोमराजभावश्रवणादत्र निर्दिश्यमानसोमराजभावस्यापि भूत-सूक्ष्मपरिष्वक्तजीवविषयत्वात् ।

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य

चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदमं धूमं

विद्युदर्चिरशानिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

तस्मिन्नग्नौ देवाः सोमः राजानं जुह्वति

तस्या आहुतेर्वर्षः संभवति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा

तप इत्युपासते तेऽर्चिपमभिसंभवन्ति ।

प्राक्प्रस्तुतस्य संसरतो जीवस्य स्वरूपं तदित्यनेन परामुच्यते । तत्प्र-
त्यगात्मस्वरूपं य इत्थमुक्तप्रकारेण द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोपितु श्रद्धा-
सोमवृष्ट्यन्तरेतःशरीरकतया देहादिलक्षणप्रकृतिविविक्ततया च ये विदु-
रित्यर्थः । तत्र ब्रह्मात्मकतया चेत्यपि योजनीयम् । माप्यकृता—
'अप्रतीकालम्भनान्' [ब० सू० ४।१।१५] इति सूत्रे पञ्चाग्निविदोऽ-
प्यर्चिरादिना गतिव्यवणाद्वर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिव्यव-
णाच्च । अत एव तत्कतुन्यायेन प्रकृतिविनिर्मुक्तब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं
सिद्धमिति भाषितम् । अरण्ये स्थित्वा श्रद्धा पुरस्कृत्य तपःशब्दितं
ब्रह्मोपासत इत्यर्थः । वाजसनेयके समानप्रकरणे 'श्रद्धां सत्यमुपासते'
[वृ० ६।२।१५] इति व्यवणात्सत्यशब्दस्य ब्रह्मपरत्वात्तपःशब्दोऽपि
ब्रह्मपरः । 'अनिपमः सर्वेषाम्' [ब० सू० ३।३।३१] इत्यधिकरणे
मगधता माप्यकृता 'तद्य इत्थं विदुः' 'य एवमेतद्विदुः' [वृ० ६।२।
१५] इति पञ्चाग्निविद्यानिष्ठान् 'ये चेमे' इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं
ब्रह्मोपासीनांश्चोद्दिष्टार्चिरादिका गतिरुपदिश्यते । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्म' [तै० २।१।१] सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् [छा० ७।१।६।१]
इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः । तपःशब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात्सत्यतपः-
शब्दाभ्यां ब्रह्मेकामभिधीयते । श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतम् ।
सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपक्रम्य 'श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या'
[छा० ७।१।९।१] इति श्रुतेरिति हि भाषितम् । उक्तं च व्यासार्थः—परमं
यो महत्तप इत्यादिषु तपःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वमिति । अत्र वाजसनेयके
'श्रद्धां सत्यम्' [वृ० ६।२।१५] इति श्रद्धाशब्दस्य द्वितीयान्तत्व-
व्यवणादिहापि श्रद्धाशब्दो द्वितीयान्तः । छान्दसत्वात्सुपां सुलुगिति
सुपो लुक् । ततश्च पुरस्कृत्येत्यध्याहारः । श्रद्धां पुरस्कृत्य ब्रह्मोपासत
इत्यर्थः । इतिस्त्ववियाक्षितः । अथ येवकारोऽत्राध्याहर्तव्यः । ब्रह्मेत्येव
य उपासत इत्यर्थः । ततश्चाब्रह्मोपासनव्यावृत्तिफलकोऽयमिति शब्दो
व्रट्यः । यद्वा श्रद्धातपःशब्दयोः प्रसिद्ध एवार्थः । श्रद्धातपःपरा-
यणानां च ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वमर्थसिद्धम् । ततश्च ब्रह्मविद्यानिष्ठ
इत्यर्थः फलति । अयमर्थस्तदप्यविरुद्धमर्थत्वादपि शब्दस्य संभवतीत्यु-

क्तमिति यदतां ध्यासार्याणामनुमत एव । तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति ।
अर्चिर्देवतामातिवाहिकतया प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

अर्चिषोऽहरह्र आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणप-
क्षायान्पडुदह्णेति मासाःस्तान् ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरः संवत्सरादादित्यमादि-
त्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽ-
मानवः स एनान्ब्रह्म गमयति ।

अत्रार्चिर्देवतामातिवाहिकतया ध्यासायाः अर्चिषोऽहरह्र आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणप-
क्षायान्पडुदह्णेति मासाःस्तान् ॥ १ ॥ अमानवोऽसंसारि । ब्रह्मलोकादामत्यैनान्पूर्वोक्तद्विविधोपासकान्ब्रह्म-
लोकं प्रापयतीत्यर्थः । 'अमानवः स एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति' [वृ०
६।२।१५] इति श्रुत्यन्तरे श्रवणात् ।

एष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमि- ॥
त्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति ।

ये पुरुषा ग्राम एव स्थिता इष्टं यागादि पूर्तं खातादि दत्तं दानम् ।
इतिशब्दस्तज्जातीयोपवासादिकर्मान्तरपरः । यागदानहोमादीनि कर्माणि
येऽनुतिष्ठन्तीत्यर्थः । उक्तप्रकारेणानुतिष्ठन्तीत्यर्थ इति ध्यासार्यवचनस्या-
प्ययमेवार्थः । श्रुतौ पूर्वमनुष्ठानप्रकाराननुवृत्तेः । यद्वा अष्टापूर्वकत्वरू-
पोक्तप्रकारवाचीतिशब्दः । ते धूममभिसंभवन्ति धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त
आतिवाहिकत्वेनेत्यर्थः ।

धूमाद्रात्रिः रात्रेरपरपक्षमपरपक्षायान्पडुदक्षिणैति
मासाःस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

अत्रापि धूमादिशब्दास्तच्चदभिमानिदेवतापराः । दक्षिणां दिशमादित्य
एति । 'दक्षिणादाच्च' इत्याजन्तोऽयं शब्दः । दक्षिणायनमासान्प्राप्या-
विद्वांस एव न संवत्सरं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

पुनः किं प्राप्नुवन्तीत्यत्राऽऽह—

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् ।

स्पष्टोऽर्थः । ' एतेन वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति ' [छा० ५। ३। २] इति प्रथमः प्रश्नः प्रत्युक्तो भवति ।

एष सोमो राजा ।

अत्रैष इत्यनेन नामिसंभाव्यश्चन्द्रमाः परामृश्यते चन्द्रमसः सोमराजमात्रोपदेशस्य व्यर्थत्वात् । अपि स्विष्टादिकार्यमिसंभविता परामृश्यते । ' तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ' [छा० ५। ४। २] इति न्यायेन स्वर्गोन्मेषादिव्यदेहो भवतीत्यर्थः ।

तद्देवानामन्नम् ।

अन्नवत्स देवानामुपकरणमूतो भवतीत्यर्थः ।

तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

तस्मिन्नादिकारिणं देवमायमुपगतमाजानसिद्धा देवा भक्षयन्ति स्वर्गकर्षेण पशूनिष विनियुञ्जत इत्यर्थः । सूत्रितं च ' मार्त्तं वाऽनात्मवि-
त्वात् । [ब० सू० ३। १। ७] इति ॥ ४ ॥

तस्मिन्यावत्संपातमुपित्वा ।

संपतत्पतेति संपातः कर्मशेषः । यावत्कर्मशेषमुपित्वेत्यर्थः । यावच्छब्दः साकल्यार्थः । साकल्यं च फलप्रदानप्रवृत्तकर्मविशेषविषयं न तु सर्वकर्मविषयं द्रष्टव्यम् ।

' वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ते ' [छा० ५। ३। २] इति द्वितीयं प्रश्नं प्रतिवक्ति—

अथेतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम् ।

अथानन्तरमेतमेवाध्वानं धूमादिमार्गं यथेतं यथागतं पुनर्निवर्तन्ते ।

धूमराज्यपरपक्षदक्षिणायनपञ्चमासपितृलोकादाकाशक्रमेणाऽऽरोहणात् नैव विपरीतक्रमेणावरोहणे प्राप्तेऽत्र विशेषमाह—

आकाशमाकाशाद्वायुम् ।

यथाऽऽरोहण आकाशाच्चन्द्रमसमभिसंभवन्त्येवमवरोहणे चन्द्रमस आकाशमभिसंभवन्ति । आरोहणावरोहणयोराकाशमभिसंभवस्त्वपि—

शिष्ट इति मावः । आकाशाद्वायुम् । अभिसंभवन्तीति शेषः । अत्र वायु-
भूत्वा धूमो भवतीत्युत्तरत्र अवणादत्राप्यवरोहन्त आकाशो भवन्ति ।
वायुर्भवन्तीत्येवार्थः । अवरोहतां चाऽऽकाशादिभवनं न तच्छरी-
रकत्वम् । सर्गाद्यकालमारम्याऽऽप्रलयमाकाशाद्यभिमानिदेवतानाम-
न्यासां क्लृप्तानां सत्त्वेन प्रतिक्षणमवरोहतामाकाशाद्यभिमानिदेवतात्वा-
नुपपत्तेरतस्तत्सावृक्षमेवार्थः । या आपश्चन्द्रमण्डले दिव्यशरीरमारब्ध-
वत्यस्तासां कर्मक्षये द्रवीभूतानामाकाशगतानां भेदकाकारग्रहाणेनाऽऽ-
काशासादृश्ये तदुपश्लिष्टा जीवा अप्याकाशसमा उच्यन्ते ताश्चाऽऽप
इतश्चामुतश्च वायुना नीयमाना वायुसमा भवन्ति । ततश्च तत्संश्लिष्टो
जीवोऽपि वायुर्भवतीत्युच्यते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।

वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽऽन्नं भवति ॥ ५ ॥

अपो बिभर्तीत्यन्नं मूलविमुजादित्वात्कः । ततश्चाभ्रशब्देन जलधारणा-
वस्थोच्यते ॥ ५ ॥

अन्नं भूत्वा मेघो भवति ।

मिह सेचन इति धातोः पचाद्यच्प्रत्यये न्यङ्ङकादित्वात्कुत्वे मेघ
इति भवति मेघशब्देन वर्षोन्मुखावस्थोच्यते । एवमेवाभ्रमेघयोर्भेदो
व्यासार्थैरुक्तः ।

मेघो भूत्वा प्रवर्षति ।

मेघसंश्लिष्टो भूत्वा वर्षधारारूपेण भूमौ पततीति मावः ।

त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्प-
तयस्तिलमाषा इति जायन्ते ।

वर्षसंश्लिष्टमूतसूक्ष्मपरिप्लवक्तजीवानां व्रीहियवादिरूपेण जननं नाम
न स्यावरभावप्रतिपत्तिः स्थावरत्वप्राप्तिहेतुकर्मणामिहाकीर्तनात् । किं
तु जीवान्तराधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संश्लेषमात्रम् । सूत्रितं च 'अन्या-
धिष्ठितेषु पूर्ववदमिलापात्' [ब० सू० ३ । १ । २२] इति ।

अतो वे खलु दुर्निष्पपतरम् ।

अतः स्थावरादिमावादितिचिरेण निर्गमनं भवति । अत्र खलन्ता-
द्दुर्निष्पपतशब्दादातिशायनिके तरण्यत्यये छान्दसे तशब्दलोपे दुर्निष्प-

पतरमिति रूपम् । ततश्चातिशयस्य प्रतियोग्याकाङ्क्षायां प्रागनुक्रान्ता-
 काशादीनां बुद्धौ संनिधानात्तेषामेव प्रतियोगित्वेनान्वयः स्यात् । ततश्च
 व्रीह्यादिप्याकाशाद्यपेक्षया चिरावस्थानोक्त्याऽऽकाशादिष्ववस्थानस्य
 तदपेक्षयाऽल्पकालत्वं पर्यवस्यति । उक्तं च भगवता माप्यकृता-छान्द-
 सस्तशब्दलोपः । दुर्निष्पन्नतरं दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थ इति । न च 'तपो-
 रेव कृत्यत्तरालर्थाः' इति खलो भावकर्ममात्रविषयत्वात्पतेश्चाकर्मक-
 त्वेन भावार्थस्यैव परिशिष्टत्वात्तत्र च भावार्थस्य प्रकर्षाभावात्तरपो दीर्घ-
 भ्यमिति शङ्क्यम् । शिष्येतरामित्यादिप्रयोगान्द्रावार्थेऽपि प्रकर्षसंभवात्क-
 र्त्रार्थपचाद्यजन्तात्तरपः संभयाच्च माप्यस्य नानुपपत्तिः । यद्वा 'आतो
 युच्' 'छन्दसि गत्यर्थेभ्यः' इति छन्दसि विशेषविहितसलर्थपुजन्त एवायं
 शब्दः । रेफरूपवर्णविकारश्छान्दसः । नन्यस्य तरप्प्रत्ययत्वाभावे पूर्वनिर्दि-
 ष्टाकाशादिभ्योऽतिशयस्तेष्वचिरावस्थानं वा कथं सिध्येदिति वाच्यम् ।
 पेशब्दस्यावधारणार्थतयाऽतःशब्दिताद्व्रीह्यादिमावादेव चिरं निष्क-
 मणे कथिते ततः पूर्वनिर्दिष्टेभ्य आकाशादिभ्योऽचिराद्विष्क्रमणं सिध्यति
 तशब्दलोपश्छान्दस इति माप्यस्यापि वर्णलोपेन वा वर्णविकारेण वा
 यथाकथंचिरताधुत्वं समर्थनीयमित्यत्र तात्पर्यम् । व्रीह्यादयो हि गिरित-
 टादुदकस्रोतसोह्यमाना नदीं प्राप्नुयन्ति ततः समुद्रे ततो मकरादिभिर्म-
 क्ष्यन्ते तेऽप्यन्येस्तत्रैव च मकरेण सह समुद्रे विलीनाः समुद्राम्भोभिः सह
 जलार्थैराकृष्टाः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातले वा हर्म्ये वा पतिता-
 स्तिष्ठन्ति । कदाचिद्व्यालमृगादिपीतास्ते भक्षिताश्चान्येस्तेऽप्यन्यैरित्येवं
 प्रकाराः परितर्तेन् । कदाचिदभक्ष्येषु भ्यावरेषु जातास्तत्रैव शुष्येन् ।
 भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु जातानां रेतःसिग्देहसंबन्धो दुर्लभ एव बहुत्वा-
 त्स्थावराणामित्यतो दुर्निष्क्रमणत्वम् ।

यो यो ह्यजमत्ति यो रेतः सिञ्चति

तदनुय एव भवति ॥ ६ ॥

अत्र स इत्यध्याहारः । यो व्रीह्यादिसंश्लिष्टोऽवरोहञ्जीवः स योऽज-
 मत्ति, रेतः सिञ्चति, भूयः पश्चात्तद्भवति रेतःसिग्मावं प्राप्नोति आका-
 शादिभाययद्देतःसिग्मावोऽप्योपचारिकः । रेतःसिग्योमी भवतीत्यर्थः ।
 एवमेव ध्यामार्थरुक्तम् ॥ ६ ॥

तय इह रमणीयचरणा अज्याशो ह यत्ने रम-

णीयां योनिमापयेरन्वास्तनयोनिं वा शस्त्रिय-

योनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयच-
रणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापयेर-
ऽश्वयोनिं वा सूकरयोनिं चण्डालयोनिं वा ॥७॥

तत्तेषु येषां अभ्याशोऽभ्यागन्तारः । अभ्याङ्गपूर्वादशेर्धातोः क्विबन्ता-
द्बहुवचनान्तोऽयं शब्दः । परलोकादिह लोके प्रत्यवतरन्त इत्यर्थः ।
हेति प्रसिद्धी । यद्यदा रमणीयचरणाः । चर्यत इति चरणं कर्म रमणी-
यकर्माणो भुक्तशिष्टपरिपक्वमुकृतकर्मयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । अथ यदाश-
्वानुरोधेन तदेत्यप्यध्याहृतव्यम् । तदा ते रमणीयां ब्राह्मणादियोनि-
माप्नुयन्तीत्यर्थः । कपूयचरणाः कुत्सितकर्माण इत्यर्थः । भुक्तशिष्टकर्मानु-
सारि जन्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७ ॥

वेत्थ पथाऽसी लोको न संपूर्यत इति चतुर्थप्रश्नं प्रतिवक्ति—

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्रा-
ण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व त्रिय-
स्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते ।

अथशब्दः प्रतिवचनान्तरोपक्रमे यानि भूतान्युक्तयोर्वैद्यवानपितृया-
णयोः पथोर्मध्ये कतरेणचन केनापि मार्गेण न गच्छन्ति मार्गद्वयमाप्ति-
हेतुभूतविद्याकर्मरहिता इत्यर्थः । तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि दशमशक-
कीटादीन्यसकृदावर्तीनि सन्ति जायस्व त्रियस्वेति भवन्ति पुनः पुनर्जा-
यन्ते त्रियन्त इत्यर्थः । सकृन्पिष धानाः सादेत्ययमभ्यवहरतीत्यस्य पुनः
पुनः पिबति पुनः पुनः खादतीति ह्ययमर्थस्तद्वत् । 'क्रियासमभिहारे लोटो
लोटो हि स्वी वा च तद्ध्रमोः' इति धौनःपुन्यलक्षणाक्रियासमभिहारे
लोटस्तद्ध्रमोर्हिस्वादेशविधानाज्जायस्व त्रियस्वेति रूपम् । 'पथाविध्यनुप्र-
योगः पूर्वस्मिन्' 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' इति भवन्तीति सामान्यशब्द-
स्यानुप्रयोगः । उक्तं च व्यासार्थैः—पुरीमवस्कन्दं तुनीहि नन्दनमिति-
वदिति । एतत्तृतीयं स्थानम् । अत्रैतच्छब्देन जायस्व त्रियस्वेति
भूतानि भवन्तीति प्रथमान्तशब्देन प्रधानतया निर्दिष्टाः पापकर्माणः
परामृश्यन्ते सर्वनाम्ना-पूर्वनिर्दिष्टप्रधानपरामर्शित्वात् । स्थानशब्दाभि-
प्रायेणैकवचनम् । पूर्वनिर्दिष्टलोकब्रह्मलोकापेक्षया क्षुद्रजन्तुभवना-
दिलक्षणस्थानस्य तृतीयत्वात्तत्स्थानसंबन्धात्पापकर्माणस्तृतीयं स्थान-

मित्युच्यन्ते । तेनासौ लोको न संपूर्यते । तेन तृतीयस्थानशब्दितैः
पापकर्मभिरसौ द्युलोको न संपूर्यते न प्राप्यत इत्यर्थः । अत्रैतत्तृतीयं
स्थानमित्येतच्छब्देन पूर्वनिर्दिष्टः शून्यः पुन्येन जननमरणादिभवनलक्षण-
धात्वर्थ एव परामृश्यते तस्यैव तृतीयस्थानत्वम् । ततश्चैतस्य तृतीय-
स्थानस्य सङ्गादादद्युलोको न संपूर्यत इत्युक्तावपि न भाष्यस्य विरोधः ।
अत एव द्युलोकारोहाबरोहामावेन द्युलोकासंपूर्तिवचनादिति भाषि-
तमिति द्रष्टव्यम् ।

तस्माज्जुगुप्सेत ।

यस्मात्संसारिणां गतिरुक्तरीत्या कष्टतरा तस्मात्संसारज्जुगुप्सेत ।
मा भून्म एवंविधसंसारमहोदधौ पात इति निन्देदित्यर्थः ।

मुक्तिफलकपञ्चाग्निविद्यास्वरूपज्ञानस्य फलान्तरं वक्तुमाह—

तदेव श्लोकः ॥ ८ ॥

तच्छब्दः प्रसिद्धपरः । एव वक्ष्यमाणः श्लोक इत्यर्थः ॥ ८ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिवश्च गुरो-
स्तत्पमावसन्नलहा चैते पतन्ति च-
त्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरन्स्तेरिति ॥ ९ ॥

तेराचरन्स्तेनादिभिश्चतुर्भिर्द्विधापोनिसंबन्धमाचरन्नित्यर्थः । शिष्टं
स्पष्टम् ॥ ९ ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्या-
चरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्य-
लोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
दशमः खण्डः ॥ १० ॥

स्तेनादिभिर्गुह्यमहापातकिभिरपि सह संबन्धमाचरन्पाप्मना न
लिप्यते पूर्णोत्तराद्यशून्यो भवतीत्यर्थः । द्विरुक्तिः प्रश्नप्रतिवचनसमाप्ति-

द्योतिका । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकाण्यधिकरणान्युपन्यस्यन्तेऽर्चि-
रादिपादे । 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' [ब० सू० ४ । ३ । ७] ।
कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनानेवाचिरादिर्गणो नयतीति बादरिराचार्यो
मन्यते । परिच्छिन्नप्राप्त्यर्थं हि गतिरुपपद्यते नापरिच्छिन्नपरब्रह्म-
प्राप्तये । नद्याकाशं प्रेक्षता देशविशेषो गन्तव्यो भवति । 'विशे-
पितत्वाच्च' [ब० सू० ४ । ३ । ८] 'पुरुषो मानस एव ब्रह्मलोका-
न्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' [बृ० ६।२।१५]
इति गन्तव्यस्य बहुवचनान्तलोकशब्देन विशेषितत्वात्परब्रह्मण एक-
त्वेन बहुत्वासंभवाल्लोकशब्दस्य देशविशेष एव मुख्यत्वाच्च न परब्रह्म-
णोऽर्चिरादिप्राप्त्यत्वम् । ननु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२]
इति नपुंसकलिङ्गब्रह्मशब्देन चतुर्मुखस्य कथं निर्देश इत्यत्राऽऽह—
सामीप्यास्तु तद्व्यपदेशः' [ब० सू० ४।३।९] । 'यो ब्रह्माणं विवधाति
पूर्वम्' [श्वे० ६।१८] इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्मसामीप्या-
द्ब्रह्मशब्देनामुख्यया वृत्त्या चतुर्मुखस्य निर्देश उपपद्यत इति भावः ।
ननु हिरण्यगर्भस्य द्विपराधावसाने नाशात्तं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेरवर्जनीय-
त्वात् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' [छा० ४।
१५।५] इत्यनावृत्तिप्रतिपादकश्रुतिविरोधस्तत्राऽऽह—'कार्यात्पये तद-
ध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्' [ब० सू० ४।३।१०] 'ते ब्रह्मलोके तु
परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' [मु० ३।२।६] इत्यभि-
धानात्कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण ब्रह्मणा सहातो ब्रह्मलो-
कात्परं ब्रह्म प्राप्नोति । अतश्चानावृत्तिश्रुतिरुपपद्यत इति भावः ।
'स्मृतेश्च' [ब० सू० ४।३।११]

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

इति स्मृतेश्चायमर्थोऽवसीयते । 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्' [ब० सू०
४।३।१२] । नपुंसकलिङ्गब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्ब्रह्मण्येव मुख्य-
त्वात्परमेव ब्रह्माचिरादिः प्रापयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तस्य
परिपूर्णत्वेऽपि 'परं ज्योतिरुपसंषद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा०
८।३।४] इति श्रुत्यनुसारेण निःशेषाविद्यानिवृत्तेर्देशविशेषविशिष्ट-
ब्रह्मप्राप्तिसापेक्षत्वाद्देशविशेषविशिष्टब्रह्मप्राप्तये गतिरुपपद्यते । लोक्यत
इति व्युत्पत्त्या लोकशब्दोऽपि ब्रह्मण्युपपन्नः । बहुवचनमप्येकस्मिन्नुप-

चारात्प्रयुज्यते । 'दर्शनाच्च' [ब० सू० ४ । ३ । १३] । दर्शयति
 च श्रुतिर्ब्रह्मप्राप्तेर्गतिसापेक्षत्वम् । 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय
 परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छा० ८ । ३ । ४]
 इति । ननु 'प्रजापतेः सर्वां वेष्टम प्रपद्ये' [छा० ८ । १४ । १] ।
 इत्याचिरादिना गतस्य कार्यप्रजापतिविषयाभिसंधिर्दृश्यते तत्राऽऽह—'न
 च कार्यं प्रत्यभिसंधिः' [ब० सू० ४ । ३ । १४] । नार्यं प्रत्यभिसंधिः
 कार्यहिरण्यगर्भं विषयोऽपि तु परब्रह्मविषयः । तस्यैव प्रजापतिशब्दमुरप-
 षाच्यत्वात् । उत्तरत्र 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राजां
 यशो विशाम्' [छा० ८ । १४ । १] इति सर्वाविद्याविमोक्तपूर्वकसर्वा-
 रम्भाद्याभिसंधानात् 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखा-
 त्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' [छा०
 ८ । १३ । १] इति ब्रह्मलोकस्याकृतत्वेन विशेषितत्वाच्च परमेव
 ब्रह्माचिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते । 'अप्रतीकालम्बनान्नय-
 तीति वादरायण उभयथा च दोषात्तत्कतुश्च' [ब० सू० ४ । ३ ।
 १५] अब्रह्ममूर्तं नामादिकं ये ब्रह्मत्वेनोपासते ते प्रतीकालम्बनास्तज्जि-
 ज्ञान्, प्रकृतिविपुक्तं प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकत्वेन ये पञ्चाग्निविद् उपा-
 सते, ये च केवलं परं ब्रह्मोपासते तानुभयविधानपि नयतीति वादरायण
 आचार्यो मन्यते । केवलं परमेवोपासीनान्नयतीति पक्षे कार्यमुपासी-
 नान्नयतीति पक्षे च 'तद्य इत्थं विदुर्यं चेमेऽरण्ये' [छा० ५ । १० । १]
 इति श्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । ननु पञ्चाग्निविद्याया ब्रह्मात्मकप्रत्यगात्म-
 विद्यात्वे किं प्रमाणं तत्राऽऽह—तत्कतुश्चेति । पञ्चाग्निविद्याया ब्रह्मवि-
 द्यात्वाभावेऽचिरादिगतिर्वा तथा गत्या ब्रह्मप्राप्तिर्वा न स्यात्तत्कतुन्या-
 यविरोधप्रसङ्गात् । ब्रह्मविद्यात्वे तु तत्कतुन्यायोऽप्यनुगृहीतो भवति ।
 इयांस्तु विशेषः—पञ्चाग्निविद्या ब्रह्मात्मकस्वात्मविद्या । ब्रह्मादिवि-
 द्यास्तु प्रत्यगात्मशरीरकपरमात्मविद्याः । विशेषणविशेष्यभावे परं
 व्युत्पासः । अयं नु भगवतो वादरायणस्य सिद्धान्त इति स्थितम् ।
 तथा लोके ग्रामादिगन्तूणामिमं पृष्ठं गत्वेमां नदीं गत्याऽयं ग्रामो
 गन्तव्य इति तत्तद्देशिकोपदेशस्वरूपत्वाद्स्यापि वाक्यस्याचिरादपो
 मार्गचिद्धमृताः । अथ वा 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्' [को०
 १ । ३] इति लोकशब्दभ्रवणादचिराद्या भोगभूमय इत्येवं पूर्वपक्षे
 प्राप्त उच्यते—'आतिवाहिकास्तलिङ्गात्' [ब० सू० ४ । ३ । १४] इति ।

विदुषामतिवाहे परमपुरुषेण नियुक्ता देवताविशेषा आतिवाहिका गन्तृणां
 गमयितार इति यावत् । तल्लिङ्गात् । 'तत्पुण्योऽमानवः स एनान्ब्रह्म गम-
 यति' [छा० ५ । १०।२] इति वैद्युतपुरुषस्य गमयितृत्वसिद्धवत्कारेण
 ब्रह्मगमयितृत्वमात्रविशेषप्रतिपादनपरेण वाक्येनेतरेऽपि गमयितार इति
 प्रतीतिः । अचिरादिशब्दानां च 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगति-
 म्याम्, [ब० सू० २ । १ । ५] इति सूत्रेण तदभिमानिदेवतापरत्वसं-
 भयात् । ननु वैद्युतपुरुषस्यैव ब्रह्मगमयितृत्वे विद्युत ऊर्ध्वं कौपीत-
 किषाक्यानुसारेण निवेशितानां धरुणेन्द्रप्रजापतीनां कथं संबधस्तत्राऽऽ-
 ह—'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः, [ब० सू० ४ । ३ । ६] ततो विद्युत उपरि
 वैद्युतेनैव ब्रह्मप्राप्त्यतिवाहनम् । 'स एनान्ब्रह्म गमयति' [छा० ५ ।
 १० । २] इति श्रुतेर्धरुणादयोऽपि तदनुग्राहका भवन्तीति दृष्टव्यमिति
 स्थितम् । तथा वैराग्यपादे लोकान्तरं गच्छतो जीवस्य देहारम्भकभूत-
 सूक्ष्माणां तत्रैव सुलभतया न भूतसूक्ष्मपरिष्वक्ततया गमनमिति पूर्वपक्षे
 प्राप्त उच्यते—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाम्याम्'
 [ब० सू० ३ । १ । १ । १ ।] पूर्वत्र 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः' [ब० सू० २ ।
 ४ । २० ।] इति सूत्रे मूर्तिशब्देन निर्दिष्टो देहस्तच्छब्देन परा-
 मृश्यते । तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्त्यर्थं जीवो भूतसूक्ष्मैः
 परिष्वक्त एव रंहति गच्छतीत्यर्थः । पञ्चाग्निविद्यायां 'येत्थ यथा
 पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [छा० ५ । ३ । ३ ।]
 इति पञ्चस्वप्याहुतिष्यच्छब्दितानां भूतसूक्ष्माणां हूयमानतया संबन्धं
 सिद्धवत्कृत्यैवापि पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति कथं
 धेत्थेति प्रश्नाद्युपार्जन्यपृथिवीपुरुषयोपि द्रूपेष्वग्निष्यापः भन्नासोमवृष्ट-
 न्नरेतोरूपेण हूयमानाः सत्यः पञ्चम्यां रेतआहुतौ पुरुषाकारेण परि-
 णमन्त इति प्रतिवचनदर्शनाच्चाच्छब्दितभूतसूक्ष्मपरिष्वक्त एवाऽऽरोहा-
 यरोहयोः संभवतीति भावः । नन्वापः पुरुषवचसो भवन्तीत्यपामेव पुरुष-
 वचस्त्वं प्रतिपाद्यते न भूतान्तराणामिति तत्राऽऽह—'ज्यात्मकत्वाच्च
 भूयस्त्वात्' [ब० सू० ३ । १ । २ ।] तुशब्दश्चोद्यव्यावृत्त्यर्थः । केव-
 लानामपां देहारम्भकत्वासंभवेन ज्यात्मकत्वादच्छब्दो भूतान्तरस्याप्युप-
 लक्षकः । तर्हि कुतोऽच्छब्देन निर्वेश इत्यत्राऽऽह—भूयस्त्वात् । तेजो-
 यज्ञलक्षणभूतत्रयमध्ये देहस्व रोहितप्रचुरतयाऽपि भूयस्त्वादच्छब्देन
 निर्देश इति भावः । 'प्राणगतेश्च' [ब० सू० ३ । १ । ३ ।] 'तमु-

काशमाकाशाञ्चन्द्रमसमेव सोमो राजा ' [छा० ५ । १० । ४]
 इति द्युलोकं प्राप्तस्येष्टादिकारिणो जीवस्य सोमराजभावश्रवणादत्रापि
 ' तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ' [छा० ५ । ४ । २] इति
 द्युलोकं प्रविष्टानां भूतसूक्ष्माणां सोमराजभावश्रवणादत्रापि ' आपः
 पुरुषयचसो भवन्ति ' [छा० ५ । ३ । ३] इत्यष्टब्देन न केवलं
 भूतसूक्ष्ममात्रमुच्यते, अपि तु तत्परिष्वक्तो जीवः । पुरुषशब्दामि-
 छपनीयत्वमपि तत्परिष्वक्तस्य जीवस्यैव । ततश्चाऽऽपः पुरुषयचसो
 भवन्तीत्यत्रावादिशब्दानां तत्परिष्वक्तजीवपरत्वाद्भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्यैव
 जीवस्य गमनं सिद्ध्यति । ननु ' तं देवा भक्षयन्ति ' [छा० । ५ । १० ।
 ४] इति सोमराजमात्रं प्राप्तस्य भक्ष्यमाणत्वश्रवणाज्जीवस्यानङ्गी-
 यत्वात्पितृयाणमार्गे सोमराजशब्दनिर्विष्टो न जीव इत्यत्राऽऽह—' माक्तं
 वाऽनात्मविस्थात्तथाहि दर्शयति ' [ब्र० सू० ३ । १ । ५] देवम-
 क्ष्यमाणत्ववचनं माक्तं केवलेष्टादिकारिणामनात्मविस्थात् । अनात्म-
 विष्टं च ' यथा पशुरेवं स देवानाम् । ' [बृ० १ । ४ । १०] इति
 श्रुतिदर्शनेन पशुवद्भोगोपकरणत्वात् ' तं देवा भक्षयन्ति [छा०
 ५ । १० । ४ ।] इत्युक्तिरुपपद्यते । अतो भूतसूक्ष्मपरिष्वक्त एव जीवो
 गच्छतीति स्थितम् । समनन्तराधिकरणे ' यावत्संपातमुपित्वा ' [छा० ५ । १० । ५] इति संपातशब्दितसर्वकर्मफलस्य तत्रैवोपभोक्त-
 व्यत्वश्रवणात् । ' प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचिह करोत्ययम् । तस्मा-
 द्योकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ' [बृ० ४ । ४ । ३] इति बृहदा-
 रण्यके श्रवणात्सर्वं कर्मफलं मुक्त्वा निरनुशय एवावरोहति जीवः ।
 अनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म । एवं पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—' कृतात्पयेऽनुश-
 ययान्बृहस्पतिभ्यां यथेतमनेवं च ' [ब्र० सू० ३ । १ । ८] कृतस्य
 कर्मणोऽत्ययेऽवसानेऽनुशयवानेव प्रत्यवरोहति जीवः । बृहस्पतिभ्यां
 श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ' तद्य इह रमणीयचरणा अम्पाशो ह यत् । ' [छा० ५ । १० । ७ ।] इति श्रुतेः । ' वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः
 प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टवेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्त-
 वित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता विनश्यन्ति ' [गौ०
 त० शा० ११ । २९ ।] इति स्मरणाच्च । अतः सानुशया एवावरो-
 हन्ति । ' यावत्संपातमुपित्वा ' [छा० ५ । १० । ५] इत्यादिकं तु
 फलदानप्रकृतकर्मविशेषविषयम् । तत्र च ' अथैतमेवाध्वानं पुनर्नि-
 यतन्ते यथेतमाकाशम् । ' [छा० ५ । १० । ५ ।] इति श्रवणाद्यथाग-

उपपत्तेः । सुखदुःखोपभोगाय हि तच्छरीरसंसर्गः । न ह्यनुशयिर्न प्रत्या-
 काशादेर्जीवान्तरशरीरभूतस्य तद्भोगाश्रयत्वमस्ति युगपद्भोक्तृद्वयस-
 मावेशे तयोः परस्परविरुद्धभोगार्थितया शरीरोन्मथनप्रसङ्गात् । न त्वव-
 रोहन्तो जीवा एव तत्तदभिमानिदेवता भवन्त्विति चेन्न । सर्गाद्यकाल-
 मारभ्याऽऽपल्यमाकाशाद्यभिमानिदेवतानामनुशयिभ्योऽन्यासां क्लृप्तानां
 सत्त्वेनानुक्षणमवरोहतामनुशयिनामाकाशाद्यभिमानिदेवतात्वानुपपत्तेरि-
 ति स्थितम् । तदुत्तराधिकरणे, आकाशप्राप्तिप्रभृतिषावद्बीद्यादिप्राप्तिः
 किं तत्र तत्र नातिचिरं तिष्ठत्युक्तानियम इति । विशये नियम-
 हेत्यभावादनियम इति प्राप्त उच्यते—‘नातिचिरेण विशेषाय’ [ब०
 सू० ३ । १ । २३ ।] आकाशादितो नातिचिरेण निष्क्रमणम् । कुतः ।
 विशेषात् । उत्तरत्र बीद्यादिप्राप्तौ ‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् ।’
 [छा० ५ । १० । ६] इति विशिष्यकृच्छ्रनिष्क्रमणमभिधानादिति स्थितम् ।
 तदुत्तराधिकरणे ‘धीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते’
 [छा० ५ । १० । ६] इत्यनेनानुशयिनां बीद्यादिभाव उच्यते । तत्र देवो
 जायते मनुष्यो जायत इतिवदिह तिलमाषा इति जायन्त इति श्रवणा-
 द्बीद्यादिशरीरका एवानुशयिनो भवन्तीति प्राप्त उच्यते—‘अन्याधिष्ठिते
 पूर्ववदमिलापात् ।’ [ब० सू० ३ । १ । २४] अवरोहतां जीवानां जीवान्तरा-
 धिष्ठिते बीद्यादौ संश्लेषमात्रम् । कुतः । पूर्ववदमिलापात् । ‘आकाशा-
 द्वायुं वायुर्मृत्वा भूमौ भवति’ [छा० ५ । १० । ५] इत्यादायाकाशा-
 दिभावे हेतुभूतकर्मकीर्तनाभावाद्यथाऽऽकाशादिषु संश्लेषमात्रमेवं बीद्या-
 दिस्थावरभावहेतुभूतकर्मकीर्तनाभावादुत्तरत्रैव ‘रमणीयचरणा अभ्याशो
 ह यत्’ [छा० ५ । १० । ७] इति ब्राह्मणादिभाव एव हेतुभूतस्य
 कर्मणः कीर्तनाद्बीद्यादौ जीवान्तराधिष्ठिते संश्लेषमात्रमेव । ‘अशुद्ध-
 मिति चेन्न शब्दात्’ [ब० सू० ३ । १ । २५] इष्टादिकर्मणां पञ्चहिं-
 सामिश्रत्वाद्धिसायाश्च न हिंस्यादिति निषिद्धत्वेनानिष्टसाधनत्वेन पाप-
 तया तन्मिश्रतया सुकृतकर्मणामशुद्धत्वात्सुकृतांशस्य फलं स्वर्गेऽनुभूय
 हिंसांशस्य स्थायरादिभावलक्षणं फलमवरोहन्ननुभवतु । ननु न हिंसा-
 दिति निषेधो विहितकत्वर्थहिंसाव्यतिरिक्तहिंसाविषयोऽस्त्विति चेन्न ।
 पुष्ट्यादिरूपेष्टसाधनघृतपानादौ मोहादिरूपानिष्टसाधनत्वस्य च दर्शनेनो-
 त्सर्गापवाद्व्यापस्यात्रानवतारात् । अतो यागाद्यनुप्रविष्टहिंसाफलत्वेन
 स्थावरभावोऽनुमोक्तव्य इति चेन्न । प्रवर्तनानिवर्तनारूपविधिनिषेधयो-

रविरोधस्य घट्टमशक्यतया सति च विरोधे सामान्यविशेषन्यायेन निषेधस्य विहितहिंसाव्यतिरिक्तविषयत्वात् । वस्तुतस्तु यागीयपशुहिंसाया हिंसात्वस्यैवाभावात् । 'नवा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि' इति मन्त्रवर्णाद्धिंसात्वाभावस्यैव प्रतिपादनात् । न रिष्यसि न हिंस्वस इति हि तस्यार्थः । ननु न रिष्यसीति मन्त्रवर्णाद्धिंसात्वाभावाम्बुपगमेन म्रियस इति मन्त्रवर्णात्तन्मरणस्य मरणत्वमपि न स्यात् । ततश्च न म्रियस इतिवन्न रिष्यसीत्युक्तिरप्यौपचारिकीत्येवाऽऽश्रयणीयं मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वस्यैव हिंसात्वरूपत्वादिति चेन्न । मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वं हिंसात्वम् । कशाताडनतप्तसंदंशिनीपादनक्रकचदारणादीनां मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारत्वाभावेन हिंसात्वाभावप्रसङ्गात् । अतस्तीव्रदुःखजननौपयिकव्यापारत्वस्यैव हिंसापदप्रवृत्तिनिमित्तत्वे वक्तव्ये घणादिचिकित्सके तादात्विकतीव्रवेदनोत्पादके हिंसकत्वव्यपदेशाभावेन बलवत्तद्विनाशनकत्वे सति तद्देवनाजनकव्यापारत्वं तद्धिंसात्वमित्याश्रयणीयम् । ततश्च घणचिकित्सया जायमानस्याऽऽरोग्यरूपहितस्य तादात्विकवेदनापेक्षया बलवत्त्वान्न हिंसात्वमिति स्थिते पशुनरणानुकूलव्यापारस्य पशुवेदनाजनकत्वेऽपि स्वर्गप्राप्त्यादिलक्षणस्य पशुहितस्य बलवत्त्वान्न हिंसात्वम् । अतो न हिंस्यादितिनिषेधाविषयत्वात्कत्वर्थपशुहिंसाया न पापजनकत्वमिति तद्देशेनायरोहतोऽनुशयिनो न व्रीह्यादिमाषापत्तिरिति । 'रेतःसिग्योगोऽथ' [ब० सू० ३ । १ । २६] इतश्चौपचारिकं व्रीह्यादिजन्मवचनम् । व्रीह्यादिमाषवचनानन्तरं 'यो यो ह्यन्नमसि यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' [छा० ५ । १० । ६] इति रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां श्रूयमाणो यथा न मुख्य एवं व्रीह्यादिमाषोऽपीत्यर्थः । 'योनिः शरीरम्' [ब० सू० ३ । १ । २७] योनिप्राप्तेः पश्चादेवानुशयिनां ब्राह्मणादिशरीरप्राप्तिश्रवणात्ततः प्राङ्मन शरीरपरिग्रहः किंतु संश्लेषमात्रम् । पुण्यापुण्यकर्मणी तत्रैव सुखदुःखे । यत्र सुखदुःखे तत्रैव तद्देतुभूतं शरीरम् । ततश्चाऽऽकाशतदिषु कर्मकीर्तनाभावेन तत्फलभूतसुखाद्यनुभवाभावाच्च तद्देतुभूतं शरीरमिति न योनिप्राप्तेः प्राक्शरीरपरिग्रह इति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ १० ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुपि-
रिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो
बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला
महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसां चक्रुः
को न आत्मा किं ब्रूतेति ॥ १ ॥

उपमन्युसुतः प्राचीनशालनामा पुलुपसुतः सत्ययज्ञनामा भाल्लविभुत
रिन्द्रद्युम्ननामा शार्कराक्ष्यसुतो जननामाऽश्वतराश्वसुतो बुडिलनामा त
एते पञ्चापि महाशाला महागृहस्थतया विस्तीर्णशालासंपन्नाः प्रसिद्धा
इति यावत् । महाश्रोत्रिया अतीव श्रुताध्ययनसंपन्नाश्चैकत्र संभूपाऽऽ-
स्माकमन्तर्यामितयाऽऽत्मभूतं ब्रह्म किमिति विचारं कृतवन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

ते ह संपादयांचक्रुः ।

त एवं मीमांसित्वा निश्चयमलभमाना आत्मभूतब्रह्मोपदेष्टारं कंचि-
त्संपादितवन्तो निश्चितवन्त इत्यर्थः । किमिति तत्राऽऽह—

उद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीम-
मात्मानं वैश्वानरमध्येति त* हन्ताभ्याग-
च्छामेति त* हाभ्याजम्भुः ॥ २ ॥

हे भगवन्तः । अरुणसुत उद्दालकनामेदानीं वैश्वानरमात्मानमध्येति ।
इक् स्मरण उपास्त इत्यर्थः । यद्वा, इण् गताविति गत्यर्थानां ज्ञानार्थ-
त्वादवगच्छतीत्यर्थः । तमुद्दालकमभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजम्भुस्तमभ्या-
गतवन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

स ह संपादयांचकार प्रक्षयन्ति माभिमे
महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव
प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमाभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

स होद्दालकस्तानागतान्बृहते महाशाला महाश्रोत्रिया मां वैश्वानरमा-
त्मानं प्रक्षयन्ति नाहं नत्सर्वं प्रतिपद्ये तेभ्यो वक्तुं शक्नोमि । अतोऽन्यं तद-
भिज्ञं कंचिदुपदिशानीत्येवं संपादितवान्निश्चितवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

तान्होवाच ।

स उद्दालक औपमन्यवादीन्प्रत्याह । किमिति—

अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममान्मानं
वैश्वानरमध्येति तश्च हन्ताभ्यागच्छामेति ।

केरुपस्यापत्यं कैकेयः । शिष्टं स्पष्टम् ।

तश्च हाभ्याजमुः ॥ ४ ॥

तमश्वपतिमुद्दालकपक्षास्तेऽभ्यागतवन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथग्दर्हाणि कारयांचकार ।

प्राप्तेभ्यस्तेभ्यो महर्षिभ्यः कैकेयः पृथक्पृथक्पूजां मृत्युः पुरोहितादि-
भिश्च कारितवान् ।

स ह प्रातः संजिहान उवाच ।

अन्येद्युः प्रातःकाले स्वमवनं संजिहानस्त्यजन्, स्वमवनाद्भिर्गत्य
तत्समीपमेत्येति यावत् । तान्महर्षीनुवाचेत्यर्थः । किमिति तत्राऽऽह—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मयपो नानाहिताग्नि-
र्नापिद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽ-
हमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भ-
गवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥ ५ ॥

हे भगवन्तः पूजार्हा मदधिष्ठिते जनपदे चोरो वा दानशून्यो वा
मद्यपायी वा सत्यां योग्यतायामनाहिताग्निर्वा भेदास्पयनादिशून्यस्त्रय-
णिक्तो वा परदारगन्ता वा पुंश्चली वा, एवमाद्या दुष्टा न सन्ति न
हि तेर्द्धं धनमुपजीयामि । अतो मम प्रतिग्रहयोग्यताऽस्ति । अचिरेणैव
कालेन धानं करिष्यामि । तत्र याग एकैकस्मा ऋत्विजे यावद्भनं
दास्यामि तावद्भगवद्भ्यः प्रत्येकं दास्यामि तावत्कालमग्रेव वसन्तु
धानं च पश्यन्तिवति च प्रार्थितयानित्यर्थः । भगवता च भाष्यकृता—न
मे स्तेन इत्यादिना यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मीत्यन्तेनाऽऽत्मनो
प्रतप्यतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव धानाविन्दिरपि प्रतिपिद्धस्य
परिहरणीयतां विहितस्य कर्तव्यतां च प्रतिज्ञाप्य यावदेकैकस्मा ऋत्विजे
धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इत्यर्थोपदिति
भाषितम् ॥ ५ ॥

ते होचुः

त ऋषयो राजानं प्रत्यूचुः । किमिति तद्वाह—

येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत् हैव वदेदात्मानमेवेमं

वैश्वानरं संप्रत्यध्येपि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

येनार्थेन प्रयोजनेन यत्प्रयोजनमुद्दिश्य पुरुष आगच्छति तमेव पुरुषार्थं तस्य कुर्यात् । समीहितं हि कर्तव्यं भवति । अस्माकं वैश्वानर आत्मा जिज्ञासितव्यः । त्वं च तमात्मानमधुनोपास्ते । न च ते तज्ज्ञानमपला-
पार्हं तमेव न उपदिश न प्रयोजनान्तरमित्यर्थः । विश्वान्नरान्नपतीति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा विश्वानरः । विश्वानर एव वैश्वानरः ।
रक्ष एव राक्षसः, वय एव वायस इतियत् ॥ ६ ॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ।

तेषामभिमानं परिशोध्य श्वः प्रतिवचनं वास्यामीति मत्वा प्रातः
प्रश्नस्य प्रतिवचनं कर्तास्मीत्युवाचेत्यर्थः ।

ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्ने प्रतिवक्त्रिरे ।

ते च राज्ञोऽभिप्रायज्ञाः समिद्भारहस्ता अपरेद्युः पूर्वाह्ने राजानं
शिष्यमावमेत्योपागतवन्तः ।

तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

राजा तु तान्समित्पाणीनुपयामेति वदतस्तत्तत्स्वजात्यभिमानानु-
द्दीक्ष्य तेषामुपदेवायोग्यतां ज्ञात्वाऽब्राह्मणेन न ब्राह्मण उपमेतव्य इति
शास्त्रार्थं ज्ञात्वा तैः समर्पितं समिदाद्युपायनमस्वीकृत्यैव मेवैवेतद्वक्ष्य-
माणमुवाचेत्यर्थः । यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो
महाशालत्याद्यभिमानं हित्वा समिद्भारहस्ता जातितो हीनं राजानं
विद्याधितयोपजग्मुस्तस्मात्तथाऽन्यैर्विद्योपादित्सुभिर्मवितव्यमित्यारया-
यिकया सूच्यते ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अथ कैकेयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपादिदिक्षुर्विशेषप्रश्नान्यथानुपपत्त्या
वैश्वानरात्मन्येतैः किञ्चिज्ज्ञातं किञ्चिदज्ञातमिति विज्ञाय ज्ञातांशद्वमु-
त्सया तानेकैकशः प्रष्टुमुपक्रमते । तत्रौषमन्यव पृच्छति—

औषमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्ते इति

दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच ।

हे भगवः, द्युलोकशरीरकं वैश्वानरमहमुपास्ते इत्युवाचेत्यर्थः ।
कैकेय आह—

एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते ।

यं द्युलोकावच्छिन्नं वैश्वानरमात्मानं त्वमुपास्ते, एष वैश्वानर
आत्मा सुतेजाः शोभनं तेजो यस्य स सुतेजाः । द्युलोको हि सूर्य-
चन्द्रादितेजोयुक्ततया सुतेजा भवति । यतश्च द्युलोकावच्छिन्नवैश्वानर
आत्मा त्वयोपास्यमानः सुतेजस्त्वगुणयोगेन सुतेजोनामा वैश्वानरः ।

तस्माच्च सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

अत्र सुतप्रसुताहुतशब्दा एकाहाहीनतत्रकर्मगतामिषवणपराः सुत-
शब्दवत्त्वसाम्प्रात् । सुतेजस्त्वोपासनायाः सुतादिकलकत्वोपपत्तिः ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् ।

तदुपासनाधैमवेनाशं लौकिकं भोग्यमनुभवसि प्रियं पुत्रादिकं च
पश्यसीत्यर्थः । एवमन्योऽपि यस्त्वमिष त्वदुपास्यवैश्वानरमुपास्ते सोऽपि
त्वमिवाज्ञादनप्रियदर्शनब्रह्मवर्चसशालिसंतानवांश्च भवतीत्याह—

अत्स्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं

कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते ।

उक्तोऽर्थः । एवं तदुक्तमर्थमद्वीकुर्वन्निव फलदर्शनेन तममिष्टुरीकृत्य
यत्तत्त्वमंशमुपदिशति—

मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते

व्यपतिष्पयन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्वया वैश्वानरबुद्धोपास्यमान एष द्युलोकः परिच्छिन्न आत्मनो
वैश्वानरस्याऽऽत्मनो मूर्धाऽवयवभूतो न तु स एव वैश्वानर आत्मा । एत-
दर्थनिर्णयार्थं तव मत्समीपानागमने तत्र वैश्वानरात्ममूर्धरूपावयवभूते
द्युलोके कृत्स्नवैश्वानरबुद्धिं कुर्वतस्तव विपरीतविद्यावशादनर्थः स्यात् ।
अतः साध्वकार्णीर्यतो मामागतोऽसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुपिं प्राची-
नयोग्यं कं त्वमात्मानमुपास्ते इति ।

प्राचीनयोग्येति सत्ययज्ञस्य नामान्तरम् ।

आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्व-
रूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते
तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽस्त्यन्नं पश्यसि प्रिय-
मन्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एत-
मेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्टेतदात्मन इति
होवाचाऽन्धो भविष्यन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

रूप्यत इति रूपं विश्वं रूपं प्रकाश्यं यस्य स विश्वरूपः । आदि-
त्यस्य विश्वप्रकाशकत्वाद्विश्वरूपत्वम् । एतदुपासनात्तव कुले बहु विश्व-
रूपं विश्वप्रकाशकं पुत्ररत्नादिकं दृश्यते । अश्वतरीभिर्युक्तो रथोऽश्वत-
रीरथः । प्रवृत्तस्त्वामनुवृत्तः । दासीभिर्युक्तो निष्को हारः । दासीनिष्क-
स्त्वामनुप्रवृत्तः । शिष्टं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथ होवाचेन्द्रियुघ्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपथ कं त्वमा-
त्मानमुपास्ते इति वायुमेव भगवो राजन्निति
होवाचैष वै पृथग्वर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमा-
त्मानमुपास्ते तस्मात्त्वां पृथग्वलय आय-
यन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं भव-
त्पस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते प्राणस्त्वेव आत्मन इति होवाच प्राणस्त
उदकमिष्ययन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

घायोर्विविधगतिस्वभावत्वात्पृथग्वर्त्मत्वम् । त्वां पृथङ्जनानादिकस्था
ब्रह्मात्मादिलक्षणा बलय आययन्त्यागच्छन्ति रथपङ्क्तयोऽपि त्वामनु-
यान्ति ॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अथ होवाच जनः शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमु-
पास्ते इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवा-
चेव वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमु-
पास्ते तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥
अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं भव-
त्पस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-

मुपास्ते संदेहस्त्वेप आत्मन इति होवाच
संदेहस्ते व्यशीर्ययन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

भूतान्तरेभ्य आकाशस्य महत्त्वाद्बहुलत्वम् । संदेहो मध्यकायः । मध्य-
कायो ह्युत्तरापरकाययोः कानुमविष्ट इति संदिह्यमानत्वात्संवेह इत्यु-
च्यते । व्यशीर्यद्विशीर्णोऽभविष्यत् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अथ होवाच बुद्धिलमाश्वतराश्विं वैषाप्रपय कं
त्वमात्मानमुपास्ते इत्यप एव भगवो राजन्निति
होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमा-
त्मानमुपास्ते तस्मात्त्वं रयिमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥
अत्स्यन्नं पश्यसि त्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं
भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं
वैश्वानरमुपास्ते वस्तिस्त्वेप आत्मन इति होवाच
वस्तिस्ते व्यभेत्स्ययन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अपां वेगत्वाद्गवित्वम् । विसर्गश्छान्दसः । धनप्राप्तिहेतुत्वाद्वा रयित्वं
रयिमान्धनवानित्यर्थः । वस्तिर्गृध्रस्थानं शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अथ होवाचोदालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मान-
मुपास्स इति पृथिवीमेव जगवो राजन्निति होवाचैष
वै प्रतिष्ठाऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्ते
तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥
अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्स्यन्नं पश्यति प्रियं जव-
त्स्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ
ते व्यम्लास्येतां यन्मां नाऽऽगमिष्य इति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

प्राण्याधारत्वात्पृथिव्याः प्रतिष्ठात्वम् । व्यम्लास्येतां म्लानौ म्लथा-
यमपिष्यतां शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

तान्होवाच ।

अथ राजा तानृषीन्पुनरुवाचेत्यर्थः ।

एते वै खलु यूयं पृथगिवेममा-
त्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽजमत्य ।

एतानृषा यूयमिदं वैश्वानरमात्मानं पृथगिव विद्वांसो भिन्नभिन्नतयो-
पासीनाम्नदानुरूपेण लौकिकं योगमनुभवथ । पूर्वव्रातस्यन्नं पश्यसीति
प्रतिपुरुषमुक्तस्याव्रातयेति बहुवचनेन निर्देशः । अव्रातमत्येतत्प्रियं
पश्यथेत्यस्याप्युपलक्षणम् ।

यत्तेजोमयं प्रादेरनात्रमग्निविमाननात्मानं

वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु
भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमति ॥ १ ॥

सर्वाभिव्याप्ततया विगतमानं विश्वेषां नराणां नेतारमेतमात्मानं
प्रादेशमात्रं द्युलोकादिप्रदेशसंबन्धिनी प्रादेशी । प्रादेशी मात्रा यस्य तं
द्युप्रभृतिप्रदेशपरिच्छिन्नं य उपास्ते स सर्वलोकसर्वभूतसर्वात्मवर्तिब्रह्म-
रूपमन्नमति । अनुभवतीत्यर्थः । अनेन वैश्वानरोपासनस्य ब्रह्मप्राप्ति-
फलकत्वमुक्तं भवति । मगवता माप्यकृता—सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु
भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु च वर्तमानं यदन्नं भोग्यं तदति । सर्वत्र वर्तमानं
स्वयमेवानवधिकातिशयानन्दब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्यैरा-
त्मभिः प्रत्येकमनन्धसाधारणमन्नं मुज्यते तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न
गृह्यत इति भाषितम् । अत्र 'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता
अभिसंपन्नास्तथा नु य एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपाद-
यिष्यामीति । स होवाच । मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैव वा अतिष्ठा वैश्वा-
नर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैव वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके
उपदिशन्नुवाचैव वै घृथश्चर्माऽऽत्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुप-
दिशन्नुवाचैव वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैव वै
रपिर्वैश्वानर इति । चुबुकमुपदिशन्नुवाचैव वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति ।
[शत० १० । ६ । १ । १० । ११] इति वाजसनेयकोक्तमूर्धचुबुकान्त-
राद्यप्रतिष्ठितत्वलभ्यं प्रादेशमात्रत्वं नोपजीव्यं द्युप्रभृतिप्रदेशसंबन्धित्व-
मात्रस्य पौगिकार्थस्य प्रकरणतः प्रतीतिः । उक्तं च व्यासार्थैः सर्ववेदा-
न्तप्रत्ययाधिकरणे—यस्त्वेतमिति न वाजसनेयिकोक्तानुवादः, स्वशा-
स्त्रावाक्य एव पूर्वप्रतिपादितस्यानुवादेन फलसमर्पकत्वोपपत्तेरिति ।
न चापरिच्छिन्नस्य परस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसंबन्धिन्या
मात्रया कथं परिच्छिन्नत्वमिति चोदनीयम् । परिच्छिन्नत्वे बुद्धिसौकर्य-
उक्षणाभिव्यक्तेः संभवात् । सूत्रितं च 'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः'
[ब० सू० १ । २ । २९] इति । बुद्धिसौकर्यलक्षणाभिव्यक्तेर्हेतोरभि-
विमानस्यापि ब्रह्मणः प्रादेशमात्रत्वमुपादिश्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो
मन्यत इति सूत्रार्थः । अभि-यक्त्यर्थं परिच्छिन्नत्वोपदेशेऽपि मूर्धप्रभृत्य-
वयवविशेषैः पुरुषविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थमिति न चोदनीयं
तथोपासनार्थत्वात् । सूत्रितं च 'अनुस्मृतेर्वादरिः' [ब० सू० १ ।

२। ३०] इति । अनुस्मृतिरूपासनम् । अनुस्मृतेर्हेतोः पुरुषविधत्वि-
रूपणमिति वादरिराचार्यो मन्यत इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

अथ प्राणाहुत्याधारत्वत्रिविधाशित्वपरिकल्पितजाठराग्निशरीरकस्य-
मूर्धत्वादिविशिष्टात्ममाविते स्वशरीरे क्रियमाणप्राणाद्याहुतिभिर्वैश्वान-
रविद्यानिष्ठेन परमात्मा समाराधनीय इति प्रतिपादयति—

तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य
मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा
संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव
पादायुर एव वेदिर्लोमानि बहिर्हृदयं गार्हपत्यो
मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्या-

ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

एतस्याऽऽत्मन उपासकस्याऽऽत्मनो मूर्धैव तस्य वैश्वानरस्य 'मूर्धा
त्वेप आत्मनः' [छा० ५। १२। २] इति वैश्वानरात्ममूर्धत्वेन
निर्दिष्टः सुतेजा इत्यर्थः । न चात्र तस्य ह वा एतस्येति पदयोः सामा-
नाधिकरण्यमेवास्तु न त्वेतस्येति शब्दस्योपासकपरामर्शित्वमिति शङ्क-
यम् । उर एव वेदिरित्यादावुपासकोरः परामर्शस्यावश्यंभावात् । मूर्धै-
वेत्यत्राप्युपासकस्य मूर्धैव परामृश्यते । तस्मादेतस्येति शब्दस्योपासकपर-
त्वमेव सिद्धम् । इह हि भगवता भाष्यकृता 'आमनन्ति च' [ब्र० सू०
१। २। ३२] इति सूत्रव्याख्याने—एवं पुरुषं ह्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वा-
नरमास्मिन्नुपासकशरीरे प्राणाहुत्याधारत्वायाऽऽत्मनन्ति च 'तस्य ह वा
एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' [छा० ५। १८। २]
इत्यादिना । अयमर्थः—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिधिमानमात्मानं
वैश्वानरमुपास्ते' [छा० ५। १८। १] इति त्रैलोक्यशरीरकस्य
परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय सर्वेषु लोकेष्वित्यादिना ब्रह्मा-
तिफलमुपदिश्यास्पेवोपासनमप्याह्नमूतं प्राणाग्निहोत्रं तस्य ह वा एत-
स्येत्यादिनोपदिशति । यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभू-
तान्दृष्ट्यादित्यादीन्सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासकशरीरे मूर्धादिपा-
दान्तेषु संपादयति । मूर्धैव सुतेजा उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धमृता

द्यौरित्यर्थः । चक्षुर्विश्वरूपः । आदित्य इत्यर्थः । प्राणः पृथग्वर्त्मा । वायुरित्यर्थः । सदेहो बहुलः । उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूताकाश इत्यर्थः । वस्तिरेव रयिः । अस्य वस्तिरेव तदवयवभूता आप इत्यर्थः । पृथिव्येव पादौ । अस्य पादावेव तत्पादभूता पृथिवीत्यर्थः । एवमुपासकस्य शरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरकं वैश्वानरं संनिहितमनुसंधाय स्वकीयान्युरोलोमहृदयमनआस्थानि प्राणाहुत्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य वेदिर्वाहिर्गार्हपत्यान्वाहार्यपचनाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिकल्प्य प्राणाहुतेश्चाग्निहोत्रत्वं परिकल्प्यैवंविधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति 'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः' इत्यादिनोपदिश्यत इति भाषितम् । उरःप्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशश्च प्राणाहुतेराग्निहोत्रत्वसंपत्त्यर्थ इति 'संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति' [ब० सू० १।२।३] इति सूत्रितम् । 'स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति' [छा० ५।२।४।१] इति दर्शिताग्निहोत्रत्वसंपत्तेर्हेतोर्वेद्यादित्वोपदेश इति जैमिनिर्मन्यत इति सूत्रार्थः । हृदयं गार्हपत्यः । हृदयफलमावच्छिन्नजाठराग्निर्गार्हपत्यः । मनोऽन्वाहार्यपचनः । मनइन्द्रियावच्छिन्नजाठराग्निर्दक्षिणाग्निः । आस्पमाहवनीयः । आस्यावच्छिन्नजाठराग्निराहवनीय इत्यर्थः । गार्हपत्यादिपरिक्लृप्तस्य सजातीयजाठर एवोचितत्वाद्द्वैश्वानरस्य हृदयादिस्थस्याग्नित्रयकल्पनं क्रियत इति भाषितत्वाद्योक्त एवार्थः । अत्र च हृदयादिशब्दास्तदवच्छिन्नजाठराग्निशरीरकपरमात्मपर्यन्ता इति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमपाठकस्याष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम् ।

तत्तस्य पुंसो यद्भक्तं यदन्नं भोजनकाले प्रथमत आगच्छेत्तद्धोमीयं होमसाधनं तेन होतव्यमित्यर्थः ।

त यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

प्राणाय स्वाहेति प्रथमायामाहुतौ हुतायां प्राणस्तृप्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्या-
दित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति यौस्तृप्यति दिवि
तृप्यन्त्यां यत्किंच यौश्चाऽऽदित्यश्चाधितिष्ठत-
स्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशु-
भिरन्नायेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्यैकोन-
विंशः खण्डः ॥ १९ ॥

एवं प्राणे तृप्ते सति क्रमाच्चक्षुरादित्यो द्यौश्च तृप्यन्ति । ततश्च
द्व्यादित्याम्यामधिष्ठितं यस्तुजातं च तृप्यतीत्यर्थः । तस्मिन्सर्वस्मिन्-
स्तृप्ते तस्य तृप्तिमनु प्रजापश्वादिभिर्होताऽपि तृप्यतीत्यर्थः । अत्र प्राण-
चक्षुराविशब्दास्तत्तदभिमानिदेवतापरा अचेतनानां तृप्तेरसंभवादिति ।
एषमुत्तरत्रापि ब्रह्मण्यम् ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्यैको-
नविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्-
व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥
व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति
चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमासि तृप्यति दिशस्तृ-
प्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्र-
माश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति
प्रजया पशुभिरन्नायेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
विंशः खण्डः ॥ २० ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयाद-
पानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्या-
मग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां
तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठ-
तस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया
पशुभिरन्नायेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्यै-
कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्स-
मानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥
समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति
पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति
विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युश्च पर्जन्यश्चा-
धितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति
प्रजया पशुभिरन्नायेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ।

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य द्वाविंशः
खण्डः ॥ २२ ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदा-
नाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां
वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यन्त्याकाशस्तृप्यन्त्या-

काशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाऽऽकाशश्चा-
 धितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति
 प्रजया पशुभिरन्नायेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥
 इति च्छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य त्रयो-
 विंशः खण्डः ॥ २३ ॥

ब्रह्मवर्चसेन तेजसा वृत्ताध्ययननिमित्ततेजसेत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकस्य
 त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति ।

उरःप्रभृतीनामग्निहोत्रोपकरणवेद्यादितामजानन्यः प्राणाग्निहोत्रमनु-
 तिष्ठतीत्यर्थः ।

यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयाच्चादत्तत्स्यात् ॥ १ ॥

तदनुष्ठानं भस्माद्भुतिसमानं स्यादित्यर्थः । निष्फलमिति यावत् ॥ १ ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु
 लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

सर्वात्मकभगवदाराधनेन सर्वमाराधितं भवतीति हुतप्रकर्षांक्तिः ॥ २ ॥

तयथेपीकानूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतेव२

हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य

एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

इपीकाया मुद्धान्तर्वातितुणविशेषस्य तूलमग्नीं प्रक्षिप्तं सद्यो दह्यत एव
 सर्वाणि पापान्येतादृशविद्यापूर्वकप्राणाग्निहोत्रानुष्ठानेन दग्धानि भव-
 न्तीत्यर्थः । धर्मोपासनफलस्य सर्वपापमदाहस्य प्राणाग्निहोत्रे कीर्तन-

मङ्गिफलेनाङ्गस्य स्तुत्यर्थम् । ततश्चानेनापि प्राणाग्निहोत्रस्य वैश्वानर-
विद्याङ्गत्वं ज्ञापितं भवति ॥ ३ ॥

वैश्वानरविद्यां स्तौति—

तस्माद् ह वैविद्ययापि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छे-
दात्मानि हेवास्य तद्वैश्वानरे हुतः स्यादिति ।

उच्छिष्टप्रदानायोग्याय चण्डालायोच्छिष्टप्रदानमपि वैश्वानर आत्म-
न्यन्नं जुहोमीति बुद्ध्याऽनुष्ठितत्वाच्चाधर्माय भवतीत्यर्थः ।

तदेव श्लोकः ।

तदुक्तप्राणाग्निहोत्रविषय एव श्लोकः श्रूयत इत्यर्थः ॥ ४ ॥
यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एव सर्वानि
भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमप्रपाठकस्य
चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमः प्रपाठकः
समाप्तः ॥ ५ ॥

यथा बुभुक्षिता बालाः कदा माताऽन्नं प्रयच्छतीति मातरं परित उपा-
सत एवं सर्वाणि भूतान्येवंविदः प्राणाग्निहोत्रमुपासत इति विदुषः प्राणा-
ग्निहोत्रस्तुत्यर्थोऽयं श्लोक इत्यर्थः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था । एतत्ख-
ण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते समन्वयाध्याये—‘पस्त्वे-
तमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते’ [छा० ५।१।८।१]
इत्यत्र श्रुतस्य वैश्वानरशब्दस्य नार्थो निर्णेतुं शक्यः । ‘अयमग्निर्वैश्वा-
नरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते’ [बृ० ५।१।१] इति वैश्वानरश-
ब्दस्य जाठराग्नायपि प्रयोगदर्शनात् । ‘विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा
वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्’ [ऋ० सं० १०।८।८।१२] इति मृततृतीयेऽपि
प्रयोगदर्शनात् ‘वैश्वानरस्य सुमती स्याम राजा हि कं भुवनानाम-
भिधीः’ [ऋ० सं० १।९।८।१] इति देवतायामपि प्रयोगदर्शनात् ‘तदा-

एवं सूत्रकारोऽग्नित्रयपरिकल्पनादिजाठराग्न्याद्यनन्यथासिद्धलिङ्गैः 'मा-
णस्तथाऽनुगमात्' [ब० सू० १।१।२८] इत्यधिकरणोक्तन्यायेन
जाठराग्निविशिष्टः परमात्मैवेहोपास्य इति तथा दृष्ट्युपदेशादिति सूत्र-
खण्डेन सिद्धान्तमाविष्कृत्य लिङ्गान्यथासिद्धिं संभावयतो जैमिनेर-
ग्निशब्दनिर्वाहप्रकारं दर्शयति—'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः' [ब० सू०
१।२।२८] । सामुपास्व प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मेत्यादिशब्दवदग्निशब्दस्याप-
र्यवसानवृत्त्या न तच्छरीरकपरमात्मपरत्वमाश्रयणीयम् । अग्रं नयती-
त्यग्निरिति योग्यपुत्पत्त्याऽग्निशब्दस्याग्नियवधानमन्तरेण साक्षादेवाग्नि-
शब्दस्य परमात्मपरत्वसंभवं जैमिनिराचार्यो मन्यते । अत्र व्यासार्थैः—
अग्निलिङ्गे विद्यमानेऽग्निशब्दस्यापर्यवसानवृत्त्याऽग्निशरीरकपरमात्मपर-
त्वमेवोचितं तादृशानन्यथासिद्धलिङ्गराहित्यस्थलेऽयमपि न्यायोऽस्तीति
व्युत्पादनार्थमिहैतदुपन्यस्तं न तु प्रकृतोपयुक्ततयैत्युक्तम् । 'अभिष्यक्ते-
रित्याश्मरव्यः' [ब० सू० १।२।२९] । 'अनुरमृतेर्बाह्विः' [ब० सू०
१।२।३०] । 'संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति' [ब० सू० १।२
३१] । 'आमनन्ति चैनमस्मिन्' [ब० सू० १।२।३२] इति चत्वार्यपि
सूत्राणि पूर्वत्र व्याख्यातानि । अतो वैश्वानरः परमात्मेति स्थितम् ॥१॥

तथा गुणोपसंहारपादे ह्यमूर्धादिव्यस्तोपासनेष्वौपमन्यवादिभिरुक्तेषु
'अत्यन्नं पश्यति मिथं भयत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वान-
रमुपास्ते' [छा० पा० १२।२] इति व्यस्तोपासनेषु फलभयणाद्यस्तोपा-
सनमेव प्रामाणिकम् । 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभियिमानमात्मानं
वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्यात्मस्यन्नमसि'
[छा० पा० १८।१] इति व्यस्तोपासनसमुदायानुवाद एव न तु समस्तो-
पासनविधिः । अथवाऽनेन वाक्येन समस्तोपासनमपि विधीयतेऽतो
द्वयमपि प्रामाणिकम् । अल्पफलार्थमिव्यस्तोपासनं कर्तव्यमिति पूर्व-
पक्षे प्राप्त उच्यते—'भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति' [ब०
सू० ३।३।५७] भूम्नः सामस्त्यस्य ज्यायस्त्वं प्रामाणिकत्वम् । तथा हि
दर्शयति श्रुतिव्यस्तोपासनेऽनर्थं ब्रुवती 'मूर्धा ते व्यपतिष्यन्नमां नाऽऽ-
गमिष्य इति' [छा० पा० १२।२] 'अन्धोऽभविष्यो यन्मां नाऽऽगमिष्य
इति' [छा० पा० १३।२] इत्यादिना । न चेदं न हि निन्दान्यायेन सम-
स्तोपासनस्य प्रशंसार्थमेव किं न स्यादिति वाच्यम् । अग्निहोत्रं प्रकृत्य
श्रुतेन 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयाध्वीधुकयवाग्वा वा जुहुयान्न द्राम्यान्प-

शृन्हिनास्ति नाऽऽरण्यान्' इति वाक्येन जर्तिलगवीधुकशब्दवाच्यारण्य-
 तिलारण्यगोधूमकृतयवाग्वोर्विकल्पेनाग्निहोत्राहुती द्रव्यत्वविधाने विस्प-
 टलिङ्गप्रत्ययेन ग्राम्यारण्यपशुहिंसारहिततया तयोः स्तवने च प्रतीयमा-
 नेऽपि 'अथो खल्याहुः अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' 'पयसाऽ-
 ग्निहोत्रं जुहुयात्' इति तदनन्तरं जर्तिलादिप्रतिक्षेपेण पयोविधिदर्शना-
 त्त्वेकवाक्यतया जर्तिलयवाग्व्या जुहुयादित्यादेर्ग्राम्यारण्यपशुहिंसाराहि-
 त्येन प्रशस्ततया होमार्हा अपि जर्तिला गवीधुकाश्च पक्षपेक्षया दुष्टास्त-
 त्वस्य एव प्रशस्तमिति पयःस्तुत्यर्थत्वमेकवाक्यानुरोधादिति । 'न चेदन्यं
 प्रकल्पयेत्' । 'प्रकल्पतावर्थवादः स्यात्' [जै० १० । ८ । ४।७] इति पूर्व-
 तन्त्राधिकरणे किञ्चिद्विधिपूर्वकं तस्मिन्दायां विध्यन्तरश्रवणे सति तदे-
 कवाक्यतानुरोधात्पूर्वप्रवृत्तयोर्विधिनिन्दयोस्तदर्थवादत्वमिति समर्थितं
 तद्वदेवेहापि युक्तम् । ननु जर्तिलगवीधुकयोः पयसा सह संबन्धमा-
 वाज्जर्तिलगवीधुकयवागूधिधानयोरर्थवादतयैव विध्येकवाक्यता समर्थ-
 नीयेति तत्र तथाऽस्तु नाम । इह तु भूमविद्यायां नामादीनां सत्येन
 ब्रह्मणा सह भूपस्वायधित्वेन संबन्धानां प्रासङ्गिकतदुपासनाविधिव-
 त्समस्तोपासनविषयेण वैश्वानरात्मना द्रव्यादित्यादीनां तदवयवत्वेन
 संबन्धानां प्रासङ्गिकोपासनाविधिः किं न स्यादिति चेन्नैवम् । व्यस्तो-
 पासननिन्दनेन 'भूर्धा त्वेव आत्मन इति होवाच' [छा० ५।१२।२]
 इत्यादिवाक्येषु तु शब्दकृतेन द्रव्यादित्यादीनां स्वतन्त्रोपास्यत्वव्यव-
 हरेदेन 'तान्होवाचते वै खलु यूयं पृथग्वेवमात्मानं वैश्वानरं विद्वा-
 सोऽस्ममथ' [छा० ५।१८।१] इति व्यस्तोपासनानां भ्रममूलत्वोद्घा-
 टनेन च भूमविद्याविषयस्य बहुविधस्य तत्त्वेन जर्तिलयवागून्यायस्यैव
 प्रवृत्त्याचिरपात्कृतम् । यथा—'वैश्वानरं द्वादशरुपालं निर्वपेत्पुत्रे
 जाते' इति विहितस्य क्रतोयंदृष्टारुपालो भवतीत्यादिरर्थवादो न
 त्वष्टारुपालादिद्रव्यविधायकः । एवमत्रयं पश्यति मियमित्यादिव्यस्तो-
 पासनश्रवणमप्यर्थयाद एवेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठस्य
 चतुर्विंशः खण्डः ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पञ्चमप्रपाठकः
 समाप्तः ॥ ५ ॥

सद्विद्यामुपदेष्टुमाख्यायिकामाह—

श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस ।

हः प्रसिद्ध्यर्थः । अरुणपुत्रस्योद्दालकस्य पुत्रः श्वेतकेतुनामा बभूवे-
त्यर्थः ।

त२ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्या-
स्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

पिता द्वादशवर्षमनुपनीतमनधीतिनं पुत्रं श्वेतकेतुं प्रति हे सोम्य
सोमार्हं प्रियदर्शनेति वाऽर्थः । श्वेतकेतो कचिद्वरावध्ययनार्थं ब्रह्मचर्यं
वस । अस्मत्कुले प्रसूतः कोऽप्यनधीत्य ब्रह्मबन्धुरिव न भवतीत्युवाचे-
त्यर्थः । यः स्वयमब्राह्मण एव सन्ब्राह्मणान्बन्धुत्वेन व्यपादिशति स
ब्रह्मबन्धुरित्युच्यते । अत्र स्वयं गुणवत् एव पितुर्गर्मादमाद्युपनयनका-
लातिक्रमेऽप्युपनेतृत्वाभावे हेतुः प्रवासादिलक्षणात्यन्तानुपपत्तिरिति
दृष्टव्यम् ॥ १ ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वे-
दानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एवाय ।

स श्वेतकेतुर्द्वादशवर्षः सन्गुरुमुपेत्य गुरुकुले द्वादशसंवत्सरानुपित्वा
सर्वान्वेदानधीत्य महामनाः प्रीढमतिः, अनूचानमन्यात्मानं साङ्गवेदा-
ध्यायिनं मन्यमानः, स्तब्धः परिपूर्ण इव तृणीकृतजगद्वयश्चतुर्विंशति-
वर्षयुक्त एवाय प्रत्यागतः ।

त२ ह पितोवाच ॥ २ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

उक्तिमाह—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना
अनूचानमानी स्तब्धोऽसि ।

हे सोम्य महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽसीतीदं यद्यस्माद्धेतोः स
क इत्यर्थः । तस्य ब्रह्मज्ञानरहिततां जानन्नप्यारुणिर्जगदभिन्ननिमित्तो-
पादानभूतब्रह्मज्ञानवानेव पूर्णो नान्य इति तस्मै ज्ञापयित्वा पूर्णत्वा-

भिमानं तदीयमपनुद्य ब्रह्मणि निज्ञासां संपादयितुं तदनुजियुक्षया
पृच्छति ।

उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भव-
त्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।

अत्र व्यासार्थाः । उपक्रमे तावत्—‘उत तमादेशमप्राक्ष्यः’ इत्य-
त्राऽऽदेशशब्देन प्रशासिताऽभिधीयते । अत्र श्लोकावाचार्यपादैरुक्तौ—

छान्दोग्ये केचिदाहुर्दिशतिरुत तमादेशमप्राक्ष्य इत्य-
त्राऽऽहपूर्वस्तूपदेशं प्रकटयति सतो न प्रशास्तिं यजन्तः ।
नो कर्तव्यंस्ति कर्मण्यगणि यजिह सत्कर्तृशास्ती न कर्म
स्यात्तत्कर्मोपदेशे तदिदमुत तमादेशवाचोपदेश्यम् ॥ १ ॥
अत्र धूमः प्रशास्तिं यदति दिशिरसावाह्मुस्तो नोपदेशं
शास्ता सोऽतिप्रसिद्धो न हि पर इह चापेक्षितार्थप्रसङ्गः ।
युक्तोऽस्माधारणाक्त्या घञगणि करणेऽप्यत्र वैवक्षित्वं
शाब्दोक्तं कारकाणां ननु करणतया कर्तरि स्याद्विद्यता ॥ २ ॥ इति ।

आदेशशब्देनोपदेश्यमुच्यते । प्रकृत्यर्थ उपदेशः प्रत्ययार्थः कर्मत्वम् ।
अकर्तरि च कारके संज्ञायामिति कर्तृव्यतिरिक्तकारकेषु घञो विहि-
तत्वात्, उपदेशो ब्रह्मणः कर्मत्वोपपत्तेश्च । प्रशासने तु ब्रह्म न कर्मापि
तु कर्तुं । कर्तृव्यतिरिक्तकारके हि घञप्रत्ययविधिः । न चात्रेगुणधलक्षणः
कर्मत्वय उपपद्यते किति चेति गुणप्रतिषेधादादेशशब्दरूपासिद्धेः । नापि
पञाद्यप्रत्यय उपपद्यते दिक्षिधातोरिगुणधत्वेनेगुणधेत्यपवादसूत्रेण कर्म-
त्वये प्राप्ते गुणामायात् । अतो घञप्रत्ययान्त एवायमादेशशब्दः । स
च प्रत्ययोऽकर्तृव्यं विहित इति कर्मार्थकत्वस्यैव युक्त्यादुपदेश्यमे-
वाऽऽदेशशब्दवाच्यमिति । अत्रोच्यते—प्रकृत्यर्थः शासनं प्रसिद्धिमाप्नु-
यात् । अन्यथा म्यारस्यमङ्गनात् । आहपूर्वो दिशतिर्नियोजनय-
चनः, उपपूर्वंस्तु नियोज्यप्रयोजनयचन इति हि न्यासकारः । नियो-
क्तारि प्रयोजनं यस्य तस्यार्थस्य दाचक इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । किं
चोपदेश्यत्वं लौकिकालौकिकधर्मब्रह्मभगार्थसाधारणम् । शासितृत्वं तु
ब्रह्मणोऽस्माधारणम् । ‘अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्’ ‘एतस्य या
अक्षरस्य प्रशासने गार्गि’ [शृ० ३ । ८ । ९] इत्यादिभिर्निरुपाधि-
कप्रशासनस्य ब्रह्मासाधारणत्वप्रवणत्वात् । निरुपाधिकोपदेश्यत्वं ब्रह्मण

इत्यसाधारण्यमिति चेन्न । इष्टप्राप्त्यनिवृत्तिवारणतत्साधनेषु साधार-
ण्यात् । यद्यप्यमितसुखदुःखनिवृत्त्यादिसाक्षादुपदेश्यं स्यात्तथाऽपि
संसारनिवृत्तिवद्गतदुपासनानामुपदेश्यत्वं साधारणम् । प्रष्टव्यस्योपदे-
श्यत्वमर्थसिद्धम् । अत उपदेश्यत्वकथने वैयर्थ्यं च । ननु 'येनाश्रुतम्'
[छा० ६।१।३] इत्यादिनैकवाक्यत्वात् स्वज्ञानेनान्यज्ञानहेतुताविशे-
षितमुपदेश्यत्वमसाधारण्यमिति चेत् । तथाऽपि तादृशमुपदेश्यत्वं
प्रतिज्ञावाक्येन प्रष्टव्यत्वोक्त्या चार्थसिद्धमित्यनपेक्षितोपदेश्यत्वकथना-
वश्यकं प्रज्ञासितृत्वमेव वाच्यमिति युक्तम् । येनाश्रुतमित्युपादानत्वे
सिद्धे प्रज्ञासितृत्वेन हि निमित्तत्वं सिध्येत् । निमित्तान्तरे सति
ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नोपपद्यते । अतः प्रतिपिपादयिषितवस्तु-
नोऽपेक्षितासाधारणाकारविशिष्टतयेव प्रतिपादनमुचितम् । घञप्रत्ययस्य
करणेऽप्युपपन्नत्वाद्विवक्षातः कारकाणां प्रवृत्तिरिति शाब्दोक्तन्यायेन
कर्तर्येव करणान्तरनिरपेक्षेण साधकतमत्वविवक्षया तथा प्रयोग उप-
पद्यते । अकर्तरीति सूत्रस्य प्रयोजनं करणत्वविवक्षां विना कर्तर्य-
साधुत्वेन प्रयोगनिवृत्तिः । उपदेशपक्षे प्रकृत्यर्थास्वारस्यं प्रत्ययस्वारस्य-
मर्थानौचित्यं च । प्रज्ञासनपक्षे प्रत्ययास्वारस्यं प्रधानमूतप्रकृत्यर्थस्वार-
स्यमर्थौचित्यं चेति वैयर्थ्यम् । अतः प्रज्ञासनमेवाऽऽदेशशब्दामिधेय-
मिति स्वीकर्तुं युक्तमिति । अत्रेवं विचार्यते । यत्तावदुच्यते प्रसिद्धि-
प्राप्त्युक्तकृत्यर्थः शासनमिति सत्यमेव तत् । शासनं विविच्य ज्ञापन-
मिति धातुवृत्तिकृता व्याख्यातत्वाद् उपदेश एव पर्यवसानम् । 'उपदेशोऽज-
नुनासिक इत्' स्थानिवद्वादेशोऽनल्लिधावित्यादिसूत्रेषु दिशिरुच्चारण-
क्रिय इति महाभाष्योक्तेः । 'अथातोऽहंकारादेशः [छा० ७।२५।
१] इत्यादावादेश उपदेश इत्यर्थः । इदं शास्त्राचार्य इति भाष्यस्ये-
वमुपदिशतीति ह्यर्थः । तद्विशिष्यमित्यावावक्तव्यमिति व्याख्यातम् ।
ततश्चाऽऽदेशानं शासनमुपदेशस्तत्कर्मत्वं च 'अनु म एतां भगवो देवतां
शाधि' [छा० ४।२।२] इति ब्रह्मणः सिद्धमिति प्रकृतिप्रत्यय-
योरविरोधसंभवात्प्रत्ययास्वारस्यानुसरणस्यायुक्तत्वात् । नचानुशासनक-
र्मत्वेऽपि न शासनकर्मत्वमिति वाच्यम् । शासु अनुशिष्टाविति शासन-
स्यैवानुशासनरूपत्वात् । ततश्च करणत्वस्याऽऽरोपेण घञप्रत्ययस्य
समर्थनमप्यनुचितमारोपस्यानुचितत्वात् । ननु करणत्वस्य नाभ्यारोपस्त-
स्यापि सत्त्वादिति चेन्न । तथा सति सिद्धान्ते प्रत्ययास्वारस्याभ्युपग-

मस्यायुक्तत्वात् । अत एवासिञ्चिन्सीत्यादौ सौकर्यातिशयविवक्षया
 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' [ब० सू० ४।१।५] इति न्यायेन करणे
 कर्तृत्वारोपेऽपि न कर्तरि करणत्वारोपसंभवः । तथा सति राजनि
 मृत्युत्वारोपस्यैवानर्थावहत्वात् । अत एव साधकतमं करणमिति
 सूत्रेऽधिकरणस्थात्पास्तनुकपालतया साधकतमत्वविवक्षया स्थात्या
 पचतीति प्रयोगमुपपाद्य, न चैवं कर्तुरपि करणत्वविवक्षाप्रसङ्गः ।
 भिन्नजातीयत्वात् । सकलसाधनविनियोगकारी सत्त्वसौ । न हि
 ज्ञातधनो निष्कधनेन स्पर्धितुमर्हतीति कर्तुः करणत्वविवक्षाभावस्यैवो-
 पपादितत्वात् । निक्षेपरक्षायां भगवतो रक्षाकरणत्वानुसंधानं प्रपत्तिरिति
 पक्षे करणस्य कर्तृत्वासंभवेन जीवस्यैव रक्षकत्वमापतेदिति कर्तृत्वकरण-
 त्वविरोधस्य भगवति करणत्वानुसंधानस्य 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्'
 [ब० सू० ४।१।५] इतिन्यायविरोधस्य च प्रतिपादितत्वात् ।
 'शक्तिविपर्ययात्' [ब० सू० २।३।३८] इति सूत्रेऽन्तःकरणस्य
 कर्तृत्ये ततोऽन्यत्करणं स्यादित्यन्तःकरणातिरिक्तं करणान्तरमभ्युपग-
 न्तव्यं स्यादिति परिरप्युक्तत्वाच्च । किं च प्रशासनकर्तुः करणत्वसंभवे
 परमात्मनः प्रशासनकर्तृत्वस्यापि तथा संभवात्तदसंभवोक्तिर्धिरुध्येत ।
 किं च करणत्वे विवक्षिते करणाधिकरणयोश्चेति परेण ह्युदा याधि-
 तत्वेन घञोऽप्रसङ्गात् । न च हलश्चेत्यनेन घञः प्रसङ्गः ।
 तत्रापि संज्ञायामित्यनुवृत्तेः । न च त्वन्मतेऽपि कर्माणि घञ-
 स्यात्, अकर्तरि च कारके संज्ञायामिति संज्ञायामेव घञो विधा-
 नादिति वाच्यम् । अकर्तरि चेत्यत्र चकारस्य भिन्नक्रमत्वमाश्रित्या-
 संज्ञायामप्यस्तीति पदमञ्जरीदी समर्थितत्वात्, संज्ञाग्रहणानर्थक्यं च
 सर्वत्र घञो दर्शनादिति पार्तिककृतोक्तत्वाच्च । किं च घञः करणार्थत्वे
 'उपक्रम आदेशशब्देन प्रशासिताऽभिधीयते' इति यदभिहितं तद्विरु-
 ध्येत । प्रशासनकरणत्वस्यैवाभिहितत्वेन प्रशासनकर्तुरनभिहितत्वात् ।
 यद्योक्तं प्रशासितृत्वमसाधारणमिति तदपि न । आदेशशब्देन प्रशासन-
 करणत्वमात्राभिधानेन प्रशासितृत्वानभिधानात् । तदभिधानेऽपि निरु-
 पाधिकप्रशासितृत्वस्यैव मुख्योपदेश्यत्वस्य ब्रह्मासाधारणत्वात् । अत
 एव 'मात्रनिज्ञामा' [ब० सू० १।१।१] इति सूत्रे मात्रण इति
 कर्माणि पटीपरिग्रहाद्व्यत्यण एवाऽऽभिधानिकं निज्ञासाकर्मत्वं तदुपासना-
 दीनां त्यागेष्वमित्युक्तम् । किं चाऽऽदेशशब्दमात्रस्य इतिप्रसङ्गाश-

त्वस्य 'गौण्यसंभवात्' 'तत्पाक्श्रुतेश्च' [ब० सू० २।४।२।३] इत्यत्रोप-
पादितत्वाच्च । नन्वादेशपदस्य प्रशासनापरपर्यायाज्ञापनरूपादेशप्रसि-
द्धस्योपदेशप्रसिद्धिप्राप्तिर्यामावेऽप्युपदेशार्थकत्वे प्रकृतेः सर्वात्मना मुख्या-
र्थत्वागमाभावात्प्रत्ययस्य त्वन्मते कर्तृलक्षणायां मुख्यार्थत्वागमात्कांस्यमो-
जिन्पायेन जघन्यद्यावापृथिव्येककपालानुरोधेन मुख्येन्द्राग्न्यादीनां प्रसू-
नर्वाहानिपमाश्रयणपदेकधा ब्रह्मण उपहरतीत्यत्र सकृत्सहस्रसाधारण-
स्यैकधाशब्दस्य पक्षान्तरप्रापकदुर्बलचोदकानुग्रहेण सहत्वार्थस्वीकार-
वत्सप्तदश प्राजापत्यानित्यत्र प्रजापतिसंबन्धविशिष्टान्वययोग्यस्यापि
बहुत्वस्यैकपशुनिष्पन्नैकावशावदानप्रापकदुर्बलचोदकानुसारेण विशिष्टा-
न्वयाम्युपगमेन द्व्यपदेवतासंबन्धाक्षिप्तयागमेवाम्युपगमवच्च जघन्यघञ्-
प्रत्ययानुसारेण मुख्यविशेषरूपवैशार्थकत्वमेव युक्तम्, प्रकृते मुख्यार्थत्वा-
गमावात् । प्रचुरप्रसिद्धमुख्यार्थत्वागमाच्च त्ववशिष्यते तच्च न दोषाय ।
अत एव पत्न्य उपगायन्तीत्यादौ गीतिशब्दस्य शारीरगाने प्रसिद्धिप्राप्त्यै
सत्प्रप्यशारीरवादिजादिगानस्यापि गीतिशब्दप्रयोगविषयत्वेन मुख्या-
र्थत्वात्संनिहितदुन्दुम्यादिगानस्यैव काण्डवीणाविभिरुपचयं कुर्वत्यः
पत्न्यो नर्तिका इति वृत्तमे सिद्धान्तितमिति चेन्नैवम् । गान-
शब्दस्य बर्हिषाज्याधिकरणन्यायेन गीतिमात्रवाचित्वाद्युक्तं तत्र संनि-
हितदुन्दुम्यादिगानवाचित्वम् । इह त्वाददेशशब्दस्य कचिदपि शिष्यो गुरु-
मादिदेशेत्यादिप्रयोगाभावेन साधारणोच्चारणार्थकत्वाभावादुपदेशाति-
वैशब्दयोरिवाऽऽदेशोपदेशशब्दयोरपि भिन्नार्थकत्वेनाऽऽदेशशब्दस्योप-
देशार्थकत्वे मुख्यार्थत्वागस्यावर्जनीयत्वेन जघन्यप्रत्यय एव लक्षणाया
उचितत्वात् । वस्तुतस्तूपदेशोऽजमुनासिक इदिति सूत्रे करणाधिकरणयो-
श्चेति ल्युटा वाचितस्य घञोऽकर्तारि च कारक इत्यनेनाप्रसङ्गमाशङ्क्य
कृत्यल्युटो बहुलमिति घञो भाष्यकृता समर्थितत्वाचरूपायेन कर्तर्यपि
तेनैव सूत्रेण चञिस्झौ लक्षणाया अप्रसङ्गात्प्रशासितृत्वार्थकत्वमेवाऽऽदे-
शशब्दस्य युक्तम् । आदेशनमादेश इति घञन्तान्द्राववाचिन आदेशशब्दा-
दर्शनाद्यजन्तादपि प्रशासितृत्वार्थकत्वमेवाऽऽदेशशब्दस्य युक्तमिति वय-
मुत्पद्यामः । ततश्च 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसी
विधृती तिष्ठतः' [बृ० ३।८।९] प्रशासितारं सर्वेषामित्यादिश्रुतिस्मृतिप्रति-
पन्नं परमात्मधर्मभूतं प्रशासितृत्वमिहाऽऽदेशशब्दार्थः । एतत्सर्वमस्मा-
भिर्भावप्रकाशिकायां प्रपञ्चितं तत्रानुसंधेयम् । प्रशासनेन च धारकत्व-

लक्षणमात्मत्वं फलितम् । ततश्चाऽऽदेशशब्द आत्मत्वपर्यन्तः । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति [छा० ६।१।३] इत्यत्र 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मु० १।१।३] 'आत्मानि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं भवति' [वृ० ४।५।६] इति मुण्डकबृहदारण्यकवाक्यानुसारेण येन श्रुतेन मतेन विज्ञातेनाश्रुतमम-
तमविज्ञातं श्रुतं मतं विज्ञातं भवतीति वाक्यपर्यवसितोऽर्थः । तत्रास्वरूप-
पञ्चत्वाभावाद्याश्रुतश्रुतत्वादिहेतुत्वाभावादत्राश्रुतामतादिशब्दानाम् 'इदं सर्वं विदितं भवति' इति श्रुत्यन्तरानुसारात्सर्वार्थकत्वं द्रष्टव्यम् । ततश्च येन श्रुतेन सर्वं श्रुतं भवतीत्यर्थः । ततश्चाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यश्रुतस्य श्रुतत्वप्रतिपादनं कथमिति शङ्काया नावकाशः । अश्रुतशब्दस्य सर्वपर-
त्वात् । यद्वाऽवस्थाविशिष्टतयाऽश्रुतं स्वरूपेण श्रुतं भवतीत्यर्थः । अत्र विज्ञानशब्दो निर्विध्यासनपरः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निर्विध्यासितव्य इति क्रमप्रत्यभिज्ञानादिति द्रष्टव्यम् । अत्र येनाश्रुतं श्रुतमित्यनेन किमुपादान-
मिति पृष्ठं भवति । प्रशासितृत्वाथंकेनाऽऽदेशशब्देन चाऽऽत्मस्वरूपं पृष्ठं भवति । ततश्चाऽऽत्मभूतमुपादानं किमिति प्रश्नस्य फलितार्थः । अत एव श्रीविष्णुपुराणे—

यन्मयं च जगद्ब्रह्मन्यतश्चैतच्चराचरम् ।

इति श्लोके यन्मयमित्यात्मस्वरूपं यतश्चैतच्चराचरमित्युपादानं च पृष्ठम् । अत एव 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्र-
तिष्ठाः' [छा० ६।८।४] इति प्रतिवचनेन सदायतना इति सत आत्मत्वं सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठा इति सत उपादानत्वं च प्रतिपाद्यत इति द्रष्टव्यम् । अत एव 'अथातोऽहंकारादेशः' [छा० ७।२५।१] । 'अथात आत्मादेशः' [छा० ७।२५।२] 'अथात आदेशो नेति नेति' [वृ० २।३।६] 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छा० ३।१९।१] 'उभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च' [छा० ३।१८।१] इत्यादावित्याऽऽदेशशब्दस्योपदेशार्थकत्वमेवास्तु न प्रशासनार्थकत्वमिति शङ्का पराकृता । अतो जगदुपादानभूतं जगदात्मानं किं पृष्ठवानसीत्यर्थः । अत्र ज्ञातवानसीत्यनुक्त्वा पृष्ठवानसी-
त्युक्तवतः

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ [गी० ४।३४]

इत्युक्तीत्या प्रणिपातादिप्रसन्नाचार्योपदेशगम्य एव सोऽर्थः । न तु प्रकारान्तरेण ज्ञातुं शक्य इत्यभिप्रायः । अन्यज्ञानेनान्यज्ञानासंभवादेक-
विज्ञानेन सर्वविज्ञानासंगमं मन्वानश्चोदयति—

कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

हे भगव ईदृश आदेशः कथं भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

उपादानोपादेययोस्तत्संभवतीत्यभिप्रायेणोत्तरमाह—

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् ।

यथोपादानभूते मृत्पिण्डे ज्ञाते तदुपादेयघटशरावादिकं ज्ञातं
मयति तद्वदित्यर्थः । नैयायिकरीत्याऽसदेव घटादिकं मृत्पिण्डेनोत्पद्यते ।
अतश्चोपादानोपादेययोर्भेदाच्च मृत्पिण्डे ज्ञाते सर्वमृन्मयानां ज्ञातत्वं
संभवतीति मन्वानं प्रत्याह—

वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

घटत्वादिलक्षणो विकारो घटशरावादिनामधेयं च । आरम्भ्यते स्पृश्यत
इत्यारम्भणं कर्मणि ल्युट् तेनैव मुद्गव्येण घटशरावादिलक्षणो विकारो
घटशरावादिनामधेयं च स्पृश्यत इत्यर्थः । आरम्भणशब्दस्य पुंनपुंसकलि-
ङ्गान्तविकारनामधेयविशेषणत्वेऽपि नपुंसकैकशेषैकयद्वावाच्यं । या
लिङ्गसामान्यादिविषयक्षया वाऽऽरम्भणमिति नपुंसकैकवचननिर्देशः । मुद्ग-
व्येण विकारनामधेये कस्मै प्रयोजनाय स्पृश्येते इत्यत्राऽऽह—वाचेति । प्रयो-
जनस्य हेतुत्वविषयक्षया तृतीया । वाक्शब्दश्चाजहलक्षणया वागाविषय-
हारपरः । ततश्च वाक्पूर्वकहानादिव्यवहारार्थं मृत्पिण्डेन नामरूपे स्पृश्येते
मृत्पिण्ड एव नामरूपमागमयतीत्यर्थः । अत्र यद्यपि मृत्पिण्डमृन्म-
यामेदप्रतिपादनं वाचाऽऽरम्भणं विकार इत्येतावन्मात्रेणापि सिध्य-
तीति न नामधेयस्यापि स्पृश्यत्वं धत्तत्वं तथाऽपि संज्ञामेदादुपादानो-
पादेययोर्भेदशङ्काव्युदासाय नामापि मुद्गव्येण स्पृश्यत इत्युक्तिरपेक्षि-
तेति द्रष्टव्यम् । कार्यकारणयोरेकद्रव्यत्वे प्रमाणमाह—मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।
मृन्मयं घटादिकं मृत्तिकेत्येव प्रमाणप्रतिपक्षं न तु तद्विज्ञातत्वेनेत्यर्थः ।
यद्वा मृन्मयं मृत्तिकेति यावदमेव सत्यमवाधितार्थकमित्यर्थः । ततश्चो-
पादानोपादेययोर्भेदादुपादाने ज्ञाते उपादेयस्य ज्ञातता मयतीत्यर्थः ।
एतेन विकारो वाचाऽऽरम्भणं वागाटम्यननात्रं नामधेयं स्वार्थं धेयप्र-
त्ययः, नामधेय फलं न विकारो नाम धत्तवस्ति मृत्तिकेत्येव सत्यमिति

यत्परिरुक्तं तदपास्तम् । वाचाऽऽरम्भणमित्यस्य वागालम्बनमित्येतदर्थ-
कत्वे प्रमाणाभावात्, वागालम्बनमात्रमित्यतो नामधेयमित्यनेनातिरि-
क्तार्थाप्रतिपादनात्पुनरुक्तिश्च, मृत्तिकासत्यत्वमात्रत्वविवक्षायामिति श-
ब्दवैयर्थ्यं च । उक्तं चाभियुक्तैः—

वाचाऽऽरम्भणमित्युक्तेर्मिथ्येत्यश्रुतकल्पनम् ।

पुनरुक्तिर्नामधेयमितीत्यस्य निरर्थता ॥ इति ।

किं च परमते 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' [छा० ६।१।३] इति संदर्भोऽपि
न युज्यते । श्रुतितत्त्वे ज्ञाते तदध्यस्त रजतादेर्निवृत्तावपि रजतस्य ज्ञात-
त्वादर्शनेन ब्रह्मणि ज्ञाते तदध्यस्तप्रपञ्चस्य निवृत्तावपि ज्ञातत्वासं-
वात् । ननु श्रुक्तौ ज्ञातायां रजतस्य तत्त्वं ज्ञातमेव श्रुक्तिव्यतिरिक्तरजत-
त्वस्याभावात् । एवं ब्रह्मणि ज्ञाते प्रपञ्चस्य तत्त्वं ज्ञातमेवेति चेन्न ।
परमार्थश्रुतेरपरमार्थरजततत्त्वरूपत्वाभावात् । न हि श्रुक्तौ ज्ञातायां
रजततत्त्वं ज्ञातमिति व्यवहारो दृष्टवर इत्यास्तां तावत् । ननु सर्वं
मुन्मयं विज्ञातं स्यादित्यत्र विकारार्थमयद्रूपत्ययेन घटत्वशरावत्वाद्यव-
स्थावद्ब्रह्मरूपो विकार एवाभिधातव्यो न तु घटत्वशरावत्वाद्यवस्था-
रूपो विकारः । तस्य मृत्पिण्डावेक्षया भिन्नत्वेन तज्ज्ञानेन ज्ञातत्वासं-
भवात् । ततश्च तदुपपादके वाचाऽऽरम्भणं विकार इति वाक्येऽपि
विकारशब्देनावस्थावद्ब्रह्मलक्षणस्यैव विकारस्याभिधानमुचितं न
त्ववस्थालक्षणविकारस्येति चेत्सत्यम् । तस्यैवाभिधानमुचितम् ।
तथाऽपि मृद्वव्येण घटशरायादिलक्षणस्यावस्थावतो ब्रह्मस्य स्पर्शसं-
भवात् । न ह्यात्मिवाऽऽत्मना स्पर्शं शक्यः । अतो मुन्मयमित्यत्र विकार-
वाचिमयद्रूपत्ययेनावस्थावतोऽभिधानेऽपि तदुपपादके वाचाऽऽरम्भणं
विकार इति वाक्ये विकारशब्देनावस्थाया एव ग्रहणमुचितम् । तथा
मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यत्र विशेष्याकाङ्क्षायां सत्यमिति नपुंसकलिङ्गानु-
रोधादवस्थावद्ब्रह्मवाचि मुन्मयमित्येतद्विशेष्यतयाऽनुषज्यते । ततश्च सर्वं
मुन्मयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यत्रावस्थावद्ब्रह्ममेव विकारवाचिना मयद्रु-
पत्ययेनाभिधीयत इति न कश्चिदोप इति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वा-
चाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

लोहमणिः स्वर्णपिण्डविशेषः ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्णायसं विज्ञातम्
स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं कार्णायसमित्येव सत्यम् ।
नखनिकृन्तनशब्देन कार्णायसपिण्डो लक्ष्यते । शिष्टं पूर्ववत् ।

एवम् सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

मयोक्त आदेशो मृत्पिण्डादितुल्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवमुक्तः पुन्र आह—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदेवेदिपुर्व्यञ्चेतदेदिष्यन्
कथं मे नायक्ष्यन्निति भगवाःस्त्वेव मे तद्वधीत्विति ।

भगवन्तः पूजावन्तो मम गुरव एतत्स्वरूपं न ज्ञातवन्तः, यद्येतद्व-
स्तुतो जानीयुस्तर्हि भक्ताय गुणवते मह्यमुपदिशेयुर्हि । नोपदिष्टवन्तस्तु
ते तेनाहं मन्ये न विदितवन्तं इतीत्यर्थः । एवमवाच्यमपि गुरोर्न्यङ्गं
पुनर्गुरुकुलं प्रति प्रेषणमयावुक्त्वा भगवानेव तद्वस्तूपदिशत्विति पितरं
प्रार्थयामासेत्यर्थः ।

तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

पिताऽपि तत्तथैव वदामीत्युक्तवानित्यर्थः ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

प्रतिज्ञातस्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानसमर्थनाय जगतो ब्रह्मीकारणतां
प्रतिपादयितुं प्रवृत्तो यथा लोकेऽपराह्णे प्रसारितानां घटशरावोदञ्चना-
दीनां च मृत्पिण्डेकोपादानतां प्रतिपिपादयिषुः पूर्वाह्ण एतद्घटशरावा-
विकं मृत्पिण्ड एवाऽऽसीदिति प्रतिपादयति तथा प्रतिपादयति—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

इदं विभक्तनामरूपं बहुत्वावस्थं जगदग्रे सृष्टेः प्रागेकमेवाविभक्तना-
मरूपतपेकत्वावस्थापन्नमेवाद्वितीयमधिष्ठात्रन्तरश्चन्यं सदेवाऽऽसीदि-
त्यर्थः । अत्र सृष्ट्यद्भ्यो नामसंयन्धयोग्यत्वलक्षणं सत्यं प्रवृत्तिनिमित्ती-

कृत्य परमात्मानि वर्तते । अयं च सच्छब्दो विशेष्यभूतपरमात्मवाचकोऽपि
कारणविषयत्वसामर्थ्यात्कारणत्वौपयिकगुणविशिष्टप्रकृतिपुरुषकालश-
रीरकं परमात्मानमुपस्थापयति ' देवाँ आज्यपाँ आवह ' इत्यादौ
विशेष्यवाचिन एवाऽऽज्यशब्दस्य विकृतिषु पृषदाज्यवाचित्वस्य दाश-
मिकन्यायसिद्धत्वात् । अत्र सदेवेत्येवकारेण नैयायिकाभिमतमुत्पत्तेः
प्राग्जगतोऽसत्त्वं व्याचर्त्यते । सदेवेत्येवकारस्य नैयायिकाभिमतोत्पत्तिप्रा-
क्कालीनकार्यासत्त्वव्यावर्तकत्वं ' तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् ' इत्यसत्कार्यवादिदर्शनप्रतिक्षेपपरोत्तरवाक्यसंदर्भाद्व्यसीयते । एकमेवेत्येव-
कारेण ' बहु स्पाम् ' [छा० ६ । २ । ३] इति वक्ष्यमाणा वक्ष्यमा-
णकार्यबहुत्वादस्था व्युद्ध्यते । ' तदैक्षत ' ' तत्तेजोऽमृजत ' [छा०
६ । २ । ३] इत्युत्तरवाक्यसंदर्भे सच्छब्दितस्यैव निमित्तत्वकथनाद-
द्वितीयमित्यनेन निमित्तान्तरं निषिध्यते । ततश्चैकमद्वितीयमिति पदान्या-
मभिन्ननिमित्तोपादानत्वं सिद्धं भवति । ततश्चायमर्थः—इदं बहुत्वा-
वस्थं विभक्तनामरूपं प्रत्यक्षतया दृश्यमानं जगत्सृष्टेः प्राङ्निमित्तान्त-
राल्लभ्यमभिभक्तनामरूपतयैकं सच्छब्दितं ब्रह्मैवाऽऽसीदित्यर्थः । पद्यपी-
दानीमपि जगत्सदेव तथाऽप्यभिभक्तनामरूपसद्भावापत्तिः सृष्टेः प्रागेवे-
त्यग्र इत्यस्य नानुपपत्तिः । न च सच्छब्दस्य सूक्ष्मप्रकृतिकालजीवशरी-
रकब्रह्मपरत्वेन सच्छब्दस्य कार्यभूते जगति सृष्टेः प्राक्कादृशब्रह्मत्वबोध-
कत्वेऽपि जगति सत्तासंबन्धबोधकत्वामार्थनासत्कार्यबाधव्युदासकत्वं
कथमिति वाच्यम् । सृष्टेः प्राक्सच्छब्दितब्रह्माभेदबोधने नैयायिकाभि-
मतासत्त्वव्युदासस्याप्यर्थसिद्धत्वात् । एतेनैकमेवाद्वितीयमित्येतत्प्रपञ्च-
मिथ्यात्वे प्रमाणयन्तः परे प्रत्युक्ताः । तस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वप-
रत्वे सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति कालप्रापकेण पूर्वणाग्रपदेन ' तदैक्षत
नामरूपे व्याकरवाणि ' [छा० ६ । ३ । २] इतीक्षणनामरूपात्मक-
प्रपञ्चप्रापकेणोत्तरेण च विरोधप्रसङ्गात् । किं चेदंशब्दोदितं सर्वं
जगत्सृष्टेः प्रागेकमेवाद्वितीयं सदेवाऽऽसीदिति परैर्वाच्यातत्वेन सृष्टिप्रा-
क्कालेऽद्वितीयपदेन द्वितीयासत्त्वबोधनेऽपि सृष्ट्युत्तरकालं तस्यासत्त्वाप्र-
तिपादनेन जगतो मिथ्यात्वासिद्धेः, घटशरावादिकं सर्वं सृष्टेः प्रागाद्वि-
तीयकमृत्पिण्ड एवाऽऽसीदित्युक्त्या घटशरावादीनां मिथ्यात्वप्रतिपाद-
नादर्शनात्प्रागसत्त्वप्रतिपादनेन हानित्यत्वमात्रं सिध्येन्न तु मिथ्यात्वम् ।
न च ' नेह नानाऽस्ति ' [वृ० ४ । ४ । १९] इति वाक्यात्सृष्ट्युत्तर-

कालमप्यसत्त्वावेदनान्मिथ्यात्वसिद्धिरिति वाच्यम् । 'न स्थानतोऽपि परस्य' [ब० सू० ३ । २ । ११] इत्यधिकरणे तस्य वाक्यस्य ब्रह्मगतनानात्वनिषेधपरतया परैरेव व्याख्यातत्वात् । नन्वनित्यत्वमेव मिथ्यात्वम् 'अनित्यस्य धर्मिणोऽनित्यत्वमसत्यत्वम्' इति वाचस्पतिमिथोक्तेः । विद्यारण्ययतिनाऽपि तथैवोक्तत्वात् ।

अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।

यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै ॥

परिणामाविसंभूतं तद्वस्तु नृप तच्च किम् ।

इति पराशरस्मरणादप्यनित्यत्वमेव मिथ्यात्वमिति चेत् । ईदृशस्य मामाणिकस्य प्रत्यक्षाविरुद्धस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्यास्माभिरप्यप्रतिक्षेप्यत्वावित्यास्तां तावत् । सदेवाऽऽसीदिति सृष्टिप्राक्काले ब्रह्माभेदप्रतिपादनमुख्येन सत्कार्यवादमुक्त्वा तद्विरोध्यसत्कार्यवादं नैयायिकाभिमतं पाचारम्भणमित्यादिना प्रतिक्षिप्तमपि कण्ठतः प्रतिक्षेपुं तन्मतमुपन्यस्यति—

तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

इदं जगदग्रे सृष्टेः प्रागसदेवाऽऽसीन्न तु सदासीदित्यर्थः । नामरूपविभागाभावलक्षणस्यासत्त्वस्य सिद्धान्तेऽपि संमतत्वादाह—एकमेवाद्वितीयम् । प्रागभावव्यतिरेकेणायस्थाया वाऽवस्थाभ्रयस्य वा कस्यापि सत्त्वं नास्तीत्यर्थः । यद्वाऽसदेवेत्यत्र, अ, इत्येतत्सत्पदेनासमस्तं सत् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, इति वाक्यार्थप्रतिक्षेपकम् ।

तस्मादसतः सज्जायत ॥ १ ॥

सदिति भावप्रधानो निर्देशः । यस्मान्द्वेतोरुत्पत्तेः प्रागवस्थाभ्रयस्याप्यभावस्तस्मान्द्वेतोरसतः सत्त्वरूपोत्पत्तिरजायतामयदित्यर्थः । पर्यवसन्नमिति पायत् । जायतेत्यत्राटमावच्छान्दसः ॥ १ ॥

तन्मतं प्रतिक्षिपति—

कुतस्तु गलु सोम्यैव स्यादिति

होवाच कथमसतः सज्जायेतेति ।

केन प्रमाणेनामत उत्पत्तिः प्रतीयेत तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाविरोधेन प्रमाणस्यानवतारादिति मायः । अतः कथमसतो द्रष्टव्यस्य सत्ता भवेत् ।

अतोऽसतः सत्त्वमुत्पत्तिर्न भवत्यपि तु सत एव द्रव्यस्य प्रथमक्षणावच्छि-
न्नावस्थान्तरसंबन्ध एवोत्पत्तिरित्यर्थः । एवं परपक्षं प्रतिक्षिप्य स्वमतमुप-
संहरति—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

नन्विदंशब्देन जगन्मात्रपरामर्शे तस्य सच्छब्दितब्रह्मभिन्नत्वेन सदेवे-
दमग्र आसीदिति प्रतिपादितब्रह्मामेवानुपपत्तिः । नापीदंशब्देनेदंशब्दि-
तजगच्छरीरकब्रह्मप्रतिपादनं संभवति, अश्रुतदेवान्तं प्रतीदमादिशब्दानां
ब्रह्मपर्यन्तप्रत्यायकत्वासंभवादिति चेदस्याः शङ्कायाः परिहारो मुण्डक-
प्रकाशिकायामेव प्रपञ्चितः । अत्रापि च स्वावसरे करिष्यामस्तत्रैवानु-
संधातव्यः ॥ २ ॥

तदेक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ।

तत्तदेतत्सच्छब्दवाच्यं परं ब्रह्म विचित्रानन्तविद्वन्निश्चयद्विजग-
द्रूपेणाहमेव बहु स्यां तदर्थं तेजोब्रह्मादिसमष्टिरूपेण प्रकर्षेण जायेयेति
संकल्प्य तेजः ससर्ज ।

तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत ।

अत्राचेतनस्य तेजआदेरीक्षितृत्वासंभवात्तेजआदिशब्दास्तच्छरीरक-
परमात्मपरा द्रष्टव्याः । भाष्यकृता 'गौणश्वेत्तराऽऽत्मशब्दात्' [ब० सू०-
१।१।६] इति सूत्रे तेजःप्रमृतयोऽपि शब्दाः परमात्मन एव
वाचकाः । 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इति मुख्य एवेक्षणव्यप-
देश इति भाषितम् । तथा 'तदभिध्यानादेव तु तद्विद्वात्सः' [ब० सू०-
२।३।१३] इति सूत्रे 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इति श्रूय-
माणमीक्षणं तच्छरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यत इति भाषितम् ।
'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' [ब० सू० २।४।२०] इत्यधिकरणे च 'तत्तेज
ऐक्षत' इति तेजःशरीरकं परं ब्रह्मेवामिधीयत इति च भाषितम् । न च
तत्तेज ऐक्षतेत्यत्र तेजःशब्दस्य तेजःशरीकब्रह्मपरत्वे 'तत्तेजोऽसृजत' इति
वाक्येऽपि तेजःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिर्ब्रह्मणः सृज्य-
त्वामावादिति चेन्न । तेजःशरीरकब्रह्मणः कार्यत्वेन सृज्यत्वे दोषामा-
वात् । तेजसो जलहेतुत्व उपपत्तिं दर्शयति—

तस्माद्यत्र कचन शोचति स्वेदते वा पुरुष-
स्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

यत्र कचन देशे काले च पुरुषः संतप्यते प्रस्विद्यते वा तत्तदा तेजस
एवाऽऽपोऽभिजायन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम
प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त ।

अद्यात्तशब्देन महामूताधिकारात्पृथिव्युच्यते । सूत्रितं च 'पृथिव्याधि-
काररूपशब्दान्तरेभ्यः' [ब० सू० २ । ३ । १२] इति । अधिकारो
महामूताधिकारः । रूपं 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' [छा० ६ । ४ । १] इति
तैत्तिरीयके 'अज्यः पृथिवी' [तै० २ । १ । १] इति शब्दान्तरम् ।
एतच्च सूत्रमन्यत्र व्याकृतम् । अपामग्नहेतुत्वे युक्तिमाह—

तस्माद्यत्र क च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति ।

तदेव तद्वैवेत्यर्थः ।

अद्वय एव तदध्यन्नायं जायते ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि पष्ठमपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तस्मात्पृथिव्येकदेशस्य स्त्रीहिययादिलक्षणस्यान्नस्य पृथ्विमवत्यदर्श-
नादेव हेतोरन्नाद्यमन्नप्रभृतिपृथिवीत्यावच्छिन्नमप्यन्य एवामिजायत
इत्यर्थः । एतत्खण्डान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणं लिख्यते द्वितीया-
ध्याये । छान्दोग्ये 'तत्तेजोऽसृजत' [छा० ६ । २ । ३] इति तेजस एव
प्रथमतः सृष्ट्यभिधानादाकाशोत्पत्तेरश्रुतेराकाशो नोत्पद्यत इति 'न
विपद्भुतेः' [ब० सू० २ । ३ । १] इति सूत्रेण पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते
'अस्ति तु [ब० सू० २ । ३ । २] आकाशस्याप्युत्पत्तिरस्त्येव तैत्तिरीयके
'आत्मन आकाशः संभूतः' [२ । १ । १] इत्युत्पत्तेः श्रवणात् ।
पुनश्चादयति 'गौण्यगमदाच्छब्दाच्च' [ब० सू० २ । ३ । ३ । ४]
'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्युत्पत्तिश्रुतिर्गौणी निरवयवाकाशोत्पत्ते-
श्छान्दोग्ये पाप्मनायाः प्रतिपादनाभ्यन्तरान् 'यः पृथ्व्यान्तरिक्षं येतद्भूत-

मुमयम्' । [बृ० २ । ३ । ३] इत्याकाशस्यामृतत्वश्रवणाच्चेत्यर्थः ।
 नचाऽऽत्मन आकाशः संभूत इत्यत्राऽऽकाशे संभूतशब्दस्य गौणत्वे
 'आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः' [तै० २ । १ । १] इत्यादौ श्रुतस्य
 संभूतत्वस्यापि गौणत्वं स्यादित्यत आह—'स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्'
 [ब्र० सू० २ । ३ । ५] । एकस्यैव संभूतशब्दस्याऽऽकाशे गौणत्वं
 वायोरग्निरित्यादावनुपक्तस्य संभूतशब्दस्य मुख्यत्वं च संभवति । यथा
 मुण्डके 'तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमज्ञं च जायते' [मु० १ । १ । ९]
 इति प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्य ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्नेव प्रकरणे 'तपसा
 चीयते ब्रह्म' [मु० १ । १ । ८] इति ब्रह्माणि मुख्यतया प्रयोगदर्श-
 नात् । परिहरति—'प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात्' [ब्र० सू० २ । ३ । ६]
 आकाशस्यापि ब्रह्मोपादेयतया ब्रह्मव्यतिरेके सत्यैकविज्ञानेन सर्ववि-
 ज्ञानप्रतिज्ञाया अहानिर्भवति ब्रह्माकार्यस्यापि वस्तुनः सत्त्वं एकवि-
 ज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं हीयेत्यर्थः । 'शब्देभ्यः' [ब्र० सू० २ ।
 ३ । ६] । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छा० ६ ।
 २ । १] । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' [छा० ६ । ८ । ७] । इत्यादिशब्दैः
 सर्वस्यापि वस्तुनो ब्रह्माकार्यत्वब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनपरैश्चापमर्थो विधी-
 यते । 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ।' [ब्र० सू० २ । ३ । ७] ।
 तुशब्दश्चार्थे छान्दोग्ये—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' । इत्यादिभिराकाशादेः
 सर्वस्यापि विकारत्वप्रतिपादनादेव विभागशब्दितोरपत्तिरप्युक्तैव ।
 यथा लोक एते सर्वे देवदत्तपुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचिदुत्पत्तिप्रतिपाद-
 नेऽपि सर्वेषामुत्पत्तिः प्रतिपादितैव भवति तद्वत् । 'वायुश्चान्तरिक्षं
 चैतदमृतम् ।' [बृ० २ । ३ । ३] । इति तु देवानामिव चिरकाल-
 स्थायित्वमिप्रायम् । 'एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः' [ब्र० सू० २ ।
 ३ । ८] । आकाशोत्पत्तिप्रतिपादनेनैव वायोरप्युत्पत्तिः प्रतिपादितै-
 वेत्यर्थः । 'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' [ब्र० सू० २ । ३ । ९] । तुश-
 ब्दोऽवधारणार्थः । असंभवोऽनुत्पत्तिः सतो ब्रह्मण एव तद्व्यतिरिक्तस्य
 कृत्स्नस्याव्यक्तमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियवियत्पचनादिकस्य प्रपञ्चस्यैकवि-
 ज्ञानेन सर्वविज्ञानादिभिरवगतकार्यभारस्यानुत्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थ इति
 स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

सर्वस्येतरस्यापि तेजोवन्नात्मकबीजत्रयप्रसूतत्वं दर्शयति—

तेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भव-
न्याण्डजं जीवजमुद्भिजमिति ॥ १ ॥

आण्डजम् । अण्डजं पक्षिसर्पादि स्वार्थेऽण् । जीवजं गर्भवेदनल-
क्षणजरायुजं पुरुषपञ्चादि । उद्भिजम् । उद्भिर्नक्षीत्युद्भित्त्वावरं ततो
जातमुद्भिजम् । न च स्वेदजानामत्र संकीर्तनाभावात्कथं त्रीण्येव बीजा-
नीत्यवधारणमिति शङ्क्यम् । उद्भिजशब्देन स्वेदजस्यापि संग्रहो-
पपत्तेः । सूत्रितं च 'तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य' [ब० सू० ३ ।
१ । २१] इति । संशोकजस्य स्वेदजस्याऽऽण्डजं जीवजमुद्भिजमि-
त्यत्र तृतीयेनोद्भिजशब्देनावरोधः संग्रह इत्यर्थः । इदं च सूत्रमन्यत्र
व्याख्यातम् । अण्डजादिशब्दनिर्दिष्टानामेषां भूतानां तेजोवन्नानि
त्रीण्येव बीजानीत्यर्थः । तदेवं परस्माद्वह्मणोऽनन्यत्वं जगतोऽभ्युपगन्त-
व्यमिति स्थितम् ॥ १ ॥

तदेवोपपादयति—

सैवं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता
अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नाम-
रूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

अत्र 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः' [ब० सू० २ । ४ । २०] इत्यधिकरणे
मगयता माप्यकृता—सैवं देवतैत्यादिवाक्यस्यायमर्थः—सैवम् । सृष्ट-
विज्ञता परदेयता, इमास्तेजोवन्नरूपास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन जीव-
समष्टिविशिष्टेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि देवादिविधि-
चमृष्टिं तन्नामधेयानि च करवाणीति मापितम् । 'अभिमानिद्वयपदे-
शम्नु विशेषानुगतमिष्याम्' [ब० सू० २ । १५] इति सूत्रे 'हन्ताहमिमा-
स्तिस्रो देवताः' इति तेजोवन्नानि देवताशब्देन विशेष्यन्त इति मापि-
तत्वाद्देव देवता इत्यभिमानिदेवतापरत्वं द्रष्टव्यम् । ततश्चेमास्तिस्रो
देवता इत्यम्यायमर्थः—स्यस्वाभिमानिदेवताधिष्ठितानि तेजोवन्ना-
नीति । तेजोवन्नाभिमानिदेवतानां परमात्मव्यतिरिक्तत्वे प्रमाणाभावा-
त्परमात्मनश्च सर्वाभिमानिदेवतात्वमंभवाच्च परमात्मरूपदेवताधिष्ठिता
इत्यर्थः । परमात्मव्यतिरिक्तदेवताभ्युपगमेऽपि देवताशब्दस्य तदधिष्ठि-

तत्त्वमेवार्थः । न च 'तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत' [छा० ६।२।३] इत्यादौ तेजआदिशब्दानां परमात्मपरत्वात्तेजोवन्नावस्थापन्नपरमात्मनां तत्तदुपहितत्वाद्यवस्थाधीनबहुत्वाश्रयाणामेवेमास्तिस्रो देवता इति देवताशब्देन परामर्शोऽस्तु न तु देवताशब्दस्य तदधिष्ठितपरामर्शित्वमिति वाच्यम् । तत्तदवस्थपरमात्मसु जीवस्य प्रवेशासंभवेन प्रवेशयोग्यतेजोवन्नानामेवामेदोपचारेण लक्षणया वा देवताशब्देन निर्देष्टव्यत्वात् । महासिद्धान्ते तदैक्षतेति सर्वज्ञत्वमसृजतेति निमित्तत्वं बहुस्पष्टमित्युपादानत्वं तदुभयानुगुणं सर्वशक्तित्वं सत्यसंकल्पत्वं चानेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्येति सर्वान्तरत्वं चोक्तं भवति । जीवेनाऽऽत्मनेति जीवशरीरकेण मयेत्यर्थः ।

सिंहेन भूत्वा बहवो मयाऽत्ता व्याघ्रेण भूत्वा बहवो मयाऽत्ताः ।

इतियत्सार्वज्ञ्यादिगुणकस्य तद्विपरीताकारजीवैक्यासंभवात्, यस्याऽऽत्मा शरीरमित्यादिध्वन्यात्तदनुप्रविश्येत्येतेन इव जीवेऽप्यनुप्रवेशश्रवणाच्च शरीरवाचिशब्दस्य शरीरिपर्यन्तत्वमुख्यताया उपपन्नत्वाच्चायमेवार्थ इति व्यासार्थैरुक्तम् । ननु जीवशरीरकेण मया प्रविश्य व्याकरवाणीत्यर्थो न संभवति व्याकरवाणीति तिङ्वा कर्तुरभिहितत्वेनानभिहिताधिकारविहिततृतीयानुपपत्तेः । न च व्याकरणक्रियाकर्तुंस्तिङ्वाऽभिहितत्वेऽपि प्रवेशक्रियाकर्तुरनभिहितत्वात्तृतीया भविष्यतीति धात्वं तर्हि मया मुक्त्वा ब्रजामीत्यपि प्रयोगः साधुः स्यात्, ब्रजिक्रियाकर्तुरभिधानेऽपि मुजिक्रियाकर्तुरनभिहितत्वात् । स्वादुमि णमुठिति सूत्रे कैपटेन क्त्वाप्रत्ययस्य भावार्थत्वात्प्रकत्वौदनं मुक्ते देववृत्तः, प्रकत्वौदनं मुज्यते देवदत्तेनेत्यत्र च क्त्वाप्रत्ययेन पचिक्रियाकर्तुर्मर्मणोरनभिधानात्तृतीयाद्वितीये कुतो न भवत इत्याशङ्क्याऽऽख्यातपदवाच्या क्रिया विशेष्यत्वात्प्रधानमितरा तु विशेषणत्वादप्रधानम् । तत्क्रियासाधनयोरपि शक्त्योस्तद्द्वारको गुणप्रधानभावः । तत्र प्रधानक्रियाशक्त्यभिधाने गुणक्रियाशक्तिरभिहितवत्प्रकाशते प्रधानानुरोधादुपानां पृथक्तद्विरुद्धस्वकार्यारम्भायोगाच्चेत्युक्तत्वादिति चेत्सत्यम् । मयेत्यस्य स्वरूपेणेत्यर्थः । आत्मशब्दः स्वरूपपरः । यद्यपि जीवशरीरकं स्वरूपं व्याकरणकर्तुर्न भिद्यते तथाऽपि

व्यपदेशिवदेकस्मिन्बुद्ध्या नानार्थकल्पना ।

इति न्यायेन कल्पितभेदमादायानभिहिताधिकारविहिततृतीयोप-
पत्तेः । घटः स्वेन रूपेणेतरव्यावृत्तिं करोतीत्यादिप्रयोगदर्शनात्करोतीति
तिङ्गाऽभिहितमिति चेत्तर्हि प्रकृतेऽपि तथाऽस्तु । तेनेशस्तद्विशिष्टस्व-
रणकतयाऽनुप्रवेशेऽपि कर्ता, इत्यधिकरणसारावह्युक्तश्चायमेवार्थः ।
यद्वाऽऽत्मणाधिकरणे—अनेन जीवेनाऽऽत्मना मदात्मकजीवेनाऽऽत्म-
तयाऽनुप्रविश्य, एतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीति भाषितत्वेन जीवश-
ब्दस्य परमात्मपर्यन्तत्वाभावाद्यापि प्रदर्शितत्वात्तदनुसारेण जीवेनेत्यस्य
जीव एवार्थः । आत्मशब्दस्य शरीरत्वमर्थः । शरीरभूतेनानेन जीवेनानु-
प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्यर्थः । आत्मशब्दस्य शरीरवाचित्वमभि-
प्रेत्यैव मदात्मकजीवेनेति भाषितम् । आत्मतयाऽनुप्रविश्येति भाष्यस्या-
यमर्थः—आत्मतयेति हेतौ तृतीया हेतुत्वं च प्रयोजनत्वेन विवक्षितमात्म-
त्वार्थमनुप्रविश्येत्यर्थः । प्रविश्य नियन्तृत्वामात्र आत्मत्वासंभवाच्च चारे-
णानुप्रविश्य परबलं संकलयानीतिवदिति । यद्वा ‘अनेन जीवेनाऽऽ-
त्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति’ [छा० ६।१।१।१] इत्य-
श्रवानेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्येत्यत्रापि जीवात्मनेत्येवार्थः । अस्मिन्प-
क्षेऽनेनेतिशब्दस्य प्रमाणप्रतिपन्नपुरोवर्तिवाचिनो मच्छरीरभूतेनेत्यर्थः ।
अनयोः पक्षयोश्चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं संकलयानि देवदत्तेन पक्त्वा
चैत्रेण भुज्यत इत्यग्रेव विशिक्रियाप्रयोजककर्त्रा परमात्मना व्याप्रियमा-
णस्य जीवात्मनः करणतया तृतीयासंभवात्तृतीयाया नानुपपत्तिः ।
इयांस्तु विशेषः—नामरूपव्याकरणस्य ‘तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां
करवाणीति’ इति वक्ष्यमाणेन त्रिवृत्करणेन समानकर्तृकत्वाद्यगमा-
न्नामरूपव्याकरणांशे साक्षात्कर्तृत्वमप्यस्ति । प्रवेशे तु सर्वव्यापकस्य
परमात्मनः साक्षात्कर्तृत्वासंभवात्प्रयोजककर्तृत्वमेव । एवं चानुप्रवेश-
नामरूपव्याकरणयोः समानकर्तृकत्वसंभवात्स्वाप्रत्ययस्यापि नानुपप-
त्तिरिति द्रष्टव्यम् । एतेनान्तःकरणविशिष्टस्याहमर्थत्वं वदन्तः परे
प्रयुक्ताः । बहु स्यां हन्ताहमिमा इति संकल्पसमये तस्याभावादि-
त्यास्तां तावत् ।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति ।

अत्र संज्ञामूर्तिबलव्यधिकरणे ममवता भाष्यकृता—तदर्थमन्योन्य-
संसर्गमप्राप्तानामेषां तेजोबलानां विशेषरूपसमर्थानां तत्सामर्थ्याधि-

कैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणीतीत्येतद्वाक्यार्थ उक्तः । अत्र तदर्थमित्यस्य देवादिविचित्ररूपाणां तन्नामधेयानां च करणार्थमित्यर्थः पूर्वं देशादिविचित्रसृष्टिं तन्नामधेयानि च करवाणीत्युक्तेरिति द्रष्टव्यम् । अत्रेति शब्दस्य सेयं देवतैक्षतेति पूर्वेण संबन्धः । एवमीक्षित्वा परा देवता यथासंकल्पमकरोदित्याह—

सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽ-
त्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् ।

अत्र त्रिवृत्करणाधीनत्वान्नानामरूपव्याकरणस्यार्थक्रमानुरोधेन पाठ-
क्रमो बाध्यते । तत्र तेजोबलदेवतास्वेकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं कृत्वा
नामरूपव्याकरणमकरोदित्यर्थः । अत्र व्यापकस्य परमात्मनः स्वरूपेण
स्वापृथक्सिद्धसर्ववस्तुप्रवेशस्य सर्वदा सत्त्वेऽपि स्वशरीरभूतजीवेनानुप्र-
वेशस्य पूर्वमभावाज्जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोदित्यस्य नानुप-
पत्तिः । चारस्य राजशरीरत्वाभावाच्च चारेणानुप्रविश्येति वाक्यसाम्यं च ।

यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्रि-
वृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पष्ठप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

देवताधिष्ठितानां तेजोबलानां त्रिवृत्करणप्रकारं मे निगद्यतः
शृण्वित्यर्थः । व्यासार्थैरानन्दमयाधिकरणे—अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-
वाणीत्यत्र नामरूपव्याकरणस्यानुप्रवेशपूर्वकत्वमवगम्यते । ‘तत्सृष्ट्वा
तदेवानुप्राविशत्’ [ते० २ । ६ । १] इत्यत्रानुप्रवेशस्य सृष्टिपूर्वकत्वं
गम्यते । तस्मात्समानकर्तृकत्वमेव विवक्षितं न पीर्षापर्यमपि । अत
एव हि ‘तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति’ इति सृष्ट्यनुप्रवेशयोः समानका-
लीनत्वमेव प्रतीयते । अथ वा ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ [ते० २ ।
६ । १] इति सृष्ट्यनन्तरत्वेन श्रूयमाणानुप्रवेशः स्थित्यर्थोऽन्य एवेत्यु-
क्तम् । व्यापकस्यापि परमात्मानोऽन्तर्यामिविग्रहद्वाराऽनुप्रवेश उपपद्यत

इति केचित् । जीवद्वारेवानुप्रवेशो न नु स्वत इति केचित् । प्रति-
वस्तु तत्तद्वस्तुमात्रपूर्णपरमात्मकार्यकारित्वात्तत्र प्रविष्ट इवेत्युक्तिरिति
केचित् ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

यदग्रे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम् ।

अग्रेयं द्रोहितं स्वरूपं रोहितो मागो दृश्यते तदग्निवृत्कृतस्य तेजसः
स्वरूपम् ।

यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य ।

स्पष्टोऽर्थः ।

अग्रेस्तेजोयन्नसमुदायरूपत्वे यावत्तेजोयन्नावस्थानमग्निरूपेणोपलभ्य-
माप्नोतीत्यत्राऽऽह—

अपागादग्रेरग्नित्वम् ।

तेष्वेव तेजोयन्नेष्वग्न्याद्यवस्थानाशकसामग्रीसंनिधानेऽग्नित्वावस्था-
पेता भवत्यवस्थान्तरं प्राप्नुमंवति ।

वाचारम्भणं विकारे नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

अतस्तेजोयन्नेरेवाग्नित्वाद्यवस्थालक्षणो विकारोऽग्न्यादिनामधेयं य-
थाकपूर्वकस्यवहारसिद्धये तेजोयन्नेरेव स्पृश्यते । अतस्तेजोयन्नस्वरू-
पाप्येवाग्निरिति सत्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं

यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापा-

गादादित्वादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो

नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

यद्यन्द्रममो रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां

यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्यन्द्राद्यन्द्रत्वं वाचारम्भणं

विकारे नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

यद्वियुतो रोहितः रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्वियुतो वियुत्त्वं वाचारम्भणं
विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ४ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः

पूर्वं महाशाला महाश्रोत्रियाः ।

उपादानावुपादेयं न भिद्यत इत्येतत्स्वरूपज्ञा महागृहस्थाः सर्वदेव-
पारगा वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवन्त इत्यर्थः । 'लटस्मे' इति स्मयोगाद्भू-
तार्थेऽप्याहु रिति लङ्गुपपत्तिः ।

न नोऽय कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाह-

रिष्यतीति होभ्यो विदांचक्रुः ॥ ५ ॥

तेजोबलान्वेव ज्ञातवर्ता नोऽस्माकमेभ्यस्तेजोबल्लेभ्योऽतिरिक्तमश्रुत-
ममतमेविज्ञातं कोऽपि नोदाहर्तुं शक्नोतीति तेजोबल्लेभ्य एव सर्वं
ज्ञातवन्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

सर्वस्यापि तन्नान्तर्भावमेव प्रदर्शयति—

यद्दु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांच-

क्रुर्यद्दु शुक्लमिवाभूदित्यपाः रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यद्दु

कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥ ६ ॥

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देव-

तानाः समास इति तद्विदांचक्रुः ।

रोहितशुक्लकृष्णत्वेन भासमानं तेजोबल्लात्मकमेवेति ज्ञातवन्तः ।
यत्तुक्तेन रूपेणाज्ञायमानमभूत्तदपि पीतमास्त्रिषुसरशोणादिरूपवत्त्वेन
ज्ञायमानमपि लोहितशुक्लकृष्णतेजोबल्लसमुदायात्मकमेव न तु ततोऽ-
तिरिक्तमिति ज्ञातवन्त इत्यर्थः । एवं सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य त्रिवृत्कृत-
तेजोबल्लरूपत्वेन तद्विभेदं प्रसाध्याध्यात्मं मांसलोहितमज्जास्थिलक्षणस्य
देहस्येन्द्रियमनःप्राणानां च त्रिवृत्कृततेजोबल्लाभेदं दर्शयितुं प्रसीति—

यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य
त्रिवृद्विद्वदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

तेजोयन्त्रानि पुरुषेण भुज्यमानानि पुरुषं प्राप्य यथा त्रिधा त्रिधा
परिणमन्ते तं परिणामप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ ७ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते ।

पुरुषेण भुक्तं जाठराग्निना पच्यमानमन्नं स्थविष्ठमध्यमाग्निष्ठकूपेण
त्रेधा विभक्तं भवति ।

तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति
यो मध्यमस्तन्मांसं योऽग्निष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

स्थूलांशः पुरीषतामापद्यते मध्यमांशस्तु मांसताम्, अग्निष्ठांशस्तु
मनस आप्यायकतामापद्यते । मनस आहंकारिकत्वेनान्नविकारत्वाभावा-
दिति भावः ॥ १ ॥

आपः पीतास्रेषा विधीयन्ते तासां यः
स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यम-
स्तल्लोहितं योऽग्निष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थ-
विष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः
स मज्जा योऽग्निष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

तदधृतादिकं तेजःशब्देनोच्यते । मज्जाऽप्यन्तर्गतः सेहो धातु-
विशेषः । घृततलादेः पीतस्य मूत्रमांशो धागाप्यायक इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्नमयः हि सोम्य मन आपो-
मयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।

उक्तीत्या मनःप्राणवाचामन्नजलतेजःसूक्ष्मांशाप्यायितत्वान्मनोऽन्न-
मयं प्राणोऽम्मयस्तेजोमयी वागित्यर्थः । ननु केवलान्नभक्षाणामासुप्त-
भृतीनामपि वाग्मित्वप्राणवस्त्वदर्शनादस्मात्प्रभक्षाणामपि मत्स्यादीनां
मनस्वित्त्ववाग्नित्वदर्शनाद्घृततैलमात्रभक्षाणामपि मनस्वित्वप्राण-
वस्त्वदर्शनात्कथमन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि-
त्युपपद्यत इति चेत्सर्वस्यापि त्रिवृतकृतत्वेन सर्वस्यापि मध्यस्थ तेजो-
वन्नरूपतयाऽन्नमयं सोम्येत्याद्युक्तेर्विरोधाभावात् । एवं प्रत्यायितः श्वेत-
केतुराह—

भूय एव मा जगवान्विज्ञापयत्विति ।

एवमशितानां तेजोवन्नानां सूक्ष्मांशा वागाद्याप्यायकाः सन्तीत्यन्न-
न मनसो विन्नम्मः । अतः पुनरपि सम्यग्दृष्टान्तरमुमर्थं दर्शयेत्यर्थः ।

तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

आचार्योऽपि तथाऽस्त्वित्युवाचेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

दध्नः सोम्य मध्यमानस्य योऽणिमा स

ऊर्ध्वः समुदीपाति तत्सर्पिर्जवाति ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्वमानस्य योऽणिमा

स ऊर्ध्वः समुदीपाति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

यथा मध्यमानस्य दध्न ऊर्ध्व उद्गतोऽणिमा सूक्ष्मांशो घृतं भवत्येव-

मह्यमानस्यान्नस्योर्ध्वं उद्धतः सूक्ष्मांशो मनो भवति मनआप्यायको
भवतीत्यर्थः । समुदीपति, ईष गतिर्हिंसादर्शनेष्विति हि धातुः ॥ १ ॥ २ ॥

अपाश् सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स

ऊर्ध्वः समुदीपति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स

ऊर्ध्वः समुदीपति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

अन्नमयश्च हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजो-

मयी वागिति भूय एव सा जगवान्विज्ञापयत्विति ।

मनसोऽन्नमयत्वं यथा बुद्ध्यारूढं भवति तथा प्रदर्शयेत्यर्थः ।

तथा सोम्येति होवाच ।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

पूर्ववदर्थः ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकार्या षष्ठप्रपाठकस्य

षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽऽशः काममपः

पिवाऽऽपोमयः प्राणो न पियतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

षोडशांशयुक्तमनआदिकलायुक्तः पुरुषः । तत्तश्च मनआदिषोड-
शांशाः प्रत्यहं मुख्यमानैरन्नादिमिराप्यायिता भवन्ति । तत्र पञ्चदश
दिनानि मा मुद्ब्रूयाः । यथेष्टं जलं पिय जलपानेन प्राणविच्छेदोऽपि न
भविता जन्ममयत्वात्प्राणस्येत्याचार्य उवाचेत्यर्थः ॥ १ ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽश ।

एवं पित्रोक्तः पुत्रः पञ्चदशाहानि न मुक्तवान् ।

अथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति ।

पोढशेऽहनि पितरमुपसन्नः शिष्यो भगवन्किं ब्रवीमीत्युक्तवान् । इतर आह—

ऋचः सोम्य यजूथपि सामानीति ।

अधीतान्वेदान्पठेत्युक्तवानित्यर्थः ।

स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

मां प्रति वेदा न मान्तीतीतरः प्रत्युक्तवान् ॥ २ ॥

तः होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यै-
कोऽङ्गारः स्वद्योतमानः परिशिष्टः स्यात्तेन
ततोऽपि न बहु दहेदेवः सोम्य ते पोढशानां
कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तथैतर्हि
वैशान्तानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥ ३ ॥

हे सोम्य यथा लोके महत इन्धनैरभ्याहितस्य शान्तस्याग्नेरेकोऽङ्गारः
स्वद्योतमानः परिशिष्टो भवेत्तेनाङ्गारेण स्वद्योतमात्रपरिमाणार्त्किंचिदपि
यत् न दहेदेषमेव खलु सोम्य तेऽन्नोपचितानां पोढशानां मनसोऽशाना-
मेकोऽशोऽवशिष्टः । पञ्चदशदिनेषु पञ्चदशकलानां क्षीणत्वाविति
भावः । अतोऽल्पीयसा तेनांशेनेदानीं वेदान्न प्रतिपद्यसे भुङ्क्ष्व तत ऊर्ध्वं
मदुक्तं ज्ञास्यसीत्यर्थः ।

स हाऽऽशाथ हैनमुपससाद ।

भुक्त्वा पितरमुपसन्नः ।

तः ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

पप्रच्छत्वास्तत्सर्वं स ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

तः होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यै-
कमङ्गारं स्वद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तूणैरु-
पसमाधाय प्राज्वालयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ।
एवः सोम्य ते पोढशानां कलानामेका कलाऽति-

शिष्टाऽमूत्ताऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयै-
तर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयः हि सोम्य मन
आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।

यथा ज्ञान्तस्य बह्वेरेकमङ्गारे खद्योतमात्रं परिशिष्टं तृणादिभिरुप-
समिध्य प्रकर्षणाऽऽ समन्तादूर्ध्वयेत्तेन चेन्द्रेनाङ्गारेण ततोऽपि पूर्वपरि-
माणाद्बहु बहेत् । एवं हे सोम्य ते षोडशानां मनोऽज्ञानामेकोऽशोऽ-
न्नेनाऽऽप्यायितः प्रज्वलितः स्वकार्यकरणसमर्थः । अतो वेदान्प्रतिप-
द्यते । अतोऽन्नमयमेव मनः । अनयैव रीत्याऽऽपोमयः प्राणस्तेजोमयी
वागिति ।

तद्वास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

तत्, मनआदीनामन्नमयत्वादिक्रमस्योपदेशाज्ज्ञातवानित्यर्थः ।
द्विरभ्यासस्त्रिवृत्करणप्रकारसमाप्त्यर्थः । प्रकृतविषयाण्यधिकरणानि
तिर्य्यन्ते द्वितीयाध्यायान्ते—‘ अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे
व्याकरवाणीति ’ [छा० ६ । ३ । २] इति स्वांशत्वेनाऽऽत्ममूतस्य
जीवस्यानुप्रवेशव्याकरणकर्तृत्वाभिधानात्परदेवतायाः स्वेन रूपेणानु-
प्रवेशानुक्तेर्हिरण्यगर्भस्य नामरूपव्याकर्तृत्वस्य पुराणादिषु प्रसिद्धत्वा-
त्परमात्मांशभूतो हिरण्यगर्भ एव प्रवेशनामरूपव्याकरणयोः कर्ता ।
न चेवं व्याकरवाणीति परमात्मनोऽभिसंधिर्नोपपद्यत इति घाट्यम् ।
जीवसमष्ट्याश्रयस्य प्रवेशव्याकरणकर्तृहिरण्यगर्भस्य परमात्मांशतयाऽप्य-
न्तमिन्नत्वामावेन तद्गतनामरूपव्याकर्तृत्वस्य प्रवेशसमानाधिकरणस्य
स्वनिष्ठतया परमात्मनोऽनुगमधानोपपत्तेः प्रयोजककर्तृतयाऽपि व्याकरवा-
णीत्यभिमंथ्युपपत्तेश्च । यदि पुनः परमात्मनः साक्षात्कर्तृमायो भवेत्त-
र्हि तेन जीवेनैतदनर्थकम् । जीवस्य कर्तृत्वामावेन चारेणानुप्रविश्य पर-
सम्यं संकल्पयानीतिवत्करणत्वं एव तृतीया याच्या । करणत्वं च तदे-
वोपपद्यते यदि परमात्मा प्रयोजककर्ता जीवश्च प्रयोज्यकर्ता स्यात् ।

प्रयोजककर्तुर्हि साक्षात्कर्ता करणं भवति प्रधानक्रियोद्देशेन प्रयोजकेन प्रयोज्यकर्तुर्व्याप्रियमाणत्वात् । अतो जीवेनेति करणत्वेन निर्दिश्यमानो जीवः साक्षात्कर्तृत्ववसीयते । अतस्तेजोबलानि प्रविश्य हिरण्यगर्म एव नामरूपे व्याकरोति । अतो हिरण्यगर्मकर्तृकैव नामरूपा ध्याक्रियेति प्राप्त उच्यते—‘संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्’ [ब्र० सू० २।४।२०] । संज्ञामूर्तिक्लृप्तिर्नामरूपव्याकरणं त्रिवृत्करणं कुर्वतः परमात्मन एव न हिरण्यगर्मस्य ‘अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्’ ‘तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्’ [छा० ६।३।४] इति त्रिवृत्करणनामरूपव्याकरणयोः समानकर्तृकत्वावगमात् । न च त्रिवृत्करणं हिरण्यगर्मकर्तृकं संमपति, हिरण्यगर्मस्य त्रिवृत्कृततेजोबलतोत्पादितब्रह्माण्डसमृत्त्वावेव नेन तस्य त्रिवृत्करणकर्तृत्वासंभवात् । अतो जीवसमद्विशरीरकः सन्परमात्मा नामरूपे व्याकरोदिति सिद्धम् । अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्येत्यस्योपपत्तिस्तु तद्वाक्यविवरणदशायामेवोक्ता तत्रैवानुसंधेया । ननु ‘यदग्रे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्’ [छा० ६।४।१] ‘अन्नमशितं त्रेधा विधीयते’ [छा० ६।५।१] इत्युत्तरत्र चतुर्मुखसृष्ट्याद्यादिषु त्रिवृत्करणप्रकारप्रदर्शनाच्चिवृत्करणमपि चतुर्मुखकर्तृकमेवेत्यत्राऽऽह—‘मांसादि भोमं यथाशब्दमितरयोश्च’ [ब्र० सू० २।४।२१] । यदुक्तमण्डसृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टेर्वादिबिषयोऽयं ‘तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्’ [छा० ६।३।४] इति त्रिवृत्करणोपदेश इति तन्नोपपद्यते । अन्नमशितं त्रेधा विधीयत इत्यत्र मांसमनसोः पुरीषादणुत्वेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोराप्यत्वतेजसत्वप्रसङ्गाद्यद्यपेक्षया सूक्ष्मं तत्तस्य कारणम् । अत एव हि पार्थिवाप्यतेजसानामुत्तरोत्तरसूक्ष्मतयोत्तरोत्तरकारणत्वम् । ततश्च पुरीषस्य स्थविष्ठत्वात्पार्थिवत्वम् । ततः सूक्ष्मस्य मांसस्याऽऽप्यत्वम् । ततोऽणिष्ठस्य मनसस्तैजसत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तथा—‘आपः पीताः’ [छा० ६।५।२] इत्यत्रापि स्थविष्ठस्य मूत्रस्य पार्थिवत्वं मध्यमस्य लोहितस्याऽऽप्यत्वं ततोऽप्यणीयसः प्राणस्य तेजसत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तथा—तेजोऽशितमित्यत्रापि स्थूलस्याऽऽन्नः पार्थिवत्वं मध्यमाया मज्जाया आप्यत्वमणिष्ठाया वाचस्तेजसस्त्वमभ्युपगन्तव्यम् । न चेवमिष्यते । प्रथमपर्याये पुरीषवन्मांसमनसी अपि पार्थिवे एव प्रतिपाद्येते, अन्नमशितं त्रेधा विधीयत इति

प्रक्रमत् । तथा द्वितीये पर्याये मूत्रलोहितप्राणानामब्धिकारत्वं प्रति-
पाद्यते । तृतीयपर्यायेऽस्थिमज्जावाचां तेजोविकारत्वमेव प्रतिपाद्यते ।
अतस्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोदित्युक्तत्रिवृत्करणप्रकारोऽन्नम-
शितमित्यादिना न प्रदर्श्यते तथा सति हि मनःप्राणवाचां तिसृणा-
मप्यणीयस्त्वेनान्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति
विरुध्येत । अतः प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राप्तानाम-
न्नमशितमित्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते । अण्डसृष्टेः प्रागेव
तेजोबलानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यमत्रिवृत्कृतानां तेषां कार्यारम्भा-
सामर्थ्यात् । अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्भसामर्थ्यं तदेव च
त्रिवृत्करणम् । तथा च स्मर्यते—

नानाधीयाः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।

नाशस्तुयन्मजाः सद्गुमत्तमागम्य कृत्स्नशः ॥

समेत्पानोन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।

महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते । इति ॥

अत एव च 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्'
'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' [छा० ६।३।४] इति पाठक-
मोऽप्यर्थक्रमेण बाध्यते । अण्डान्तर्वातिसृष्ट्याविपु त्रिवृत्करणप्रदर्शनं तु
श्वेतकेतोः शुश्रूषोरण्डान्तर्वातित्वेन तस्य बहिष्ठयस्तुपु त्रिवृत्करणप्र-
दर्शनायोगाच्चिवृत्कृतानां कार्येष्वग्न्यादिपु त्रिवृत्करणप्रदर्शनं कृतमि-
त्यपिरोधः । नन्वण्डान्तर्गतानां सर्वेषां त्रिवृत्कृततेजोबलरूपत्वे व्यप-
स्थिततेजोबलव्यवहारः कथं स्यादित्यत्राऽऽह—'वैशेष्यास्तु तद्वादन्त-
द्वादः' [ब० सू० २।४।२२] पृथिव्यंशानां मूयस्त्ये पृथिवीति
व्यवहारो जलांशानां मूयस्त्ये जलव्यवहार इति व्यवहारव्यवस्थोपपद्यत
इत्यर्थः । तद्वादन्तद्वाद इति सूत्रे द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतनार्थेति
स्थितम् । तथा द्वितीयाध्याय आरम्भणाधिकरणे—उपादेयमुपादानाद-
न्यदेय पटेनोदकमाद्वियते मृत्पिण्डेन चट्टादिकं निर्भीयत इति कार्य-
मेदात् । तथा चट्टस्य दण्डचक्रादिकं कारणं मृत्पिण्डस्य तु जलसंयो-
जनमर्दनादीति कारणमेदात् । तथा चटः पृथुपृष्ठोदराकारो मृत्पिण्डस्त्व-
तदाकार इत्याकारमेदात् । तथा पुंजालं काण्यमपरजालं कार्यमिति
कालमेदात् । चटपस्तन्तव एकः पट इति संख्यामेदात् । मत्पानंय मृदि
पटो नष्ट इति प्रतीतिः । कार्यकारणयोर्बुद्धिदाद्यादिभेदस्य दर्शनायो-

पादानादन्यदेवोपादेयमितरथा कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति काणा-
 दादिमतावलम्बनेन पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘तद्वन्नन्यत्वमारम्भणशब्दा-
 दिभ्यः’ [ऋ० सू० २।१।१४] तस्मात्परमकारणाद्वह्यणो जगतोऽ-
 नन्यत्वं वाचारम्भणशब्दादिभिरवगम्यते । ‘वाचाऽऽरम्भणं विकारो
 नामधेयम्’ [छा०।६।४।१] इत्यस्यार्थः पूर्वमेव वर्णितः ।
 आदिशब्देन ‘सदेव सोम्येवमग्र आसीत् । [छा० ६।२।१] येना-
 मृतं भुतं भवति’ [छा० ६।१।३] ‘एकमेवाद्वितीयम्’ [छा० ६।
 २।१] इत्यादिकं गृह्यते । यदि च वैशेषिकादिरीत्योपादेयमुपादानाव-
 न्यत्स्यात्तदा कारणगुणप्रक्रमेण कार्यगुणोत्पत्तेरुपादानसुवर्णगुरुत्वेन तदु-
 पादेयकुण्डले गुरुत्वोत्पत्त्यभ्युपगमावश्यभावेन गुरुत्वाद्गुण्यप्रसङ्गात् ।
 बुद्धिशब्दादिमेदानामुभयसंप्रतिपत्तावस्थयैव व्यवस्थोपपत्ताववस्थाभ-
 यद्व्याप्तरोत्पत्तिकल्पनाया अप्रामाणिकत्वात् । ननु विरलतन्तुधारब्धे
 पट एकस्मिन्नेव काले कथमेकत्वानेकत्वयोरुपगपुपलम्भः, एकस्मिन्ध-
 मिणि विरुद्धधर्मद्वयासंमदादिति चेन्न । एकस्मिन्नेव वृक्षे मूलाद्यव-
 च्छेदकमेवेन संयोगतदभावसत्यवत्कुबिन्दकारितसंयोगविशेषावच्छेदेन
 तन्तुषु पटत्वमेकत्वं च तन्तुत्यावच्छेदेन त्वनेकत्वमित्युपपत्तेः । ननु
 कुबिन्दकारितसंयोगास्तन्तुत्वसंकीर्णा प्येति कथं विरुद्धधर्मावच्छे-
 देन व्याप्यत्वावच्छेदकत्वमिति चेन्न । आर्त्वेन्धनपत्रवद्वित्वत्वावच्छेदेन
 धूमव्याप्यत्वावच्छेदकत्वमिति वद्वित्वेऽविशेषितवद्वित्यत्यावच्छेदेन व्याप्य-
 तावच्छेदकत्वाभावस्य वृत्त्यभ्युपगमात् । एवं कार्यकारणानन्यत्वधावेऽ-
 प्येकस्मिन्नेव द्रव्ये तन्तुत्वावस्थाप्रापकांशसंयोगविशेषावच्छेदेन तन्तुत्वं
 तन्तुत्वावच्छेदेनानेकत्वं च । पटत्वप्रापकतन्तुसंयोगविशेषावच्छेदेन पटत्वं
 पटत्वावच्छेदेनानेकत्वं चेति पटत्वतन्तुत्वयोरनेकत्वानेकत्वयोश्च समावेशो-
 पपत्तेर्न कश्चिद्दोषः । ननु संस्थानस्यासत् उत्पत्तावसत्कार्यधादप्रसङ्ग इति
 चेत् । असत्कार्यवादिमतेऽप्युत्पत्तेरुत्पत्तिमत्वेऽनवस्था स्यात् । उत्पत्ति-
 राहित्ये सत्कार्यधादप्रसङ्गः । अस्माकं त्ववस्थायाः पृथक्प्रतिपत्तिकार्य-
 योगानर्हत्वात्तृथगुत्पत्त्यादिकं नापेक्षितम् । अस्मन्मते घटस्योत्पत्तिर्नाम
 घटत्वावस्थासंबन्ध एव न त्वसत्तः सत्त्वरूपम् । अत उपादेयमुपादाना-
 दनन्यदेव । ‘भावे चोपलब्धेः’ [ऋ० सू० २।१।१५] । हिरण्यकुण्डला-
 दिकार्यभावेऽपि तदेवेदं हिरण्यमिति प्रत्यभिज्ञारूपोपलब्धेः सत्त्वादभेद
 एवेत्यर्थः । ‘सत्त्वान्नावरस्य’ [ऋ० सू० २।१।१६] । अवरस्य कार्यस्य

कारणे तादात्म्येन संबन्धेन सत्त्वाच्चोपादानादनन्यदुपादेयम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छा० ६।२।१] इति कार्ये नष्टेऽपि कारणे कार्य-
तादात्म्यप्रतीतेरित्यर्थः । 'भावे चोपलब्धेः' [ब्र० सू० २।१।१५] इति
सूत्रे कार्यदृशायां कार्ये कारणतादात्म्यप्रतीतिः प्रमाणतयोपन्यस्ता ।
उत्तरसूत्रे तु कार्यनाशानन्तरमपि कारणे कार्याभेदप्रतीतिः प्रमाणतयो-
पन्यस्तेति विवेकः । 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्'
'युक्तेः शब्दान्तराच्च' [ब्र० सू० २।१।१७।१८] । 'असद्वा इदमग्र
आसीत्' [ते० २।७] । 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनाऽऽसीत्' इति जगतः
सृष्टेः । वागसत्त्वव्यपदेशात्सृष्टेः प्रागपि सत्त्वोपादानेनोपादेयस्यैक्यं नोप-
पद्यत इति चेन्न । नामरूपविभागलक्षणधर्मान्तराभावमादायासत्त्वव्यप-
देशोपपत्तेः । जगतः सत्त्वं नामरूपमाकृत्वम् । असत्त्वं नामरूपविरो-
धिनी सूक्ष्मावस्था न तु सर्वात्मनाऽसत्त्वम् । कुत इवमवगम्यत इति
चेत्—'वाक्यशेषात्' । 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनाऽऽसीत्' इत्यत्र 'तदस-
देव सन्मनोऽकुरुत' इति वाक्यशेषे मनःकर्तृत्वप्रतिपादनात् । 'युक्तेश्च'
घटस्य सत्त्वं हि नाम घटत्वावस्थासंबन्धः । असत्त्वं नाम तद्विरोधिकपा-
लत्वचूर्णत्वाद्यवस्थासंबन्ध एव न हि तद्व्यतिरिक्तो घटाभावो नाम
कश्चिदुपलभ्यते । 'शब्दान्तराच्च' 'कुतस्तु खलु सोम्येवम् स्यादिति
होषाच्च' [छा० ६।२।१] इति तुच्छत्वं प्रतिक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र
आसीत्' [छा० ६।२।१] इति स्थापितत्वात् । 'तद्धेदं तद्गन्माकृतमासीत्-
ज्ञानरूपाम्भामेष ध्याक्रियत' [बृ० १।४।७] इतिसुस्पष्टमभिधानाच्च ।
'पदवच्च' [ब्र० सू० २।१।१९] । यथा तन्तव एव व्यतिपङ्गुविशेषमाजः
पट इति नामरूपकार्यादिकं भजन्ते तद्वद्ब्रह्मापि । 'वथा च प्राणादि'
[ब्र० सू० २।१।२०] यथा वायुरेक एव शरीरे वृत्तिविशेषं भजमानः
प्राणापानादिनामरूपकार्यान्तराणि भजते तद्वदेकमेव ब्रह्म विचित्राभि-
रत्र सरूपं जगद्भूयतीति परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगतोऽभ्यु-
पगन्तव्यमिति स्थितम् । तथा प्रथमाध्याये प्रकृत्यधिकरणे—लोके
घटकुरुः कुलालन्योपादानत्यादशनाज्जगत्कुरुः परमात्मनो जगदुपादा-
नत्वं न संभवति । किं च निष्कलतयाऽपरिणामिनः परमात्मनः परिणा-
मित्यलक्षणोपादानत्याममवाच्य ब्रह्मणो नोपादानत्वम् । अपि तु 'अस्मा-
न्माथी सृजते विश्वमेतत्तस्मिन्माथ्यान्मो मायया संनिरुद्धः' [श्वे० ४।१०]
'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' [श्वे० ४।१०] इति

श्रुतिवशात्परिणामसमर्थप्रकृतिरेवोपादानमीश्वरस्य तु तदधिष्ठातृत्वमा-
त्रमेवेति प्राप्त उच्यते—‘प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्’ [ब० सू० १।४।
२३] प्रकृतिश्चोपादानं च ब्रह्मैव । इतरथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रति-
ज्ञाया मृत्पिण्डादिदृष्टान्तस्य चोपरोधप्रसङ्गात् । न ह्युपादानभूतमृत्पिण्ड-
ज्ञान इव निमित्तभूतदण्डादिज्ञाने तत्कार्यं घटशरावादिकं ज्ञातं भवति ।
अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मृत्पिण्डादिदृष्टान्तस्वारस्येन च
ब्रह्मजगतोरुपादानोपादेयभाव एवावसीयते । न चास्य ग्रामस्य प्रधान-
भूते चैत्रे दृष्टे सर्वे ग्रामस्था दृष्टा इति व्यपदेशवद्ब्रह्मणः सर्वप्रधानतया
तस्मिन्दृष्टे सर्वं विदितप्रायमित्युक्तिरुपपद्यत इति वाच्यम् । यदि ह्यत्र
सर्वविज्ञानं प्राधान्याभिप्रायं गौणं स्यात्तदा प्रधानज्ञानेन सर्वमन्यदप्र-
धानमविदितमपि फलतो विदितप्रायं भवतीत्यस्यार्थस्य लोकासिद्धत्वे-
नैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानानुपपत्तिं पश्यतः श्वेतकेतोः ‘कथं नु भगवः
स आदेशः’ [छा० ६।१।३] इति प्रश्नो न स्यात् । अभिप्रायान-
भिज्ञेन कृतेऽपि प्रश्ने प्राधान्याद्वा सादृश्याद्वा सर्वं ज्ञातं स्यादित्येष
प्रतिपक्षव्यर्थं स्यान्न तु ‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन’ [छा० ६।१।
४] इति । अतो ब्रह्मोपादानमेव । ‘अभिध्योपदेशाच्च’ [ब० सू०
१।४।२४] । ‘तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय’ [छा० ६।२।३]
इति ब्रह्मण एव संकल्पपूर्विका सृष्टिरुपदिश्यते । न हि कुलालादेरी-
दृशसंकल्पपूर्विका सृष्टिः संभवति । ‘साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।’ [ब० सू०
१।४।२५] । ‘ब्रह्म धनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्ठ-
तक्षुः । मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः । ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ।’
इति हि श्रूयते । यत उपादानादद्यावापृथिवीशब्दोपलक्षितं कृत्स्नं
जगद्ब्रह्म निष्ठतक्षुः । निष्ठतक्षुर्निर्मितवानित्यर्थः । वचनव्यत्ययश्छान्दसः ।
तादृशवृक्षस्थानीयद्यावापृथिव्यादिजगदुपादानमपि ब्रह्मैव । तस्यो-
पादानभूतस्य वृक्षस्याऽऽधारभूतं धनमपि ब्रह्मैव । भुवनानि धारयन्ती-
श्वरो ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वात्मानमेवाध्यतिष्ठदित्यर्थः । अतश्चाधिष्ठेयगुणक-
रणादिकमपि ब्रह्मैवेत्यर्थः । ‘आत्मकृतेः’ [ब० सू० १।४।२६] ।
‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’ [२।७।१] । इत्यात्मन एव बहुत्वकर-
णात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च । न हि कुलाल आत्मानं स्वयमकुरु-
तेति व्यपदेशोऽस्ति । ननु ‘निष्कलं निष्क्रियम् ।’ [श्वे० ६।१९] इति निर-
वयवस्यापरिणामिनः कथं परिणामित्वलक्षणमुपादानत्वं स्यात्तत्राऽऽह—

‘परिणामात्’ [ब्र० सू० १।४।२६] निर्विकारत्वाद्यविरोधिपरिणामविशेष-
 संभवादित्यर्थः । अयं भावः—‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्’ [श्वे० १६।
 १९] इत्यादिभिः परमात्मनो निर्विकारत्वं प्रतीयते, पूर्वोक्तसूत्रोदाहृत-
 श्रुतिभिः प्रपञ्चोपादानत्वं च प्रतीयते । उभयमपि यथोपपद्यते तथोप-
 पादनीयम् । परमात्मनश्च निर्विकारत्वं श्रूयते—‘विकारजननीमज्ञामष्ट-
 रूपामजां ध्रुवाम्’ ‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्’ [श्वे० ४।५।
 ‘अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः’
 [श्वे० ४।९] ‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्’ [श्वे० ४।१०]
 इत्यादिवाक्येषु प्रपञ्चोपादानतया परिणामिनि प्रकृतिः प्रतीयते । तत्र परि-
 णाममानप्रकृतिरूपोपादानावरुद्धे प्रपञ्चे साक्षात्कारणत्वासंभवात्तद्द्वारा
 ब्रह्म कारणमित्यवसीयते । यथा ‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालः’ इति पुरोडाशा-
 वरुद्धे यागे व्रीहीणां कारणत्वं साक्षात्कारणत्वासंभवात्पुरोडाशद्वारा
 पर्यवस्यति तद्वत् । ननु भवत्वन्यद्वारा कारणत्वनिर्वाहो व्यापारव्यवधा-
 नेऽपि कारणत्वाक्षतेः । उपादानत्वं तु नान्यद्वारा संभवति । माध्यवस्था-
 यतः पूर्वावस्थायोगित्वं ह्युपादानत्वम् । अवस्थाभयत्वं शून्ये परमात्मनि
 कथमुपादानत्वमिति चेन्न । परमात्मश्रितायास्तच्छक्तिभूतायाः प्रकृतेरव-
 स्थाभयत्वेन परमात्मनोऽप्यवस्थाभयत्वं यथोपपत्तेः । ततश्च ब्रह्मणि साक्षा-
 द्विकाराभावमादायापरिणामित्वनिर्विकारत्वश्रुतयश्चोपपन्नाः । शक्तिश-
 रीराविशब्दितायाः प्रकृतेर्ब्रह्मणश्चाभेदोपचारेण वा, प्रकृतिगताव-
 स्थायाः परम्परया ब्रह्माश्रितत्वेन वा ब्रह्मणः परिणामोपादानत्व-
 वादा ब्रह्मोपादानत्वादलम्बनाश्च ‘न विलक्षणत्वाद्स्य तथात्वं च
 शब्दात्’ [ब्र० सू० २।१।४] ‘कृत्स्नप्रसक्तिर्निर्वयवत्वशब्दकोपो वा’
 [ब्र० सू० २।१।२६] इत्याद्याक्षेपपरिहाराश्चोपपन्नाः । योनिश्च हि
 गीयते’ [ब्र० सू० १।४।२७] । ‘यन्दूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः’ [मु०
 १।१।६] इति योनिरुपादानमिति हि ब्रह्म गीयते । योनिशब्दस्योपा-
 दानवचनत्वम् ‘यर्थोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च’ [मु० १।१।७] इति
 वाक्यशेषोपादवगम्यते । अतश्च ब्रह्मैव निमित्तमुपादानं चेति स्थितम् ।
 प्रकृतमनुसरामः ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्ध्यर्थं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तदुपादेयत्वं वक्तुं प्रवृत्तस्तेजोयन्त्रात्मकसकलाचेतनवर्गस्य तदुपादेयत्वमुक्त्वा चेतनवर्गस्यापि तदुपादेयतां प्रतिपादयितुं प्रस्तौति—

उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमु-
वाच स्वमान्तं मे सोम्य विजानीहीति ।

स्वमान्तं सुपुत्रिं प्रतिपादयतो मम वाक्याद्विजानीहीति पिता पुत्रमाह स्मेत्यर्थः । एवं शिष्यावधानार्थं प्रतिज्ञायाऽऽह—

यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम ।

यत्र यदा पुरुषः स्वपितीत्येतन्नाम भवति पुरुषः स्वपितीतिशब्दो यदा प्रयुज्यत इत्यर्थः । पुरुषस्वापो यदेति यावत् । नामशब्दः प्रसिद्धपर्यो वा ।

सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ।

तदा तस्मिन्स्वापकाले सदैव सोम्येति प्रकृतेन सता संगतो भवति तस्या एव सत्संपत्तेः सति लयरूपत्वं स्वपिति नाम निर्वचनानुगुणं विवृणोति—

स्वमपीतो भवति ।

अत्र स्वशब्दस्तावन्न जीवमात्रपरः । 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' इति स्थानप्रमाणेन सच्छब्दस्वशब्दयोरेकविषयत्वावश्यमावात् । सच्छब्दस्य चास्मिन्नकरणे परमात्मविषयत्वात्स्वशब्दोऽपि तत्पर एव । ननु जीवभिन्नत्वात्परमात्मनस्तस्य कथं जीवं प्रति स्वत्वमिति चेदुच्यते—देवमनुष्यादिनामरूपामिमानरागलोमाद्यगुणवहिर्दुःखज्ञानप्रसरवज्जागरितावस्थजीवविशिष्टः परमात्मा देवमनुष्यादिनामरूपरागद्वेषलोममोहाद्योपाधिकबाह्याभ्यन्तराकारामिमानका-लुप्परहितजीवशरीरकः सन्नात्मन्यन्तर्भूत इत्यर्थ इति 'स्वाप्ययात्' [ब० सू०१।१।९] इति सूत्रे व्यासार्थैर्व्याख्यातत्वान्नानुपपत्तिः । अत्र त्वपि-पूर्यस्थेतेल्यार्थस्य सकर्मकत्वात्स्वमपीत इति द्वितीया ।

तस्मादेनः स्वपितीत्याचक्षते स्वः सपीतो भवति ॥ १ ॥

हि यस्मात्स्वस्मिणीनो भवति तस्मात्स्वपितीति लौकिका आचक्षत

इत्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वपिधातोर्निष्पन्नः स्वपितिशब्दो न तु स्वशब्दो-
पपदादपीतिस्तथाऽप्यशनायादिनिर्वचनवदर्थवादरूपत्वमुपपद्यत इति द्रष्ट-
व्यम् । अत्र जीवस्य परमात्मनि लयप्रतिपादनात्तेजोब्रह्मादिवजी-
वस्यापि तदुपादेयत्वात्तज्ज्ञानेन ज्ञातत्वमुपपादितं भवति । ननु 'यत्रै-
तत्पुरुषः स्वपिति नाम' इति पुरुषशब्दनिर्दिष्टस्यैव स्वशब्देन परामर्श-
व्यतया पुरुषशब्दस्य जीवमात्रविश्रान्तत्वेन स्वशब्दस्यापि तत्पर्यन्त-
त्वमेवोचितम् । न च पुरुषपदस्यापि ब्रह्मपर्यन्तत्वकल्पनं युक्तम् ।
'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम' 'तस्मादेन* स्वपितीत्याचक्षते' इत्युप-
क्रमोपसंहारयोर्लौकिकप्रसिद्धनुवादालौकिकानां ब्रह्मणि तत्प्रसिद्धेर-
भावात् 'सति संपद्य न विदुः' [छा० ६।९।२] 'सत आगम्य
न विदुः' [छा० ६।१०।२] इत्युत्तरखण्डयोः प्रतिपाद्यमानस्या-
ज्ञानस्य ब्रह्मान्वयासंभवाच्च 'पुरुषः स्वपिति नाम' इति वाक्यस्थपुरु-
षशब्दस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वामायेन स्वशब्दस्यापि न ब्रह्मपर्यन्तत्वं संभवति ।
किं च 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इति वाक्ये सच्छब्दिते
ब्रह्मणि स्थूलावस्थजीवविशिष्टपरमात्मलयप्रतिपादने तत्तुल्यार्थत्वेना-
भ्युपेते 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' [बृ० ४।३।२१] इति
वाक्येऽपि परिष्वक्तत्वमपि जीवशरीरकस्य ब्रह्मण एव स्यात् । न
चेष्टापत्तिः । 'सुषुप्सुक्तान्त्योर्भेदेन' [बृ० सू० १।३।४२] इति
सूत्रे परिष्वक्तकेन प्राज्ञेन परिष्वज्यमानस्याज्ञस्य जीवस्य भेदप्रतिपा-
दनं विरुध्यत इति चेदत्र केचित्—शास्त्रानभिज्ञलौकिकप्रसिद्धैर्वै-
व्यतिरिक्ते जीवेऽप्यभावादभिज्ञप्रसिद्धिरेव स्वपितीत्याचक्षत इत्यनुर-
ध्यते । अभिज्ञप्रसिद्धिश्च परमात्माविषयाऽपि संभवति । 'संपद्य न
विदुः' इत्यग्रिमखण्डे प्रतिपाद्यमानमज्ञानमपि जीवद्वारा ब्रह्मणि
संगच्छते । 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' इति प्रतिपाद्यमानस्य परि-
ष्वङ्गस्य सत्संपत्तेश्चैक्यमपि नाभ्युपगन्तव्यम् । 'सता सोम्य तदा
संपन्नो भवति' 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' इत्यनयोरेकार्थ्योक्ति-
धोमभयोरपि सुषुप्तिविषयत्वादुपपद्यते, न तु सर्वात्मनैकार्थत्वं येन
'सुषुप्सुक्तान्त्योर्भेदेन' इति सूत्रं विरुध्येत । अतः 'पुरुषः स्वपिति
नाम' इत्यत्रापि पुरुषशब्दो ब्रह्मपर्यन्त एव । अतः स्वशब्दस्य ब्रह्म-
पर्यन्तत्वे नानुपपत्तिरिति व्यासार्थोक्तिः समर्थयन्ते । 'सन्मूलाः सोम्येमाः
सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यतित्राः' [छा० ६।८।४] 'तेन द्रात्म्यमिदं सपं

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छा० ६ । ८ । ७] इति वाक्यविवरणप्रवृत्तेन भगवता भाष्यकृता महासिद्धान्ते तत्त्वमसीत्यत्रोद्देश्योपादेयविभागः कथमिति चेन्नात्र किञ्चिदुद्दिश्य किमपि विधीयते 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात् । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । इदं सर्वमिति सजीवं जगत्सिर्दिश्य, ऐतदात्म्यमिति तस्यैव आत्मेति तत्रैव प्रतिपादितम् । तत्र च हेतुरुक्तः 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा० ३ । १४ । १ ।] इतिवदिति भाषितम् । अत्र व्यासार्थैः 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति वाक्ये सर्वशब्देन प्रजानां विशेषितत्वात्प्रजाशब्दस्य चाचित्संसृष्टचेतनविशेषपरत्वात् । 'इदं सर्वमसृजत' [बृ० १ । २ । ३ ।] इति वाक्यान्तरं विज्ञानाविज्ञानशब्दवाच्यचिद्विदात्मकस्य जगतः सर्वशब्देन निर्दिशाच्च प्रजाशब्देन सजीवं जगत्सिर्दिश्यते । सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठा इत्यपि पदद्वयं सच्छब्दवाच्यब्रह्माधीनोत्पत्तिलयत्वपरम् । प्रतिष्ठा निष्ठा पर्यवसानं लय इति यावत् । सदायतना इति सदाधारकत्वमुच्यते । अनेन जगतः शरीरत्वं फलितम् । तत्कथमिति चेदित्थम् । उत्पत्तिलयहेतुत्ववाचिपदद्वयमध्यगतेन स्थितिहेतुत्ववाचिना सदायतना इति पदेन स्थितिहेतुधारकत्वं सिध्यति । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्वाषाष्ट्रद्विषी विधृते तिष्ठतः' [बृ० ३ । ८ । ९] इति तिष्ठतिष्ठानूक्तस्थितेः प्रशासनेन धारणाधीनत्वावगमात्तस्य च प्रशासनस्य 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' । इत्यन्तःप्रवेशपूर्वकत्वावगमात्सर्वशास्त्राप्रत्ययन्यायेनान्तःप्रवेशशासनधारणानामन्यतमोक्तावपीतरयोः फलितत्वात्, सदायतना इत्यनेन धारकत्वोक्तावप्यन्तःप्रविश्य शासनेन धारकत्वलक्षणात्मत्वस्य फलितत्वाज्जगतः शरीरत्वं फलितम् । 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः' इति द्वाभ्यां सदुपादानकत्वम् । सदायतना इत्यनेन सद्गन्तर्यामिकत्वमुपादानोपादेयमाश्रयाभिन्ननिष्ठत्वात् । प्रजाशब्देनाचित्संसृष्टजीवमात्रेपरिमर्शे तस्य सदुपादानकत्वासंभवात्प्रजाशब्देनापि प्रजाशरीरकं ब्रह्मैवोच्यते । सदायतना इत्यत्र सद्गन्तर्यामिकत्वस्य शरीरमूतचिद्विन्मात्रनिष्ठत्वेन चिद्विच्छरीरकवह्मनिष्ठत्वाभावात्सदायतना इतिवाक्यानुपक्त-
प्रजाशब्देन शरीरमूतचेतनाचेतनमात्रमेवाभिधीयते । तथा—'सन्मूलाः सत्प्रतिष्ठाः' इत्युपादानत्वप्रतिपादकवाक्ये विशिष्टस्यैवोपादानत्वात्स-

दात्म्यमिदं सर्वमिति वाक्येऽपीदं सर्वमिति केवलचिदचिदात्मकः प्रपञ्चः परामृश्यते । एतच्छब्देनापि केवलं विशेष्यमिति न पूर्ववाक्यवैरूप्यम् । नन्वेतदात्म्यमिदमित्यत्राऽऽत्मशब्देन किं स्वरूपमुच्यत उत नियन्तृत्वम् । नाऽऽद्यः । चिदचित्यपञ्चस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाभावात् । न द्वितीयः । शरीरात्मभावे 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति पूर्ववाक्योक्तसदुपादानकत्वसदन्तर्यामिकत्वयोर्हेतूकरणं विरुध्येत । न चेष्टापत्तिः । तत्र च हेतुरुक्तः 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः' इति भाष्यविरोधप्रसङ्गात् । 'सर्वं स्थस्विदं ब्रह्म तजालानिति' [छा० ३।१४।१] इति श्रुतावेधश्च सदुपादानकत्वसदन्तर्यामिकत्वयोः सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे हेतूकरणादिति चेन्न । विशिष्टयोरेयोपादानोपादेयभाव इति पक्षेऽप्यस्य दोषस्य समानत्वात् । कथं तर्ह्यस्य दोषस्य निस्तार इति चेदुच्यते—आत्मशब्दो व्याप्यवचनः 'अहस्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते' [तै० २।७।१] इत्यत्राऽऽत्मशब्दस्य व्याप्यार्थकत्वाश्रयणात् । ऐतदात्म्यमुपादानभूतेनान्तर्यामिभूतेन च ब्रह्मणा व्याप्यमित्यर्थः । सुदा कुम्भादिकं यथेत्युपादानस्यापि व्यापकत्वप्रसिद्धेः । एतदात्मैतदात्म्यं स्वार्थं व्यञ्ज । एष आत्मा यस्येति पक्षेऽपि स्वार्थं व्यञ्ज आश्रयणीयत्वात् । अस्मिंश्च पक्षे 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'स आत्मा' इत्यनयोर्न पौनरुक्त्यशङ्का । अत एव रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजातमितियदादरातिशयादुपपद्यत इति परिहाराश्रयणकृशोऽपि नाऽऽभ्यपणीयः । 'तत्सत्यम्' [छा० ६।८।७] एतदात्मकत्वमेव सत्यं प्रपञ्चस्य प्रामाणिकमित्यर्थः । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति वाक्यस्यैवं वाऽर्थः—सत्यं प्रमाणप्रतिपन्नं तद्विदं सर्वं जगदेतदात्म्यमनेन ब्रह्मणा व्याप्तमित्यर्थः । अत्रासत्यस्य शशशृङ्गोदेस्तुच्छस्य व्याप्तत्वाभावेऽपि प्रमाणप्रतिपन्नस्य सर्वस्यापि ब्रह्मव्याप्तत्वमस्तीति भावः । स आत्मा नियन्तोत्यर्थः । विशेष्यस्य विशेषणांशं प्रत्युपादानत्वमस्तीत्यस्मिन्पक्षे 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छा० ६।२।१] इत्यत्रेदंशब्दस्य कथमश्रुतचेदान्तं श्वेतकेतुं प्रति ब्रह्मपर्यन्तप्रतीतिजनकत्वमिति शङ्काया अपि नावकाशः । ननूत्तरीत्या भिन्नयोरुपादानोपादेयभावसमर्थनेऽपि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [छा० ६।२।१] 'सर्वं स्थस्विदं ब्रह्म' [छा० ३।१४।१] इति परस्परभिन्नविशेषणविशेष्यवाचिनोर्जगद्ब्रह्मवाचिशब्दयोः कथं सामानाधिकरण्यमिति

चेन्न । अपृथक्सिद्धवाचित्वस्यैव सामानाधिकरण्यप्रयोजकतया लोकवे-
दयोर्वृष्टत्वात् । चिदचित्प्रपञ्चस्य तच्छक्तित्वेन तच्छरीरकत्वेन च तयो-
रभेदोपचारेणाभेदनिर्वृत्तानां सदेवेवमित्यादिरूपाणामुपपत्तेः शक्तिश-
क्तिमतोर्दण्डघटादिवदन्त्यन्तभेदाभावात् । विशेषणभूतप्रपञ्चांशे ब्रह्मण
उपादानत्वाभावे 'न विलक्षणत्वात्' [ब० सू० २ । १ । ४]
इत्यधिकरणस्य वा 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' [ब०
सू० २ । १ । २६] इत्यधिकरणस्य वा निरालम्बनप्रसङ्गाद्ब्रह्मणो ब्रह्म-
प्रत्युपादानत्वे विलक्षणत्वशङ्काया वा ब्रह्मणो जगद्रूपेण परिणामाभावे
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपाशङ्कयोर्दाऽप्रसक्तेः । नन्वेवं 'तदनन्य-
त्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' [ब० सू० २ । १ । १४] इत्यधिकरणे
प्रपञ्चस्योपादानभूतब्रह्मणाऽभेदासंभवादुपादानोपादेयामेव समर्थनं विरु-
ध्येतेति चेत् । न तस्मिन्नाधिकरणे उपादानोपादेययोः स्वरूपाभेदः
समर्थयते तयोरभेदे कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अपि तु तदपृथक्सि-
द्धत्वम् । तच्च तत्सत्ताधीनसत्ताकत्वम् । एतादृशस्यापृथक्सिद्धत्वस्या-
भेदव्यवहारप्रयोजकत्वं 'यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते' इति
प्रमाणसिद्धमतो न तदधिकरणविरोधः । यद्वाऽस्मन्मते स्थूलचिदचिदात्म-
कप्रपञ्चस्येव तद्विशिष्टस्यापि ब्रह्मण उपादेयत्वादुपादानभूतगूढमचिदचि-
च्छरीरकस्य ब्रह्मण उपादेयभूतस्थूलचिदचिद्विशिष्टब्रह्माभेदसमर्थनपरत-
याऽऽरम्भणाधिकरणस्योपपत्तेर्न बोधायकाशः । वस्तुतस्तु यथा को भवा-
निति सर्वापीरराजप्रश्नस्य प्रकृतिसंस्तृप्तात्मविषयस्येऽपि वस्तुगत्या भवच्छ-
ब्दमुक्त्यर्थत्वं परिशुद्धात्मस्वरूपस्यैवोचितमिति मत्या तस्यैव भवच्छब्द-
मुक्त्यर्थत्वं प्रदर्शयन्नादिभरतः—'यदा समस्तभूतेषु पुनानैको व्यवस्थितः'
इति प्रत्यवोचत् । यथा वाऽथर्वशिरसि रुद्रं प्रति देवैः प्रयुक्तस्य को
भवानिति प्रश्नस्य पुरोवर्तिरुद्रमात्रपरत्वेऽपि भवच्छब्दस्य परमात्मपर्य-
न्तत्वशिक्षणाय 'अष्टभोकः प्रथममासम्' इत्यादिप्रतिवचनप्रवृत्तिः ।
एवमेव 'इदमग्र आसीत्' इतीदंशब्दस्य विशेषणमात्रपरत्वे प्राप्ते विशे-
षपर्यन्तरशिक्षणाय स्थूलचिदचिच्छरीरं ब्रह्म प्रति गूढमचिदचिच्छरी-
रं ब्रह्मोपादानमित्येतदर्थप्रतिपादकस्योत्तमसंदर्भस्य प्रवृत्तौ दोषाभावा-
दिति द्रष्टव्यम् । अपं चार्थः 'तद्धेदं तर्ज्याहृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव
व्याक्रियत' [ब० १ । ४ । ७] इति श्रुतिव्याख्यामावसरे गृहद्वारण-
कवक्ताशिक्षायां प्रतिपादितस्तत्रानुसंधेयः । अतश्चाऽऽरम्भणाधिकरणे

तदनन्यत्वमित्यनेन 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा' इति-
 वदपृथक्सिद्धत्यलक्षणाभेदस्यैव समर्थितत्वात्तावतैवैकविज्ञानेन सर्ववि-
 ज्ञानमतिज्ञोपपत्तेश्चापृथक्सिद्धकारणत्वस्यैवोपादानशब्दार्थत्वादिह च
 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो
 भवति' इत्यत्र पुरुषशब्दितस्य कार्यावस्थजीवस्य कारणावस्थस्वश-
 ब्दितजीवविशिष्टतया स्वशब्दवाच्येन परम्परया स्वावस्थाश्रयतयोपादा-
 नभूतेन सता संपत्तेरपि सुपपादतया 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः'
 [बृ० ४ । ३ । २१] इति श्रुत्यैकार्थमपि स्मरसत एव सिध्यतीत्यलम-
 तिचर्चया । प्रकृतमनुसरामः ॥ १ ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पति-
 त्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत
 एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पति-
 त्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते
 प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

यथा पक्षिशकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण बद्धः प्रतिदिशं पति-
 त्वाऽऽश्रयान्तरमलब्ध्वा बन्धनं हस्तमेवाऽऽश्रयत एवमेव हे सोम्य सुपु-
 सिकाले तत् 'अज्ञमयं हि सोम्य मनः' [छा० ६ । ५ । ४] इति
 प्राद्विदिष्टं मनो दिशं दिशं पतिस्था जाग्रत्स्वप्नयोर्नाविधविषयग्रहण-
 व्यापृतं भूत्वाऽपि तत्र तत्राऽऽयतनं विश्रममलब्ध्वा विश्रमाय मुख्यप्रा-
 णेन संश्लेषविशेषमापद्यते । यतः प्राणे हि मनो निबध्यतेऽत एव हि
 प्राण उत्क्रान्ते मनआदीनामप्युत्क्रामः । अतश्च सुषुप्तिदशायां यागादी-
 न्द्रियराहितं मनः 'वाट्यनसि संपद्यते मनः प्राणे' [छा० ६ । ८ । ६]
 इति प्रमाणकालोक्तन्यायेन प्राणे संश्लेषविशेषमापन्नं सदुपरतव्यापारं
 भवति । सुषुप्तिदशायां प्राणमात्रमनुपरतव्यापारमास्ते 'स यदा स्वपिति
 प्राणमेव यागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः' [छा० ४ ।
 ३ । ३] इति श्रुतेः ॥ २ ॥

एवं जीवस्य परमात्मोपादेयत्वसिद्ध्यर्थं सुषुप्तिकाले परमात्मसंपत्तिं
 तत्प्रज्ञाद्वागादीन्द्रियाणां प्राणे संश्लेषविशेषं च प्रतिपाद्याशनायादिना-
 मनिर्वचनमुरेतानपि परमात्मानो जगन्मूलतामुपपादयति—

अशनायापिपासे मे सोम्य विजानीहीति ।

स्पष्टोऽर्थः ।

यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिपति नामाऽऽप एव तदशितं नयन्ते ।

यत्र यदा पुरुषोऽशिशिपतीत्येतन्नम पुरुषोऽशिशिपतीति शब्दं यदा लोकाः प्रयुञ्जत इत्यर्थः । यदा पुरुषस्याशिशिषा भवतीति यावत् । नाम-
शब्दः प्रसिद्धार्थो वा तदाऽऽपस्तदशितं नयन्ते जीर्णतां प्रापय्य रसरू-
पेण शरीरं नयन्ते । तेनाशिते जीर्णे पुनरशिशिषा जायत इत्यर्थः ।

तयथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय
इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति ।

गां नयतीति गोनायः । यथा गोनेतारं गोनाय इत्याचक्षते, यथा
घाऽश्वनेतारं पुरुषनेतारं चाश्वनायः पुरुषनाय इत्याचक्षते लौकिका एव-
मशितनेत्रीरपोऽश्वनायेत्याचक्षत इत्यर्थः ।

तत्रैतच्छुद्धमुत्पतितं सौम्य विजानीहीति ।

ब्रवीभूतेऽङ्गी रसमार्थं नीतिञ्च उत्पन्नमेतच्छरीरारम्भं शुद्धसदृशं
कार्यं विजानीहीत्यर्थः । नन्वमूलमेवेवं भवत्वित्यत्राऽऽह—

नेदममूलं जविष्यतीति ॥ ३ ॥

कार्यमात्रस्य सकारणकत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

तर्हि तस्यान्नातिरिक्तं मूलान्तरं कल्प्यतामित्यत्राऽऽह—

तस्य क मूलं स्यादन्यत्राक्षत ।

कार्यशरीरस्य सन्मूलकत्वान्मूलान्तरस्यानुपलम्भादुपलब्धमन्नमेव
मूलमित्यर्थः ।

एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुद्धेन्नापो मूलम-

न्विच्छाद्भिः सोम्य शुद्धेन तेजो मूलमन्विच्छ

तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ ।

यथा शरीरेण कार्यभूतेनोपचीयमानेन तत्कारणमन्नमनुमीयत एवमे-
वाग्नेन कार्येणापः कारणमनुमिनुहीति यावत् । एवमुत्तरत्रापि सत्य-
र्थन्तां कारणपरम्परामनुमिनुहीत्यर्थः । ततः किमित्यत्राऽऽह—

सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः
सदायतनाः सत्यतिष्ठाः ॥ ४ ॥

एतस्यार्थः पूर्वमुक्त एव ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव
तत्पीतं नयते तद्यथा गोनाथोऽश्वनाथः
पुरुषनाथ इत्येवं तच्चेज आचष्ट उदन्येति ।

पूर्ववदर्थः ।

तत्रैतदेव शुक्लमुत्पतितं सोम्य विजानीहीति ।

तत्र तेजसा शोष्यमाणास्यप्सूत्पन्नं देहाख्यं शुक्लमित्यर्थः ।

नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

तस्य क मूलं स्यादन्यत्रादित्योऽद्भिः सोम्य
शुक्लेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य
शुक्लेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः
सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यतिष्ठाः ।

पूर्ववदर्थः । ननु तेजोबलमूलकत्वे शरीरस्य लोहितमांसादिरूपेण
परिणामः कथं स्यादित्याशङ्क्योक्तं स्मृत्यति—

यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य
त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवति ।

‘अन्नमक्षितं त्रेधा विधीयते’ [छा० ६ । ५ । १] इत्यादिना पूर्व-
मुक्तं भवतीत्यर्थः । एवं सुप्तौ सत्संपत्तिं जीवस्य प्रकर्ष्य प्रयाणकालेऽपि
सत्संपत्तिं दर्शयति—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्म-
नसि संपयते मनः प्राणे प्राणस्ते-
जसि तेजः परस्यां देवतायाम् ।

प्रयतो प्रियमाणस्येत्यर्थः । अत्र वाचो मनःप्रकृतिकत्वासंभवाद्वा-
‘पारोपरमहेतुभूतसंश्लेषविशेष एव वाचो मनसि लयः । मनसः प्राणे

लघोऽपि तादृश एव । 'मनसि करणग्रामं प्राणे मनः पुरुषे च तं
 झटिति घटयन्मूतेऽप्येनं परे च तमात्मनि' इत्युक्तरीत्या प्राणो जीवसं-
 पन्नः सञ्ज्ञीयेन सह तेजःशब्दोपलक्षितेषु सर्वेषु मूतेषु संपन्नो भवति ।
 ततः परं सुसुप्तदुःखोपभोगायासविश्रमाय तेजःशब्दितानां सजीवानां
 मूतसूक्ष्माणां परमात्मनि संपत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥

एतादृशः सच्छब्दितः स एषोऽणिमाऽणुवद्दुर्विज्ञेयो मानान्तरागो-
 चर इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा ।

अस्यार्थः पूर्वमेवोक्तः । एवं सर्वत्र सिद्धं सदात्मकत्वं श्वेतकेता-
 वुपसंहरति—

तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ।

ननु तत्त्वमसीत्यत्र मानान्तरसिद्धत्वेनोद्देश्योपादेयविभागामाचर्य
 भाष्यकृतोक्तत्वात्तच्छब्दानुरोधेन प्रथमपुरुषोऽत्र स्यादिति चेदुच्यते—
 मानान्तरसिद्धत्वेऽपि त्वंशब्दार्थस्य तच्छब्दाद्यपेक्षया प्रकृतित्वस्य विष-
 क्षितत्वात्प्रकृतेरेवास्तिक्रियान्तर्गतत्वात्प्रथमपुरुषो भवति । अत एव 'यद्वि-
 श्वमिदं त्वं त्वं वा या स्वा अहम्' इत्यत्राहं त्वं स्वामहं वा त्वं स्वा इति
 प्रकृत्पाश्रयः पुरुषो भवतीति पुष्पगुणपक्व इति सूत्रे प्रतिपादितम् ।
 ततश्च त्वंशब्दार्थस्य प्रकृतित्वस्य विवक्षितत्वान्मानान्तरसदसद्भाष्यो-
 रप्रयोजकत्वात्तत्त्वमिदंशब्दार्थप्रकृतित्वाश्रयोऽसीति मध्यमपुरुष एव भवति ।
 अत एव व्यासार्थः 'आत्मेति नूपाच्छन्ति' [ब० सू० ४।१।३]
 इत्यधिकरणे तथैवोपपादितम् । न्यायपरिशुद्धौ—सुवर्णं राक्षिराज्ञा-
 रसदृशे कुण्डले भवत इति महामाष्यवाक्यमुदाहर्य पुरुषस्योद्देशानु-
 सारित्वनियमामावः समर्थितः । ननु तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति संबो-
 ध्यस्य संबुद्धिस्तावदात्मविद्योपदेशेन श्वेतकेतुमात्रपर्यवसितेति नासं-
 बोध्यरोधनमिति न्यायपरिशुद्ध्युक्तरीत्या श्वेतकेतो इति संबोध्यत्वस्य
 परमात्मन्यसंभवेन त्वंशब्दनिर्दिष्टत्वमपि परमात्मानो न संभवति त्वंश-
 दस्य संबोध्यतातिरिक्तविषयत्वस्य व्याप्यवशनादिति चेदुच्यते—'एत-
 दात्ममिदं सर्वम्' इत्युक्तस्य तत्त्वमसीति विशेष उपसंहार इति भाष्ये

भाषितत्वात्तत्त्वमसीत्यत्रापि सर्वशब्दस्थानापन्नस्य त्वंशब्दस्य संबोध्यवि-
शेषभूतजीवमात्रपरत्वमेव । ऐतदात्म्यपदस्थानापन्नस्य तदित्यस्य च
तदात्मकत्वमेवार्थः । ततश्च सर्वं तदात्मकमितिवत्त्वं तदात्मक इत्यर्थः ।
न चैवं सति तच्छब्दस्य तदात्मकत्वे लक्षणा स्यादिति वाच्यम् । अप-
र्यवसानवृत्त्या त्वंशब्दस्य तदन्तर्यामिपरत्वपक्षस्यापि लक्षणापेक्षया जघ-
न्यत्वात् । 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः' [ब्र० सू० १।२।२८]
इत्यत्र व्यासार्थैरपर्यवसानलब्धार्थस्य यौगिकार्थतुल्यत्वाश्रयणात्,
यौगिकार्थस्य च रूढिपूर्वकलक्षणापेक्षया जघन्यत्वस्य प्रोद्गात्राधिकरणे
मीमांसकैराश्रितत्वात्त्वंशब्दस्य संबोध्यातिरिक्तविषयत्वस्य क्वाप्यवर्श-
नात्, श्वेतकेतो तत्त्वमसीति त्रयाणां पदानां प्रतीयमानसामानाधि-
करण्यमङ्गप्रसङ्गाच्चापर्यवसानलब्धार्थस्याऽऽश्रयणासंभवात् । अप्रुथक्सि-
द्धवाचिनां सामानाधिकरण्यस्य लोकवेदयोर्बहुशो वृष्टचरत्वेनाप्रुथक्सि-
द्धजीवपरवाचिनोस्त्वंतच्छब्दयोः सामानाधिकरण्येन प्रयोगस्याप्युपप-
त्तेर्न त्वंशब्दस्य परमात्मपर्यन्तत्वमाश्रयणीयम् । यस्तु तस्तु, ऐतदात्म्य-
मिति शब्दनिर्दिष्टं तदात्मकत्वमेव बुद्धिस्थत्वात्तच्छब्देन परामुच्यते न तु
सच्छब्दितं ब्रह्म चेन तदात्मकत्वलक्षणादोषः स्यात् । ततश्च त्वं तदसि
ऐतदात्म्यमसीत्यर्थः । अस्मिंश्च पक्षे न कस्यापि पदस्य लक्षणा । साम-
दायिकास्तु स आत्मेति पूर्वनिर्दिष्टस्यैव तत्त्वमसीत्यत्र तच्छब्देन परा-
मर्शस्योचितत्वात्तच्छब्देन सच्छब्दितात्मेयाभिधीयते । जघन्यं त्वंपदं
त्वंपर्यवसानवृत्त्याऽन्तर्यामिपर्यन्तमभिधाति । न च श्वेतकेतो इति
संबोध्यस्य जीवस्यैव त्वंपदेन परामर्शो युक्त इति वाच्यम् । हे देवद-
त्तेति देवदत्तं संबोध्य तत्पुत्राभिप्रायेण त्वमेवं कृतवानसीति प्रयोगवर्श-
नात् । इषांस्तु विशेषः । तत्र मुख्यानुपपत्त्या त्वंपदस्य पुत्रे लक्षणा ।
इह तु तदनुपपत्त्याऽन्तर्यामिपर्यवसानवृत्तिराश्रीयते । ननु 'साक्षाद-
प्यविरोधं जैमिनिः' [ब्र० सू० १।२।२८] इति सूत्रे व्यासार्थैर-
पर्यवसानवृत्तेर्योगतुल्यत्वस्य समर्थनात्, योगस्य च रूढिपूर्वकलक्षणा-
पेक्षया दीर्घत्वस्य प्रोद्गात्राधिकरणे मीमांसकैः समर्थितत्वाल्लक्षणापेक्षया
जघन्यैवापर्यवसानवृत्तिरिति चेदुच्यते । सत्यमुक्तं व्यासार्थैरपर्यवसानवृ-
त्तेर्योगतुल्यत्वं तथाऽपि न तस्या लक्षणापेक्षयाऽपि दीर्घत्वं प्रमाणाभा-
वात् । प्रोद्गात्राधिकरणे प्रोद्गातृशब्दरूढ्यर्थस्य बहुत्वासंभवात्पाशमन्त्र
इव बहुपचनमविवक्षितार्थमिति पूर्वपक्षे 'अदितिः पाशान्प्रमु-

गौण्या प्रयुज्यमानो हृष्टः, एवं छन्दोभिधायिगायत्रीशब्दस्य चतुष्पात्त्व-
सादृश्याब्रह्मणि प्रयोग उपपन्न इत्युक्तत्वाद्वैणीरूपलक्षितलक्षणापेक्ष-
याऽपर्यवसानवृत्तेरपि दीर्घत्वमेव सूत्रमाव्यकृदभिमतमिति प्रतीयते ।
यदि चापर्यवसानवृत्तिर्गौणीतः प्रबला तर्हि तथा गायत्र्यवस्थब्रह्मपरत्वस्य
वक्तुं सुशक्तया गौणी वृत्तिर्नाऽऽदत्तव्या स्यादिति चेत् । अपर्यवसान-
वृत्त्या गायत्रीशब्दस्य गायत्र्यवस्थब्रह्मपरत्वे तस्य सर्वभूतात्मत्वासंभ-
वेन केवलब्रह्मणि गौण्याश्रयणस्य युक्तत्वात् । न च गायत्र्यवस्थत्व-
वेणेन सर्वभूतात्मत्वाद्यसंभवेऽपि ब्रह्मस्वरूपे सर्वभूतात्मत्वं संभवत्येव ।
अत एव दहरविद्यायां हृद्यावच्छिन्नस्य ब्रह्मणस्ताम्रप्येण बाह्याकाश-
वैपुल्यासंभवेऽपि स्वरूपेण बाह्याकाशवैपुल्यम् । 'वायान्दा अय-
माकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः' [छा० ८।१।३] इति संदर्भे
प्रतिपादितं संभवतीत्यभ्युपेतम् । तथा शाण्डिल्यविद्यायाम्—'एष म
आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीवान्' [छा० ३।१।४।३] इत्यल्पत्वेन निर्विद्वत्स्य
ब्रह्मणः स्वरूपाभिप्रायेण 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षात्' [छा० ३।१।४।३] इति पृथिव्यादिभ्योऽपि ज्यायस्त्व-
मुक्तम् । किं बहुना सर्वास्वल्पायतनविद्यासु 'आनन्दादयः प्रधानस्य'
[ब० सू० ३।३।११] इत्यधिकरणन्यायेन सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादी-
नामुपसंहर्तव्यत्वात्तत्र चाल्पायतनस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपेणाऽऽनन्त्य-
मपि संभवतीत्यनन्त्योपासनस्याऽऽश्रितत्वात् । तद्व्यायेन गायत्र्यव-
च्छिन्नत्ववेणेन सर्वभूतात्मत्वासंभवेऽपि स्वरूपेण सर्वभूतात्मत्वसंभवाच्च ।
अपर्यवसानवृत्तावनुपपत्त्यभावाद्गायत्रीशब्दस्यापर्यवसानवृत्त्यनाश्रयणं त-
दीर्घत्वकारितमेवेति वाच्यम् ।

गायत्र्यवच्छिन्नस्य ब्रह्मणः स्वरूपेण सर्वभूतात्मत्वोपपादनं क्लेशसा-
ध्यमित्यभिप्रायेणापर्यवसानवृत्त्यनाश्रयणसंभवात् । अत एव 'आकाशा-
द्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादावाकाशशब्देऽपर्यवसानवृत्त्य-
नाश्रयणस्येदमेव बीजम् । यदि ह्याकाशशब्दस्तच्छरीरकब्रह्मपरः स्यात्तदा
तच्छरीरकस्य जगत्कारणत्वासंभवात्स्वरूपाभिप्रायेण जगत्कारण-
त्ववादोऽभ्युपेयः । स च क्लिष्ट इत्येवापर्यवसानवृत्त्यनाश्रयणं न तु योग-
प्राबल्यादित्येव रहस्यम् । किं च गायत्रीशब्देन चतुष्पात्त्वादिधर्मकीर्त-
नस्य सादृश्यानुसंधानार्थत्वामाये वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च तत्र गौण्याश्रयणं
गायत्रीशब्दे न तु गौण्याः प्राबल्यादतो न गौण्यपेक्षया दीर्घत्वमपर्यव-

सानवृत्तेः । नन्वपर्यवसानवृत्तेर्लक्षणापेक्षया प्राबल्ये 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विन्दति' [गी० १३।२] इत्यत्र मां मदात्मकं विन्दीत्यर्थ इति, तथा 'ब्रह्मजज्ञं देवमीडयं विदित्वा' [क० १।१७] इत्यत्र देवं देवात्मकमित्यर्थ इत्येवं बहुषु स्थलेषु क्षेत्रज्ञादिशब्दानामपर्यवसानवृत्तिमनाश्रित्य मां देवमित्यादिशब्दानां लक्षणाश्रयणं नोपपद्यते, अतोऽवसीयते लक्षणापर्यवसानवृत्त्योर्वैषम्यामावो माप्यकृदमभिमत इति चेत्तस्यान्वारुह्योक्तिरूपतयाऽप्युपपत्तेः । ननु मुख्यार्थसंबन्धेन तदपृथक्सिद्धविशेषस्य लक्षणया प्रतीत्युपपत्तौ न शक्तिः कल्प्याऽनन्यलभ्यस्येव शब्दार्थत्वादिति चेन्नैवम् । कल्पनायां परमुपालम्भो न तु कृतस्थलेऽपि । प्रकृते च जातिगुणवाचिगोनीलादिशब्देष्वपृथक्सिद्धविशेषणवाचित्वावच्छेदेन विशेष्यवाचित्वस्य कृतत्वात्सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रये ब्रह्मणि सर्वशब्दवाच्यत्वस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' 'नन्ताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती' 'तन्नामरूपाभ्यां व्याकियत' [बृ० १।४।७] 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्यपवेशो भाक्तस्तद्वायमावि-त्वात्' [ब० सू० २।३।१६] इत्यादिश्रुतिसूत्रप्रतिपन्नसर्वशब्दवाच्यत्वस्य ब्रह्मणि प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, ततश्च त्वंशब्दवाच्यत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वात्त्वमसीत्यस्य नानुपपत्तिरिति यदन्ति । अत्र तत्त्वमसीति तत्त्वंपदाम्नां सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वोपलक्षितं चिन्मात्रं लक्ष्यते । अतश्चिन्मात्र एवास्य श्रुतिसंदर्भस्य तात्पर्यमिति वदन्तः परे प्रत्युक्ताः ।

सर्वज्ञं सर्वकर्तारं नारायणमनामयम् ।

सर्वोत्तमं ज्ञापयन्ति महातात्पर्यमत्र हि ॥

सर्वेषामपि वेदानामितिहासपुराणयोः ।

प्रमाणानां च सर्वेषां तदर्थं चान्यदुच्यते ॥

इति नारदीयवचनविरोधात् । तन्मते श्रुतेः प्रत्यक्षविरोधमपामायेन तत्त्वंपदमुक्त्यर्थयोरेवामेदोपधनसंभवे तत्त्वंपदलक्ष्यचिन्मात्राभेदप्रतिपादकत्वाश्रयणस्य निर्मूलत्वात् । व्याधकुलसंवाधितराजकुमारस्य व्याधमायमन्यपनयनाय प्रपृते त्वं राजकुमारोऽसीति वाक्ये राजकुमारपदे लक्षणाश्रयणमाधेदेहापि जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टयाचके तत्पदे लक्षणाश्रयणस्यान्याप्यत्वात् । त्वं राजकुमारोऽसीति वाक्येऽपि विधेय-

राजकुमारत्वे तात्पर्याभावे व्याघ्रभावानुपमर्दवद्विधेयभूततच्छब्दार्थभूत-
जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वादित्तात्पर्याभावे तद्विरोधिजीवभावोपमर्दासंभवादि-
त्यास्तां तावत् । प्रकृतमनुसरामः । एवमुक्तः श्वेतकेतुः सुपुतिकाले
प्रजानां सत्संपत्तौ सत्यागेवं सति संपन्ना इति प्रतीतिः स्यात् । समुद्रे
तरङ्गादीनामिव परमात्मनि सुपुप्तौ लीनानां पुनरुत्थितिश्च न स्यात् ।
अतः सुपुप्तौ प्रजानां सत्संपत्तिर्न श्रद्धेयेति मन्वान आह—

धूय एव भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच ॥७॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

विशिष्य ज्ञापयत्विति पिता श्वेतकेतुना प्रार्थितस्तथेत्यङ्गीकृतधानि-
त्यर्थः । एतत्खण्डविषयाण्यधिकरणानि लिख्यन्त उक्तान्तिपादे ।
'वाङ्मनसि संपद्यते' [छा० ६।८।६] इति श्रूयमाणा वाचो
मनःसंपत्तिर्वाग्वृत्तिविषया न तु वाग्विषया । वाचो मनःप्रकृतित्वा-
भावेनाप्रकृतिभूते मनसि वाचः साक्षाल्लयासंभवात् । न च वाग्वृत्तेरप्य-
प्रकृतिभूते मनसि संपत्तिशब्दितो लयो न संभवतीति वाच्यम् । मनसि
स्थितेऽपि वाग्वापाराभावमात्रेण संपद्यत इत्युपपत्तेः । विद्यमानायास्तु
वाचस्तादात्मिकाभावस्याप्यभावेन संपत्तिभूतेरत्यन्तासंभवादिति पूर्वपक्षे
मात्र उच्यते 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाश्च' [ब्र० सू० ४।२।१]
वाक्यस्वरूपमेव मनसि संपद्यते वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनःप्रवृत्तिदर्श-
नात् । वाङ्मनसि संपद्यत इति शब्दाच्च वागेव मनसि संपद्यते । यद्यपि
मनसो वाक्प्रकृतित्वं नास्ति तथाऽप्यनुपरतव्यापारेऽपि मनसि वाच
उपरतव्यापारत्वदर्शनाद्वाङ्मनसि संपद्यत इवेत्युच्यते । वृत्तिपक्षेऽपि
संपद्यत इत्यस्य गौणत्वावश्यंभावात् । ततश्च वाचो निर्व्यापारताहेतु-
भूतो मनसा संयोगविशेषः संपत्तिशब्दार्थ इति द्रष्टव्यम् । 'अत एव च
सर्वाण्यनु' [ब्र० सू० ४।२।२] यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं
संपत्तिः । अत एव 'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्य-
मानैः' [प्र० ३।९] इति वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां संपत्तिश्रुति-
रपि तदर्थिकैवेत्यर्थ इति स्थितम् । तथा मनः प्राण इत्यत्र मनोवृत्तेरेव
प्राणेऽप्यय उच्यते मनःशब्दस्य मनोवृत्तिष्वपि प्रचुरप्रयोगसत्त्वान्न तु

पूर्वोक्तरीत्या संयोगविशेषः संपत्तिशब्दार्थ इति प्राप्त उच्यते—‘तन्मनः प्राण उत्तरात्’ [ब्र० सू० ४।२।३] मनसो निर्व्यापारहेतुभूतः प्राणेन संयोगविशेष एवेहापि संपत्तिशब्दार्थः । ततश्च मन एव प्राणे संपद्यते मनः प्राण इत्युत्तरवाक्यादित्यर्थः । मनःशब्दस्य मनोवृत्तिपर- स्वेऽपि संपत्तिश्रुतेर्गौणत्वावश्यंभावेन मनःश्रुतेरपि गौणत्वाश्रयणस्या- न्याप्यत्वादिति सिद्धान्तितम् । तथा प्राणस्तेजसीति श्रुतेः प्राणस्तेजसि संपद्यत इति प्राप्त उच्यते ‘सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः’ [ब्र० सू० ४।२।४] स इन्द्रियसहितः प्राणोऽध्यक्षे जीवे संपद्यते ‘एवमेवेममा- त्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति’ [बृ० ४।३।३८] इति प्राणानां जीवोपगमस्य तेन सहोत्क्रान्तेश्च श्रवणाजीव एव संपद्यते । गङ्गाया संयुज्य सागरं गच्छन्त्यां यमुनायां यमुना सागरं गच्छतीति प्रयोगवज्जीवद्वारा प्राणस्य तेजःसंपत्तावपि प्राणस्तेजसीत्युक्तिरुपपद्यते । न च प्राणस्य तेजोद्वारेणैव जीवोपगमोऽस्त्विति वाच्यम् । निरध्यक्षस्य प्राणस्य तेजसि स्थितेरसंभवादिति स्थितम् । तथा प्राणस्तेजसीति जीवसंपुक्तस्य प्राणस्य तेजोमात्र एव संपत्तिश्रवणान्न सर्वभूतसंपत्ति- रिति प्राप्त उच्यते—‘भूतेषु तच्छ्रुतेः’ [ब्र० सू० ४।२।५] स जीवः प्राणः संहतेषु सर्वेषु भूतेषु संपद्यते ‘पृथिवीमथ आपोमयस्तेजो- मयः’ [बृ० ४।४।५] इति संचरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रवणेन सर्वभूतसंपत्तेर्वक्तव्यत्वात् । ‘नैकस्मिन्दर्शयतो हि’ [ब्र० सू० ४।२।६] । एकस्मिंस्तेजोमात्रेण संपद्यते । ‘एकैकस्य भूतस्य कार्याक्ष- मत्वम्’ ‘अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतगैकैकां करवाणीति’ [छा० ६।३।२।३]

नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततरते संहतिं विना ।

नाशमनुबन्धजाः सप्तमसमागम्य कृत्स्नशः ॥

समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।

महदाद्या विशेषान्ता एण्डमुत्पादयन्ति ते ॥

इति श्रुतिस्मृती दर्शयत इत्यर्थ इति स्थितम् । तथा ‘तेजः परम्यां देयतायाम्’ [छा० ६।८।६] इत्यत्र जीवपरिण्यक्ततेजःशब्दित- भूतसूक्ष्माणां परवेद्यतासंपत्तौ प्रयोजनाभावात्तेजः परम्यां देयतायामिति श्रुतिः स्मृतिमात्रपरेति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘तानि परे तथा एवाह’ [ब्र० सू० ४।२।१५] तानि जीवसंसृष्टानि भूतसूक्ष्माणि परमा-

त्मानि संपद्यन्ते । कुतः । तथा ह्याह श्रुतिः । तेजः परस्परं देवतायामिति श्रुतिवशाच्च सुषुप्तिप्रलययोरिव परमात्मसंपत्तेः सुखदुःखोपभोगायास-विश्रमः प्रयोजनत्वेन परिकल्प्यत इति स्थितम् । तथा सेयं परमात्मनि जीवस्य संपत्तिः प्राकृतलयवत्कारणापत्तिरूपैव सर्वात्मनः सर्वोपादानत्वात् न तु वागादेर्मनआदिष्विवाविभागतामात्रमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘अविभागो वचनात्’ [ब० सू० ४ । २ । १६] अत्रापि पृथग्भावानर्हसंसर्गविशेषलक्षणाविभाग एव संपत्तिशब्दार्थः । बाह्य-नसि संपद्यत इत्यत्र सतः संपद्यत इति शब्दस्यैवेहाप्यनुपज्यमानतयाऽ-मिधानवैकल्याध्रयणस्यान्याप्यत्वादिति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ७ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्पयानां
वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं
वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मी-
त्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति
संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

यथा लोके मधुमक्षिका मधु निष्पादयन्ति नानात्पयानां नानागतीनां
[क्षाणां रसान्समाहृत्य मधुत्वेनैक्यं गमयन्ति । ते च रसा मधुत्वेनैकतां
ता अमुष्य वृक्षस्य वकुलस्य वा कुटजस्य वा रसोऽस्मीति यथा
विवेकं न लभन्त एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्या अहं देवदत्तोऽह-
मुष्य पुत्रोऽधुना सति संपन्ना इति वा संपत्स्यामह इति वा न जान-
तीत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा
वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा
मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

अथ सुषुप्तेरुत्थिताश्च प्रजाः स्वापात्पूर्वं यद्यद्भवन्ति ये येऽमवंस्ते ॥

आभवन्त्पागत्य भवन्ति । सुपुत्तेः प्राग्ब्याघ्राभिमानी स्थितः । सुपुत्त्य-
नन्तरमपि व्याघ्रोऽहमित्यभिमन्यमान एव भवतीत्यर्थः । पूर्ववासनाव-
सित एवोत्तिष्ठतीति यावत् । ततश्च दर्शनानुसारात्सुपुत्तौ लयो न पुनर-
स्थितिविरोधीति भावः ॥ ३ ॥

स य एषोऽणिमा ।

अणुः सूक्ष्म इत्यर्थः ।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ।

स्पष्टोऽर्थः । एवमुक्तः श्वेतकेतुः सुपुत्तिदशायां परमात्मनि संपन्नः
स्वापानन्तरं तत उत्थायाऽऽगतश्चेत्पातगृहावुत्थायाऽऽगतस्य गृहावाग-
तोऽस्मीति प्रतिसंधानवत्सत आगतोऽस्मीति प्रतिसंधानप्रसङ्गात्तद्विष-
मणीयमिति मन्यमान आह—

भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
तथा सोम्येति होषाच ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

स्पष्टोऽर्थः ।

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

इमाः सोम्य नयः पुरस्तात्प्राच्यः स्थन्दन्ते पश्चात्पती-
च्यस्ताः समुद्रान्तमुदमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति
ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥
एवमेव सलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य
न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा

सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा
 दंशो वा मशको वा ययद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥२॥
 स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं
 स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा
 भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पष्ठप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

यथा गङ्गाद्या नद्यः पूर्वदिक्प्रस्थिताः प्राहमुत्ततया समुद्रं यान्ति,
 प्रतीच्यः पश्चाद्वेशप्रवृत्ताः सिन्धवाद्या नद्यः पश्चान्मुत्ततया समुद्रं यान्ति
 पुनश्च ताः समुद्रात्समुद्रं गच्छन्ति समुद्रपर्यन्तदेशात्समुद्रमध्यं गत्वा
 समुद्रेणैकीभूताः सत्य इयं गङ्गाऽहमस्मीयं यमुनाऽहमस्मीत्येवं प्रत्यभिज्ञा-
 तुमसमर्था भवन्ति, तथा सुप्तोत्थिता अपि सत आगता इति न प्रत्य-
 भिज्ञातुं समर्था इत्येवं बोधितेन श्वेतकेतुना ननु सुप्तोत्थितस्य सोऽह-
 मित्यनुसंधानबलान्नाशामावस्याभ्युपगन्तव्यत्वे मरणानन्तरं कदाऽपि
 पूर्णजन्मस्मरणाभावाज्जीवस्य देहवियोगसमये नाशः कस्मान्न स्यादिति
 मन्यमानेन भूयो विज्ञापयत्विति प्रार्थितस्तथाऽस्त्वित्यवोचदित्यर्थः ।
 एतत्खण्डाधिकरणं लिख्यते—सुप्तस्य मुक्ताविशिष्टतया ब्रह्मणि लीनस्य
 पुनर्वैहसंबन्धासंमयादन्य एवोत्तिष्ठति सुप्तिरहितपुरुषेषु वैविककर्मणां
 साफल्यं च भविष्यतीति प्राप्त उच्यते—‘स एव तु कर्मानुसृतिशब्दवि-
 धिभ्यः’ [ब्र०सू० ३ । २ । ९] स एव सुप्त एव तूत्तिष्ठति । कुतः, कर्मा-
 नुसृतिशब्दविधिभ्यः । सुप्तेः प्राक्कृतं कर्म तेनैव भोक्तव्यमन्यथा कृतहा-
 नादिप्रसङ्गात् । योऽहं सुप्तः सोऽहं जागर्मीत्यनुसृतेः । त इह व्याघ्रो वा
 सिंहो वेत्यादिशब्दान् । मोक्षार्थविधिव्यवृत्त्यर्थप्रसङ्गाच्च न सुप्तिर्मुक्ति-
 तुल्या । अत एव प्रजापतिविद्यायाम्—‘स ह सत्ययमेवं संप्रत्या-
 त्मानं जानाति’ इत्यज्ञत्वेन सुप्तिर्निन्द्यते ‘मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते’
 इति मुक्तिस्तद्विलक्षणतया प्रतिपाद्यते । अतो न सुप्तिर्मुक्तिरिति स
 एवोत्तिष्ठतीति स्थितम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽन्याह-
 न्याज्जीवन्स्त्रवेद्यो मध्येऽन्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेद्योऽ-
 ग्रेऽन्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेत्स एष जीवेनाऽऽत्मनाऽ-
 नुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥
 अस्य यदेकांशां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति
 द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ
 सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥ २ ॥
 एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं
 वाव किलेदं प्रियते न जीवो प्रियत इति स य
 एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा
 तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवा-
 न्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति ऋग्वेदोपनिषदि पृष्ठपपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

अनेकशारायुक्ते वृक्षे यत्किञ्चिन्मूले मध्ये वाऽग्रे वा परश्वादिनाऽ-
 न्याहन्यात्तदा जीवयुक्त एव वृक्षो रसं स्रवति । अतो रसस्रुतिरूपकार्या-
 जीवात्माऽऽमूलाग्रं व्याप्य मूलैरुदकं पिबंस्तत्प्रयुक्तसुखादिकं चानुभव-
 न्नास्ते । एवमामूलाग्रं व्याप्य वर्तमानो जीवो यदि कालधर्मवशात् यं
 प्रदेशं त्यजति स स प्रदेशः शुष्यति । एवमेव सर्वं जहाति यदि तत्सर्वं
 शुष्यति । ततश्च यथैकैकशाराशोपो न जीवनाशकृतोऽपि तु जीवसं-
 कोचकृतः प्रदेशान्तरे जीवस्य सत्त्वेन नाशासंभवादेवमेव सर्वशोपोऽपि
 सत्त्यागकृत एव न तु जीवनाशकृतः । अतो मनुष्यादिष्वपि जीवत्या-
 गकृतं देहस्य मरणं न जीवस्य तथा सति कृतहानाकृताभ्यागमप्रस-
 न्नात् । अतः सुषुप्तिमरणदशायां सत्संपत्तावपि न जीवादिनाश इति
 सिद्धमिति मायः । एवं बोधितेन श्वेतकेतुनाऽणिमः सच्छब्दितस्य

रूपस्पर्शादिहीनस्य विविधस्थावरजङ्गमादियुतानेकब्रह्माण्डहेतुत्वं न
 शब्देयमिति मन्यमानेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति प्रार्थितस्त-
 थाऽस्त्वित्युवाचेत्यर्थः । व्यासार्थेस्तु 'ज्ञोऽत एव' [ब० सू० २ । ३ । १८]
 इत्यधिकरणे—अस्य सोम्य महतो वृक्षस्येति वृक्षशब्देन शरीरं निर्दिश्यत
 इत्युक्तम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्पाशिकायां पष्ठपपाठकस्यै-
 कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति ।

न्यग्रोधफलमाहरेत्याचार्येणोक्तः श्वेतकेतुर्विं भगव इत्यानीतया-
 नित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ।

भिन्द्हीति भिन्नं भगव इति किमत्र
 पश्यसीत्यणव्य इवेमा धाना भगव इति ।

इमानि बीजान्यणून्नेव पश्यामीत्यर्थः । इवशब्द एवार्थः ।

आसामङ्गैकां भिन्द्हीति भिन्ना भगव इति
 किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति ॥ १ ॥

तत्र होवाच ।

स्पष्टोऽर्थः ।

यं वै सोम्यैतमणिमानं न निमालयसे ।

हे सोम्य, एवं यमेतं बटबीजाणिमानं न निमालयसे न पश्यसि
 किमित्यर्थः ।

एतस्य वै किल सोम्यैषोऽणिम एव महा-

न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २ ॥

एष महान्यग्रोध एतस्यैव किलाणिमः कार्यतया तिष्ठति । अतोऽणो-
 रपि सच्छब्दितात्परिदृश्यमानस्य स्थूलस्य प्रपञ्चस्योत्पत्तिरुपपद्यत इत्य-
 स्मिन्नर्थे श्रद्धा कर्तव्येत्यर्थः ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति श्रुय एव मा
भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अथ वि परमात्मा कारणानुगतः कथं तर्हि तदनुपलम्भः । अनुपलम्भे
च तत्र तस्यानुगतत्वे किं मानमित्यभिप्रायेण प्रार्थितस्तथेत्युक्तवानि-
त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रात-

रुपसीदथा इति स ह तथा चकार ।

रात्रौ लवणं जले प्रक्षिप्य प्रातर्मत्समीपमागच्छेति गुरुराहुः श्वेत-
केतुस्तथा चकारेत्यर्थः ।

त एव होवाच यदोषा लवणमुदकेऽवधा अङ्ग

तदाहरेति तच्चावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

दोषा रात्रौ यल्लवणमुदकेऽवधाः प्रक्षिप्तवानसि तदङ्गाधुनाऽहरे
त्युक्तो विभुश्च न ज्ञातवान् ॥ १ ॥

यथा विलीनमेवाङ्ग ।

यथा लवणं विद्यमानमपि विलीनं सद्यश्चक्षुषा त्वचा वा नोपलभ्यते
एवं जीवात्मन्यरूपमपीति भावः । एवं चक्षुषा त्वचाऽप्यग्राह्यस्य लव-
णस्योपापान्तरंगावगतिप्रकारं दर्शयति—

• दैत्यमुदिदुर्गदे—अनुपलम्भेन सङ्गच्छत धर्मेति नन्दनमेव श्रुत्योऽपि विश-
वस्येति श्रुत्यै इति च ॥

अस्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति ।

अस्य जलस्याऽऽदौ मूलप्रदेश उद्धृत्याऽऽचामेत्यथ पित्रोक्तः पुत्र
आचम्यानन्तरं कथमिति पृष्टो लवणमित्युक्तवानित्यर्थः ।

मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्य-
न्तादाचामेति कथमिति लवणमिति ।

उक्तोऽर्थः ।

अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार ।

एतत्परित्यज्य मत्समीपमागच्छेत्युक्तस्तथा चकार ।

तच्छश्वत्संवर्तते तः होवाचात्र वाव किल
सत्सोम्य न निमालयसेऽत्रैव किलेति ॥२॥

तल्लवणं जले शश्वत्सर्वदा सम्यग्वर्तत इत्युक्तवन्तं शिष्यं प्रति
पितोवाच किमिति रसनेन्द्रियेणोपलभ्यमानतया वस्तुतः सदेव लवणं
यथा चक्षुषा त्वचा या नोपलभ्यत एवमेवात्रैव जगत्पन्तरात्मतयाऽऽग-
माचार्योपदेशादिनाऽवगन्तुं योग्यमेव सच्छब्दितं ब्रह्मात्रैव किल वर्तत
इति न निमालयसे द्रष्टुं न शक्नोषि न पश्यसीत्यर्थः ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भग-
वान्निज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पष्ठप्रपाठकस्य

त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

तर्हि सर्वव्यापिनः सच्छब्दितस्यावगत्युपायं वृष्टान्तेन प्रदर्शयेति
मार्थित आचार्यस्तथाऽस्त्वित्युक्तवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां पष्ठप्रपाठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमा-
नीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र
प्राङ्बोद्ध्वाऽधराङ्का प्रत्यङ्क्वा प्रध्मायीता-
भिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥१॥

हे सौम्य यथा लोके गन्धारेभ्यो जनपदेभ्यः पिनद्धचक्षुषं कंचित्पुरुषं
चोरो गृहीत्वा बिजने विसृजेद्यदि स विभ्रमोपेतः प्राङ्मुख उदङ्मुखो
वाऽधोमुखो वाऽभिनद्धाक्ष एव तत्स्करैरानीतोऽभिनद्धाक्ष एव विसृष्टोऽ-
हमिति विक्रोशेतेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं
गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं
पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत ।

यथा कश्चित्कारुणिकस्तस्य घन्धनं मुक्त्वोत्तरतो गन्धारा एतां दिशं
व्रजेति प्रब्रूयाद्यदि स तथोक्तो ग्रामाद्ग्रामान्तरं पृच्छंस्तैस्तरुपदिष्टमार्गो
मेधाव्युक्तार्थाविस्मरणशीलः पण्डित ऊहापोहक्षमधीयुक्तो यथा
गन्धारानेव पुनरभिसंपद्येत प्राप्य निर्दुःखो भवेदित्यर्थः ।

एवमेवेहाऽऽचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव
चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥२॥

एवमाचार्योपदेशेन ब्रह्मात्मकस्त्वमस्यतस्तदात्मकतया स्यात्मानमनुसं-
धत्स्वेत्युपदिष्टस्तदात्मकत्वमनुसंधत्ते । तस्यैतादृशानुसंधाननिष्ठस्य तावा-
नेव विलम्बः । यावत्पारब्धकर्मरिच्छशरीराद्गन्धर्वविमोक्ष्यते । अथ तद-
नन्तरं तु सद्गुणं ब्रह्म संपत्स्यते । न विमोक्ष्ये संपत्स्य इति पुरुषव्य-
त्ययश्रृङ्गान्दसः । केचित्तु तस्य तावदेव चिरमित्यत्र न इत्यध्याहारः ।
तस्य मे तावानेव विलम्बो यावत्कर्मभिर्न विमोक्ष्येऽतः परं ब्रह्म संपत्स्य
इत्युपासकस्यानुसंधानप्रकारोऽनेन वाक्येनोच्यत इति वदन्ति । ननु
यावन्न विमोक्ष्य इत्युक्ते कथं शरीरान्मोक्षसिद्धिः । उच्यते । मोक्ष
इत्युक्ते कस्मान्मोक्ष इत्याकाङ्क्षायामस्यामेव विद्यायाम् 'अथ
यदाऽस्य पाद्वानसि संपद्यते' [छा० ६ । १५ । २] इत्यादिना

देहादुत्क्रमणश्रवणादन्यत्र च 'शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य'
 [छा० ८।३।४] 'धूत्वा शरीरम्' [छा० ८।१३।१] 'अशरीरं वाव
 सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' [छा० ८।१२।१] इति श्रवणात् ।
 'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति' [गी० ४।९] इत्यादिस्मरणाच्च
 शरीरात्मोक्ष इत्येवायमभ्यस्यते । अथ संपत्स्य इत्यत्रापि संपत्तेः कर्मापे-
 क्षायां । 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [छा० ६।८।१]
 इति वाक्यान्तरप्रतिपक्षं ब्रह्मेव कर्मतया संबध्यत इत्यवगम्यते । उत्तर-
 खण्डिकायामेतद्विचरणाप्रवृत्तार्यां देहे मोक्षत्रह्यसंपत्त्योः कथनाच्चैवमे-
 वार्थः । एवमेव व्यासार्थः 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' [ब्र० सू० १।
 १।७] इत्यत्रोक्तम् । न चाऽऽचार्यवान्पुरुषो वेदेत्यत्र वेदेत्यस्य न
 शाब्दज्ञानमात्रार्थकत्वं शङ्क्यम् । वेदान्तेषु विद्युपास्योर्व्यतिकरेण
 प्रयोगात्, शाब्दज्ञानमात्रेण मोक्षस्य 'बुद्धेः क्षेमप्रापणं तच्छास्त्रैर्विप्र-
 तिपिञ्चम्' इत्यादिप्रमाणप्रतिपिञ्चत्वाच्च विविधातुरुपासनावाच्येष्वपि ।
 एवमस्यापि विद्यायां येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात-
 मिति विज्ञानशब्दश्रवणात्, तस्य च 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-
 तव्यः' [बृ० २।४।५] इत्यनेनेकार्थ्याञ्चोपासनापरत्वमेवाऽऽश्रयणी-
 यम् । व्यासार्थस्तु 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' [छा० ६।१४।२] इत्या-
 चार्यवत्ताफलत्वेन प्रतिपादितार्थविशेषवेदनवचनं तदर्थस्यानुसंधेयत्वे
 लिङ्गमिति वाक्यार्थज्ञानवाचिन एव वेदेत्यस्यानुसंधानाक्षेपकत्वमुक्तम् ।
 चतुर्थार्ध्याये 'सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' [छा० ५।२४।३] इति
 सर्वकर्मप्रवाहश्रवणात्, ब्रह्मविद्योत्पत्त्यनन्तरमेव सर्वकर्मणां नाशः ।
 देहस्थितिस्तु चेक्रभ्रमणादिवत्संस्कारवशादप्युपपद्यत इति प्राप्त उच्यते
 'अनारब्धकार्ये एष तु पूर्वं तदवधेः' [ब्र० सू० ४।१।१५] विद्यो-
 त्पत्तेः प्राचीने अनारब्धकार्ये एव मुकृतदुष्कृते नश्यतो न त्वारब्धकार्ये ।
 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' [छा० ६।१४।२] इति शरी-
 रपातविलम्बावधिश्रवणाद्यावच्छरीरधारणं प्रारब्धकर्मानुवृत्तेरवश्यंभावा-
 त्कर्मव्यतिरिक्तस्य देहधारकसंस्कारस्य सन्नाये प्रमाणाभावादित्युक्तम् ।
 तथा 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते' इत्यत्र 'तस्य तावदेव चिरं
 यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति विद्यायोनिशरीरपातमात्रस्यैवान्तराय-
 त्वश्रवणात्प्रारब्धयोः पुण्यपापकर्मणोः सत्त्वेऽपि विद्यायोनिशरीरावसाने
 सत्त्वेय मोक्ष इति प्राप्त उच्यते—'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते'

[ब० सू० ४ । १ । १९ ।] तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । इतरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे फलमोगेन क्षपयित्वैव ब्रह्म संपद्यते ते च प्रारब्धे पुण्यपापे विद्यायोनिशरीरमात्रोपमोग्यफले चेत्, विद्यायोनिशरीरावसाने ब्रह्म संपद्यते । अनेकशरीरमोग्यफले चेत्, तदवसाने संपद्यते मोगेनैव क्षपयित्व्यत्वात्प्रारब्धकर्मणोः । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इति न तद्देहविमोक्ष इत्युच्यते, अपि तु देहारम्भककर्मविमोक्ष एवेति प्रतिपादितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं
स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा
भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य
चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

ननु देहविमोक्षानन्तरं ब्रह्मसंपत्तिरित्युक्तम् । देवोऽहं मनुष्योऽहमि-
त्यभिमतस्य कदाऽप्यनुपरततया यावदात्ममावित्वेन देवादिशरीरसं-
न्धस्यापि यावदात्ममावित्वादतो देहराहित्योपजीविनी ब्रह्मसंपत्तिरपि
न श्रद्धेयेति मन्यानेन श्वेतकेतुना भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति
प्राथितस्तथेत्युवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य
चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

पुरुषः सोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते
जानासि मां जानासि भामिति तस्य यावन्न
वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि
तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानानि ॥ १ ॥

हे सोम्य, उपतापिनं मरणवेदनाक्रान्तं पुरुषं पन्धरो मां जानासि
किं मां जानासि किमित्यसृग्दन्तः परितस्तिष्ठन्ति । स तु मुमुक्षुः पूर्वो-
क्तमत्संपत्तिपर्यन्तं ताञ्जानातीत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ यदाऽस्मि वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राण-
स्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

सत्संपत्त्यनन्तरं तु तान्न जानातीत्यर्थः । ततश्च सर्वेषां मरणदशयां
सत्संपत्तौ देहाभिमानाननुवृत्तेस्तत्प्रयुक्तदेहसंबन्धानित्यताशङ्काया असं-
भवात् । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इति देहसंबन्धात्यन्तनि-
वृत्तिप्रतिपादकश्रुतेर्नानुपपत्तिरिति भावः ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमा ।

प्रारब्धविमोक्षानन्तरमाविसंपत्तिकर्मत्वेन पूर्वखण्डिकानिर्दिष्टः सच्छ-
ब्दितः स एषोऽणुरित्यर्थः ।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्व-
मसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्वि-
ज्ञापयित्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

ननु देवमनुष्पादिप्रकृत्यात्मकत्वाभिसंधानादनर्थो भवति सदात्मक-
त्वाभिसंधानादनर्थनिवृत्तिरिति न शङ्केयम् । न ह्यभिसंधिभेदमात्रेण
महापुरुषार्थापुरुषार्थौ दृष्टयराविति मन्यमानेन श्वेतकेतुना भूय एव मा
भगवान्विज्ञापयित्विति प्रार्थितस्तथाऽस्त्वित्युवाचेत्यर्थः ।

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य

पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमिति सत्यभूतं सदात्मकत्वमनुसंधानस्यै-
धानर्थनिवृत्तिर्न तु प्रकृत्यात्मकत्वलक्षणासत्यानुसंधाननिवृत्त्यनर्थपरि-
हार इत्याह—

पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यप-
हार्पीस्तेयमकार्पीत्यरशुमस्मै तपतेति ।

हे सोम्य लोके राजपुरुषा हस्ते पुरुषं गृहीत्वाऽऽनयन्ति, कोऽपराधोऽ-

नेन कृत इति पृष्टाः सन्तोऽपहारं कृतवान्, चौर्यरूपेणापहारं कृतवान् ।
अपहृत्य चापानिहनुतेऽत एतस्य शोधनार्थं परशुमयःपिण्डमस्मै तपतेति
वदन्त आनयन्ति ।

स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं
कुरुते सोऽनृताभिसंधोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय
परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥

स हस्तगृहीतः पुरुषो न मया द्रव्यमपहृतमिति द्रव्यापहारमपहनुवानो
यद्यपहारस्य कर्ता स्यात्तदाऽसत्यप्रतिज्ञत्वात्सत्त्वात्मानमनृतं करोति ।
अनृताभिसंध्यन्तर्हितः स ततस्तप्तं परशुं राजपुरुषार्पितं हस्तेन प्रति-
गृह्णाति ततः स दह्यते राजपुरुषैर्हन्यते चेत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव
सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसंधः
सत्येनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रति-
गृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

स यदि तस्य चौर्यस्याकर्तृव सञ्ज्ञाहमपाहार्पमिति प्रतिजानीयात्तदा
सत्याभिसंधिवशेनैवाऽऽत्मानं सत्यं कृत्वा सत्येनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं
तप्तं गृह्णाति सत्याभिसंधिवशादेव प्रतिबन्धवाहो राजपुरुषैर्मुच्यते ॥ २ ॥

स यथा तत्र न दाह्येत

स सत्याभिसंधः पुमांस्तत्र परशुग्रहणे यथा न दह्यत इत्यर्थः । एवं
सदात्मकत्वलक्षणसत्याभिसंधिः पुमान्सांसारिकैरनर्थनं स्पृश्यत इत्यर्थः ।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स
आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ।

अतः सर्वस्य सदात्मकत्वानुमंथानमेव सत्याभिसंधिरिति सर्वान्तरा-
त्म्यमपि सदात्मक इति सदात्मकरूपसत्याभिसंधिमान्मय, तेन संसा-
रदाहानमिभूतो मुच्यम इत्यर्थः ।

तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठप्रपाठकस्य

षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य

षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥६॥

सच्छब्दितं तत्परं ब्रह्मास्य गुरोर्वचनाज्ज्ञातवाञ्छ्वेतकेतुरित्यर्थः ।
द्विरुक्तिरध्यापसमाप्त्यर्था । अत्र व्यासार्थैस्तद्धास्य विजज्ञावित्यत्र
विजज्ञाविति षड्मविज्ञातं विज्ञातमिति प्रक्रमभूतविज्ञानशब्दसमाना-
र्थकमत उपपासनावचनमित्युक्तम् । तत्तु संभवामिषायेण । पूर्वब्राह्म-
त्वोऽभ्यस्तेन भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति वाक्येन तन्मे विजानी-
हीति वाक्येन च प्रस्तुतविज्ञानविषयत्वादस्य विजज्ञावितिपदस्य तत्र
च वाक्य उपपासनप्रसक्तेरभावात् । न हि विज्ञापयत्वित्यत्रोपासनं कार-
णवित्यर्थो युक्तः । 'त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति' [छा०
६।४।७] इति वाक्ये 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' इति वाक्ये
तद्धास्य विजज्ञाविति वाक्ये च पूर्वत्र त्रिवृत्करणे भुतस्य विजानाने-
रुपासनार्थत्वाभावेनेहापि तथात्वस्यैव युक्तत्वादिति ब्रह्मव्यम् । केचित्तु-
त्रिवृत्करणप्रकरण इवात्र भूतानां विज्ञानशब्दानामुपासनार्थत्वे दोषा-
भावादेतेषां विज्ञानशब्दानामुपासनार्थत्वमेव । अथ वा मध्ये विज्ञा-
नशब्दानामतथात्वेऽप्युपक्रमोपसंहारैकरूप्यार्थमुपक्रमस्थविज्ञानशब्दवदु-
पसंहारस्थं विजज्ञाविति पदमुपासनार्थमेवेति यदन्ति । एतद्विषय-
कमधिकरणं लिख्यते समन्वयाध्याये प्रथमे पादे—सर्वं हि जग-
त्सुखदुःखमोहात्मकं दृष्टम् । लोके लोकस्यैव रूपरीचनशालिनो योषि-
त्विण्डस्य मतरं प्रति सुसरूपत्वम्, सपत्नीजनं प्रति दुःसरूपत्वम्,
कामुकपुरुषान्तरं प्रति मोहरूपत्वं च दृष्टम् । अतः सुखदुःखमो-
हात्मकतया सत्त्वरजस्तमोमयस्य जगत्तदनु रूपमेव कारणं यक्तव्यमिति

युक्तिसिद्धं त्रिगुणात्मकं प्रधानं सर्वज्ञकपिलस्पृतिसिद्धं सद्विद्याप्र-
तिपाद्यमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘ ईक्षतेर्नाशब्दम् ’ [ब० सू०
१।१।५] । शब्दः प्रमाणमेव न भवति यस्य तदशब्दमानु-
मानिकमिति यावत् । आनुमानिकं प्रधानं न ‘सदेव सोम्येद-
मग्र आसीत्’ [छा० ६।२।१] इति सच्छब्दितमपि ॥ परं ब्रह्मैव ।
कृतः । ईक्षतेः । ईक्षणादित्यर्थः । यद्यपि, इक्षितपो धातुनिर्वक्षे वक्त-
व्याद्वितीक्षतिशब्दो धातुवाची तथाऽपीह धातुवाचिनेक्षतिशब्देनार्थो
लक्ष्यते ‘तदैक्षत बहु स्वां प्रजायेयेति’ [छा० ६।२।३] इति सच्छब्दित-
स्येक्षणकथनादचेतन ईक्षणासंभवात् । न चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रति-
ज्ञाय भुत्पिण्डादिदृष्टान्तस्य चोपन्यासेनानुमानवेषत्वप्रतीतेरानुमानि-
कमेव प्रधानमिह प्रतिपाद्यत इति शङ्क्यम् । प्रतिज्ञावृद्धान्तोपन्यासेऽपि
प्रधानभूतहेत्ववयवानुपदेशेनानुमानोपन्यासरूपत्वाभावात् । न च ‘तेजसा
सोम्य शुक्लेन सन्मूलमश्विच्छ’ [छा० ६।८।६] इति कार्यलिङ्गोपन्यासाव-
नुमानविवक्षा प्रतीयत एवेति याच्यम् । उपक्रमोपसंहाराद्यन्तर्गतोपप-
त्तिरूपतात्पर्यलिङ्गतया कार्यलिङ्गोपन्यासेऽपि सांख्यमिममतस्तदुत्सर्गो-
हान्वितस्वरूपहेतूपन्यासावर्शनात् । ‘ गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ’ [ब० सू०
१।१।६] ननु ‘तत्तेज ऐक्षत’ [छा० ६।२।३] ‘ता आप
ऐक्षन्त’ [छा० ६।२।४] इत्यचेतने तेजआदौ भुतस्येक्षणस्य मुख्य-
स्यासंभवेन कार्योन्मुख्यलक्षणगौणार्थस्यैव समाश्रयणीयतया सच्छ-
ब्दितेऽपि श्रूयमाणमीक्षणं गौणमेवास्त्विति चेन्न । ‘ एतदात्म्यमिव
सर्वं तत्सरप स आत्मा ’ [छा० ६।८।७] इति सत आत्मत्वमति-
पादकश्रुतिव्याकौषप्रसङ्गेन गौणेक्षणप्रायपाठस्यानादत्तव्यत्वात्तेजःप्रभृ-
तिशब्दानामपि परमात्मपर्यन्ततया तत्रापीक्षणस्य मुख्यार्थत्वसंभवाच्च ।
‘ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । ’ [ब० सू० १।१।७] ‘तस्य ताव-
देव चिरं यावन्न विमोक्षे’ [छा० ६।१४।२] इति सदात्मकत्व-
विद्यानिष्ठस्य शरीरपातमात्रान्तराद्यव्यसंपत्तिलक्षणमोक्षश्रवणात् । न
हि प्रकृत्यात्मत्वानुसंधाननिष्ठस्य मोक्षः सांख्यमतेऽपि संप्रतिपन्नः ।
‘ ह्येत्यावचनाच्च ’ [ब० सू० १।१।८] । यदि सच्छब्दितं प्रधानं
स्वात्तर्हि सदात्मकत्वं मुमुक्षोर्ह्येतयोपदेश्यं स्यान्न त्वनुसंधेयत्वेनेत्यर्थः ।
प्रतिज्ञाविरोधात्प्रधानविज्ञाने तत्कार्याचेतनमात्रविज्ञानेऽपि चिदचिदा-
त्मकसर्वप्रपञ्चविज्ञानाभावेनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा पीडयेत् ।

‘स्वाप्ययात् ।’ [ब्र० सू० १ । १ । ९] ‘सता सोम्य तदा संपन्नो भवति’ [छा० ६ । ८ । १] इति श्रुतिः सत्संपत्तिं ‘स्वं ह्यपीतो भवति’ [छा० ६ । ८ । १] इति स्वाप्ययत्वेन बोधयति । सच्छब्दितस्य प्रधानत्वे स्वशब्दार्थभूतमात्मत्वं नोपपद्यते । ब्रह्मत्वे तु स्वशब्दार्थभूतमात्मत्वमुपपद्यते । तथाऽचेतनेऽकारणे जीवस्याप्ययशब्दितो लयश्च नोपपद्यते । ‘गतिसामान्यात् ।’ [ब्र० सू० १ । १ । १०] सर्वेषु वेदान्तेषु ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।’ [ऐ० १ । १] ‘एको ह वै नारायण आसीत् ।’ ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म [तै० २ । १ । १] इत्यादिषु चेतनकारणत्वावगतेस्तत्साम्यमेवेहापि वक्तव्यम् । अतस्तदैकाग्र्यायेहापि सच्छब्दितं ब्रह्मैव कारणत्वेन निर्विण्णते । ‘श्रुतत्वाच्च’ [ब्र० सू० १ । १ । ११] अस्यामेवोपनिषदि सच्छब्दवाच्यस्याद्वितीयत्वं नामरूपव्याकर्तृत्वसर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वाधारत्वापह्नतपाप्मत्वादीनां भवणाद्याचेतनं प्रधानं सच्छब्दितमिति स्थितम् ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां षष्ठः
प्रपाठकः समाप्तः ॥ ६ ॥

भूमविद्या प्रस्तूयते—

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः ।

सनत्कुमारं योगीश्वरं नारदधिपधीहि भगव इति मन्त्रोच्चारणपूर्वकं
विधिवदुपसन्न इत्यर्थः । अधीह्यधीष्वेत्यर्थः ।

तत्र होवाच

तमुपसन्नं नारदं सनत्कुमार उवाचेत्यर्थः । तदेवाऽऽह—

यद्वेत्य तेन मोपसीद

यत्त्वं ज्ञातवानसि तदिदमहं जान इति तत्प्रख्यापनेन मामुपसीद ।

ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥

ज्ञातांशस्योपदेशो व्यर्थ इति भावः ॥ १ ॥

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि

अध्येमि स्मरामि वेदमीति यावत्, यद्वेत्येति वेदनस्योक्तत्वात् ।

यजुर्वेदश्च सामवेदमाथर्वणं चतु-
र्थमितिहासपुराणं पञ्चमम् ।

वेदानभ्यापयामास महामारतपञ्चमान् ।

इतिवद्वगादिभिरितिहासस्यात्र पञ्चमत्वोक्तिः ।

वेदानां वेदं पित्र्यश्च राशिं दैवं
निधिं वाकोवाक्यमेकायनम् ।

वेदानां प्रकृतिप्रत्ययविभागवेदकं व्याकरणमित्यर्थः । पित्र्यं ब्राह्म-
फल्यं राशिं गणितं दैवमुत्पातज्ञानं निधिं निधिदर्शनोपायप्रतिपादकं
शास्त्रं वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रमेकायनमेकायनशास्त्रम् ।

देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां
नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम् ।

देवविद्या देवतोपासनप्रकारविद्या ब्रह्मविद्या वेदाङ्गभूतशिक्षादिविद्या
भूतविद्या पशुकरणविद्या क्षत्रविद्या धनुर्वेदो नक्षत्रविद्या ज्योतिषं
सर्पविद्या गारुडविद्या देवविद्या गान्धर्वशास्त्रं जनविद्याऽऽपुर्वेदः ।

एतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

अहमेतत्सर्वं जानामीत्यर्थः ॥ २ ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मविच्छ्रुतश्च ह्येव मे
भगवद्भूतोऽन्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः
शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं वारयत्विति ।

हे भगवः, अहमेतत्सर्वं जानामिपि मन्त्रविदेवास्मि शब्दबलनिष्ठ
एवास्मि यद्वा मन्त्रप्रधानकर्मनिष्ठ इति याऽर्थः । नाऽऽत्मविदस्मि न
परब्रह्मविदः । आत्मशब्दस्य तस्मिन्नेव मुख्यत्वाज्जीवस्य त्वापेक्षितान्-
त्येन निगृह्यतात्मत्वाभावाच्च मन्त्रविद्यादात्मवित्त्वे किमधिकं म्यादित्य-
त्राऽऽह-भगवदहंशेभ्यो मयाहंशेभ्यो महज्ज आत्मविच्छोकं संसारं

तर्तीति मे श्रुतमेव हि । म इति संबन्धसामान्ये षष्ठी मया श्रुतमित्यर्थः ।
एतादृशविद्यासंपन्नोऽप्यहमात्मज्ञानराहित्याच्छोकार्णवे पतितोऽस्मि तं
तादृशं मां भगवानात्मज्ञानेन शोकार्णवस्य पारं तारयत्वित्युवाचेत्यर्थः ।

तश्च होवाच ।

सनत्कुमार इति शेषः ।

यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

अध्यगीष्ठा अधीतवानसीत्यर्थः । अत्र तेषां नामैवाऽऽस्मेति प्रति-
षचने दातव्ये नामैवैतदित्यधीतगर्वेदादिसामानाधिकरण्येन प्रतिबक्तुः
सामानाधिकरण्यनिर्देशार्हत्वमेवाऽऽत्मत्वमिति भावः ॥ ३ ॥

तदेव प्रपञ्चयति—

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः
इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशि-
दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या
भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्याः ।

स्पष्टोऽर्थः । उपसंहरति—

नामैवैतत् ।

इति नामरूपमयत्यात्मप्रपञ्चस्य विशिष्यगर्वेदादिलक्षणशब्दराशेर्नामरू-
पत्वाच्च सर्वं नामैवेत्यर्थः । ततः किमित्यत्राऽऽह—

नामोपास्वेति ॥ ४ ॥

अत्र ब्रह्मेति शेषः । नाम ब्रह्मेत्युपास्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

तस्य फलमाह—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावज्जाम्ना
गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ।

नामप्रवृत्तिर्यावति वेशे तावति वेशेऽस्य नामब्रह्मोपासकस्य यथेष्टं
संचरणं भवति । उक्तमेव पुनरुपसंहरति—

यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते ।

आत्मानं जिज्ञासमानं प्रति ब्रह्मत्वेन नामोपदर्शनस्याऽऽत्मत्वब्रह्मत्वे
अन्यूनान्तिरिक्तवृत्तिधर्माविति भावः । ब्रह्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं बृहत्त्वं
नास्ति न पुष्कलमिति मत्वा नामोपदेशेनापरितुष्टः सन्नारदः पृच्छति—
अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति ।

वैपुल्यार्थाद्बहुशब्दादातिशायनिक ईयमुन्प्रत्यये भूय इति रूपम् ।
किं नाम्नोऽपि विपुलतरं किञ्चिदस्तीति प्रश्नार्थः । वैपुल्यं च गुणोत्कर्ष-
कृतं द्रव्यं न तु परिमाणात्कृतं तथैवोत्तरत्र प्रपञ्चनादिति द्रष्टव्यम् ।
अत्र नाम्नो बृहत्त्वलक्षणब्रह्मत्वं कथिते ततोऽपि किं बृहदस्तीति प्रष्टव्ये
ततोऽपि किं भूयोऽस्तीति प्रश्नाद्भूयस्त्वं बृहत्त्वं वैकमिति ज्ञाप्यते ।
गुरुराह—

नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति ।

शिष्य आह—

तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

गुरुराह—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी ।

वावशब्दः प्रसिद्धौ । तदेव प्रपञ्चयति—

वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति ।

वैश्वदेवोऽवधारणे ।

यजुर्वेदश्च सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं

पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं देवं निर्धिं वाको-

वाक्यमेकाग्र्यं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्र-
विद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथि-
वीं च वायुं चाऽऽकाशं चापश्च तेजश्च देवाश्च
मनुष्याश्च पशूश्च वयांसि च तृणवनस्पतीज्-
श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं
चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च ।

हृदयज्ञो मनोज्ञः । हृदयप्रिय इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् । एतत्सर्वं वागेव
विज्ञापयतीति पूर्वोक्तान्वयः । वागमाव एतज्ज्ञानं नास्तीत्यपि वृक्षपति-

यद्वै वाङ्मनाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यत् ।

वाग्निन्द्रियामावे वेदाध्ययनाद्यभाषान्धर्मादिकं विज्ञातं च नाम-
विष्यदित्यर्थः ।

न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृद-
यज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्तेति ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपा-
स्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव
भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

सर्वं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

गुरुराह—

मनो वाव वाचो ज्ञूयो यथा वै द्वे वाऽऽम-
लके द्वे वाकोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुज-
वत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति ।

यथाऽऽमलकफलद्वयं वा कोलफलद्वयं वा विभीतकफलद्वयं वा
मुष्टावन्तर्गतिं भवति, एवं वाङ्मनामनी मनस्यन्तर्गति । तदेवोपपादयति—

त यदा मनसा मनस्पति मन्त्रानधीयी-
येत्यधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कु-
रुते पुत्रांश्च पशूंश्चेष्टेयेत्यथेच्छत
इमं च लोकममुं चेष्टेयेत्यथेच्छते ।

स पुरुषो यदा मनसा मन्त्रानधीयीष्य मन्त्रानुच्चारयेयमिति मन-
स्पति मनुते । तद्वन्तरमेवाधीते । कर्माणि करवाणीति मननानन्तरमेव
कर्माणि कुरुते । पुत्रांश्च पशूंश्चेष्टेयम्, इमं लोकममुं चेष्टेयमिति
मत्वेच्छति । अतश्च मननलक्षणमनोव्यापाराधीनत्वाद्वागादिप्रवृत्तेर्मनसो
भूयस्त्वमिति भावः ।

मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म ।

मनोधीनत्वादात्मधर्मभूतकर्तृत्वादेर्मन एवाऽऽत्मा लोकस्यापि मनो-
व्यापाराधीनत्वान्मन एव लोकः । वागाद्यपेक्षया बृहत्त्वान्मनो हि ब्रह्म ।

मन उपास्तेति ॥ १ ॥

अतस्त्वं मन उपास्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मे-
त्युपास्तेऽस्ति भगवो मनमो ज्ञूय इति मनमो
वाव ज्ञूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

गुरुराह—

संकल्पो वाच मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ
मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति
नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

यदा, इदं कर्तुं युक्तमिति संकल्पयति तदा, इदं कर्तव्यमिति
मन्यते । ततश्च वागिन्द्रियं प्रेरयति । तच्च वागिन्द्रियं शब्दोच्चारणविषये
नियुक्ते ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि संकल्पेकायनानि
संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि ।

तान्येतानि नामादीनि संकल्प एकमयनं मार्गो येषां तानि संकल्पै-
कायनानि संकल्पानुसारीणीति यावत् । संकल्प आत्मा कर्ता येषां
तानि संकल्पात्मकानि संकल्पकर्तृकाणीत्यर्थः । यद्वा संकल्प आत्मा
स्यापको येषां तानि संकल्पव्याप्तानीति यावत् । संकल्पे प्रतिष्ठितानि,
असति संकल्पे येषां न सत्ता । अतः संकल्पाधीनसत्ताकानीति यावत् ।

समकल्पतां वावापृथिवी समकल्पेतां वायु-
श्चाऽऽकाशं च समसंकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च ।

द्यौश्च पृथिवी च निश्चलतया धर्ताग्रहे इति संकल्पं कृतवत्यावित्यर्थः ।
तथा वाय्वाकाशादयोऽपि स्वेन रूपेण वर्ताग्रहे इति स्वस्वकार्यं च
करवामहा इति संकल्पं कृतवन्त इत्यर्थः । तथासंकल्पामावे तथा-
प्रवृत्त्यसंभवादिति भावः ।

तेषां संकृप्त्यै वर्षं संकल्पते ।

अमेजोर्धीनत्वाद्दर्पणस्याऽऽपस्तेजांसि च सम्यक्संकल्पन्तां स्वस्वकार्य-
समर्थानि भवन्त्वित्येवं तत्सिद्ध्यै वर्षं संकल्पते ।

गुरुराह—

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽम-
लके द्वे वाकोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुज-
यत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति ।

यथाऽऽमलकफलद्वयं वा कोलफलद्वयं वा विभीतकफलद्वयं वा
मुष्टावन्तर्गतं भवति, एवं वाङ्मनामनी मनस्यन्तर्गते । तदेवोपपादयति—

स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयी-
येत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कु-
रुते पुत्राश्च पशूश्चेच्छेयेत्यथेच्छत
इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते ।

स पुरुषो यदा मनसा मन्त्रानधीयीष मन्त्रानुच्चारयेयमिति मन-
स्यति मनुते । तदनन्तरमेवाधीते । कर्माणि कर्त्तव्याणीति मननानन्तरमेव
कर्माणि कुरुते । पुत्राश्च पशूश्चेच्छेयम्, इमं लोकममुं चेच्छेयमिति
मत्सेच्छति । अतश्च मननलक्षणमनोव्यापाराधीनत्वाद्वागादिप्रवृत्तेर्मनसो
भूयस्त्वमिति भावः ।

मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म ।

मनोधीनत्वादात्मधर्मभूतकर्तृत्वादेर्मन एवाऽऽत्मा लोकस्यापि मनो-
व्यापाराधीनत्वान्मन एव लोकः । वागाद्यपेक्षया बृहत्त्वान्मनो हि ब्रह्म ।

मन उपास्वेति ॥ १ ॥

अतस्त्वं मन उपास्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मे-
त्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो ज्ञेय इति मनसो
याव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

तृतीयः भण्डः ॥ ३ ॥

यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः
संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संक-
ल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

चित्तं वाय संकल्पाद्भूयो यदा वै
चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यति ।

अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहंकारचित्तशब्दै-
र्ध्वपविरयत इति 'हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्' [ब०सू० २।४।६]
इति सूत्रे मापितत्वात् । प्राप्तकालानुरूपातीतानागतविषयप्रयोजनचिन्ता-
नुरूपप्रवृत्तिविशिष्टं मनश्चित्तमित्युच्यते चेतयतिधात्वर्थोऽपि स एव ।
शिष्टं स्पष्टम् ।

अथ वाचभीरयति तागु नाम्नीरयति नात्रि
मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकाय-
नानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि ।

उक्तोऽर्थः ।

तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति
नायमस्तीत्येवैनमाहुर्नयं वेद यद्वा
अयं विद्वान्नेत्यमचित्तः स्यादिति ।

बहुशास्त्रज्ञोऽपि पुमान्विषयप्रयोजननिरूपणलक्षणचित्तहीनो यदा

वर्षस्य संकल्प्या अन्नं संकल्पते ।

अन्नस्य वर्षाधीनत्वाद्दन्नं वर्षसिद्ध्यै संकल्पते ।

अन्नस्य संकल्प्यै प्राणाः संकल्पन्ते ।

अन्नसमुद्धिं प्राणाः संकल्पन्त इत्यर्थः ।

प्राणानां संकल्प्यै मन्त्राः संकल्पन्ते ।

मन्त्रोच्चारणस्य प्राणायत्तत्वान्मन्त्रास्तस्मिन्माशंसन्ते ।

मन्त्राणां संकल्प्यै कर्माणि संकल्पन्ते ।

अग्निहोत्रादीनां कर्मणां मन्त्रजन्यस्मृत्यधीनानुष्ठानत्वादिति भावः ।

कर्मणां संकल्प्यै लोकः संकल्पते ।

स्वर्गादिलोकस्य कर्माधीनसिद्धिकत्वादिति भावः ।

लोकस्य संकल्प्यै सर्वं संकल्पते ।

सर्वस्यापि भूतजातस्य लोकाधीनत्वादिति भावः । अत्राचेतनेषु संकल्पकथनं स्तुत्यर्थतया चेतनत्वारोपेण वा तदभिमानिदेवतापरतया घोषपक्षमिति द्रष्टव्यम् ।

स एव संकल्पः ।

एतादृशमहिमशाली संकल्प इत्यर्थः ।

संकल्पमुपास्त्वेति ॥ २ ॥

स यः संकल्पं ब्रूतेत्युपास्ते ।

स्पष्टोऽर्थः ।

संकल्पमान्यै स लोकान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्य-
तिष्ठितोऽव्ययमानानव्ययमानोऽनिसिध्यति ।

संस्कृतान्संकल्पसिद्धान्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितानव्ययमा-
नाच्छ्रुतीदादिरहितानेतादृशाहोक्तान्ययमपि ध्रुवत्वप्रतिष्ठितत्वाव्यय-
मानत्वयुक्तः भग्नमितिष्यति प्राप्नोतीत्यर्थः ।

भवत्येवं पृथिव्यादयोऽपि ध्यानलक्षणस्वमाहात्म्यप्रख्यापनायेव निश्चलाः सन्तो ध्यानमभिनयन्ति । अतो ध्यानं माहात्म्यहेतुरित्यर्थः । सूत्रितं च 'अचलत्वं चापेक्ष्य' [ब० सू० ४।१।९] इति । तत्र हि तिष्ठन्नासीनः शयानो वा ध्यानमनुतिष्ठेद्विशेषामावादिति प्राप्तेऽभिधीयते—'आसीनः संभवात्' [ब० सू० ४।१।७] । आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् । कुतः । संभवात् । आसीनस्यैव ह्येकाग्रचित्तता संभवति स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वाच्छयने च निद्रासंभवात् । 'ध्यानाच्च' [ब० सू० ४।१।८] । विजातीयप्रत्ययान्तराव्ययहितचिन्तालक्षणध्यानलक्षणत्वादुपासनस्य तत्र च चित्तैकाग्र्यावश्यंभावेन तत्सिद्धय आसीनत्वस्यापेक्षितत्वात् । 'अचलत्वं चापेक्ष्य' [ब० सू० ४।१।९] निश्चलत्वरूपं सादृश्यमपेक्ष्य । ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षमित्यादौ ध्यायतिशब्दप्रयोगवर्जनात्, ध्यातुर्निश्चलत्वस्यापेक्षितत्वादसीनस्यैव च निश्चलत्वसंभवादासीनस्यैवोपासनमित्यर्थः । 'स्मरन्ति च' [ब० सू० ४।१।१०]

उपविश्याऽऽसने पुष्ट्याद्योगमात्मविशुद्ध्यै [। गी० ६।१२]

इति ध्यानाङ्गतयाऽऽसीनता स्मर्यते । अतो ध्याने चित्तैकाग्र्यस्यात्यावश्यकत्वाच्चवर्धमासीनत्वमपेक्षितम् । 'यत्रैकाग्रता तत्राविशोपात्' [ब० सू० ४।१।११] यत एव चित्तैकाग्र्यं प्रधानहेतुरत एव पस्मिन्देशो चित्तैकाग्र्यं मयति स एव देशोऽपेक्षितः । 'समे शुची शर्करावह्निवालुकापिर्जिते' [श्वे० २।१०] इत्यादिदेशविशेषनिषेधस्यापि चित्तैकाग्र्यसिद्ध्यर्थत्वाच्चित्तैकाग्र्यविरोधे सोऽपि नाऽऽवर्तव्य इत्यर्थ इति स्थितम् ।
मकृतमनुसरामः ।

तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति
ध्यानापादाऽशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः
कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये
प्रज्ञवो ध्यानापादाऽशा इवैव ते भवन्ति ।

ध्यानमापन्ना ध्यानापादा ये मनुष्याणां मध्ये घनादिभिर्महान्तस्ते ध्यानापादानां ध्यातृणामंशा इव सदृशा इव भवन्ति । यथा ध्यातारोऽप्यचन एव महान्तोऽप्यवचनतया ध्यातृसादृश्यं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तद्वन्तस्ते सन्ति तत्सदृशत्वं तदंशत्वम् । महान्तोऽपि मनुष्या यतो ध्यातृणामंशा अतो ध्यानं श्रेष्ठमित्यर्थः । अथयेत्वल्पाः सुद्रास्ते कलहशीलाः

मवेदित्यर्थः । तदा लौकिका अयं नास्ति अयं वेदेति यत्तदपि नास्तीत्येवं ज्ञातारं तदीयं शास्त्रज्ञानं चापलपन्ति तत्र युक्तिं च वदन्ति । यत्, यद्ययं पुमान्विद्वान्स्यादित्यमचित्तो न स्यात्तस्मादेतस्य शास्त्रज्ञानमेव नास्तीत्याहुः ।

अथ ययल्पविचित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूपन्ते ।

शुश्रूपन्ते तद्वाक्यं श्रोतुमिच्छन्तीत्यर्थः ।

चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा

चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्तेति ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोका-
न्ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान्प्रतिष्ठितोऽव्यथमानान-
व्यथमानोऽभिसिध्यति यावच्चित्तस्य गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मे-
त्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाय
भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

चित्तानुपचितानित्यर्थः । इतरत्पूर्वमेव ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी
ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव सौध्यायन्तीयाऽऽपो
ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः ।

ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराध्यवहितमेकचिन्तनामिति 'ध्यानाय'
[य० सू० ४।१।८] इति सूत्रे मायितम् । येषां योगी ध्यायन्ति श्रुत्यो

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स
लोकाऽज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं
तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्यु-
पास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञाना-
द्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

प्रमाणजन्यज्ञानरूपस्य विज्ञानस्य स्मृतिसंततिलक्षणं ध्यानं प्रति
हेतुत्वात्ततो भूयस्त्वं द्रष्टव्यम् । शिष्टं पूर्ववत् ॥ १ ॥

ज्ञानविज्ञानशब्दयोः सामान्यविशेषरूपत्वाद्विज्ञानवतो ज्ञानवतो
लोकानित्युपपत्तिः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

बलं वाय विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको
बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता
भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भव-
त्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति
बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ।

एको हि बलवान्हस्ती विज्ञानवतां मनुष्याणां शतमप्याकम्पयते ।
किञ्च सति बले गुर्वादिषु दृष्टेष्वभ्युत्थानम्, परिचर्या, उपसदनम्, श्रवण-
मनननिदिध्यासनसाक्षात्काराः कर्मविषयकर्तृत्वम्, कृतविषयकज्ञानम्,
एतत्सर्वं बले सत्येव भवति । अतो विज्ञानापेक्षया बलमेव भूय
इत्यर्थः ।

परदोषोद्भावाकाः परेषां समीपे तद्दोषवदनशीला वाचाटा भवन्ति न
तु ध्यातृसाहस्रदशमपि प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । अथ ये तु प्रभवो महा-
न्तस्तेऽजल्पाकाः सन्तो ध्यातृसहस्रा भवन्ति ।

ध्यानमुपास्वेति ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपा-
स्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव
भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्यिति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

सयं पूर्ययत् ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

विज्ञानं वाच ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं
विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमिति-
हासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पिण्यं राशिं दिवं
निधिं वाकोवाक्पमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां
भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां
दिव्यं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशं चापञ्च
तेजस्य देवाश्च मनुष्याश्च पशूश्च वयान्ति च
तृणवनस्पतीन्द्रवापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं
आभर्मं च मत्स्यं चानृतं च गाधु चामाधु च
हृदयं चाहृदयां चान्नं च रमं चेमं च लोकममुं
च विश्वानेनैव विजानानि विज्ञानमुपास्वेति ॥ १ ॥

लब्धवानित्यर्थः । अतश्चान्वयव्यतिरेकाम्यामन्नस्यैव बलादिहेतुत्वदर्श-
नादिति भावः ।

अन्नमुपास्वेति ॥ १ ॥

संयोऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पा-
नवतोऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य
यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपा-
स्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽ-
स्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

पानवतः पेयमचुरानित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

आपो वा अन्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न
भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो
भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः
प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति ॥

यस्मिन्काले शोभना वृष्टिर्न भवति तदाऽन्नमल्पं भविष्यतीति
प्राणिनो दुःखिनो भवन्ति । यदा शोभना वृष्टिर्भवति तदाऽन्नं बहु
भविष्यतीत्यानन्दिनो हृष्टा भवन्ति ।

आप एवेमा मूर्ताः ।

इमा वक्ष्यमाणा मूर्तमेवाकारपरिणता आप एवेत्यर्थः ।

येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद्द्यूरीयत्पर्वता यद्देव-
मनुष्या यत्पशवश्च यथाशसि च तृणवनस्प-

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं
 बलेन यौर्वलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या
 बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्प-
 तयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन
 लोकस्तिष्ठति बलमुपास्त्वेति ॥ १ ॥
 स यो बलं बलेत्युपास्ते यावद्वलस्य गतं
 तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं बले-
 त्युपास्तेऽस्ति भगवो बलान्भूय इति बलाद्वाव
 भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्या-

ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्ययपि वशं रात्री-
 नांश्रीयाययु इ जीवेद्यथाऽद्रष्टाऽश्रोताऽम-
 न्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽये
 द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति
 बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति ।

बलसंपादकत्वादन्नमेव बलाद्भूयः । अत एव यदि कश्चित्पुमान्द्रश-
 रात्रीनां भूषिताहं बलहान्या ग्रिपत एव । अथवा यदि कश्चिज्जीवेत्तार्हि-
 द्रष्टव्यभोतृत्वादिरहित एव भवेत् । अद्रष्टाऽभोतेति प्लेदः । अन्न-
 स्याऽऽये एवमे मति । अन्नस्याऽऽये, इति पाठे छान्दस एकारस्ये-
 कारः । अन्नस्याऽऽपीति पाठेऽप्यापो एवमः । अन्नस्याऽऽपी, अन्नं

स्तनयितुशब्दाश्चरन्ति । तद्दर्शनादेव लौकिका विद्योतते स्तनयति
वर्धिष्यति चेति वदन्तीत्यर्थः । अत एव कारणभूतं तत्तेजः स्वात्मानं
प्रथमतो दर्शयित्वाऽथापः सृजते ।

तेज उपास्वेति ॥ १ ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै तेजस्वतो
लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति ।

तेजस्वित्वादेव लोकानां तत्कार्यं प्रकाशवत्त्वलक्षणं भास्वत्त्वं बाह्या-
भ्यन्तरान्धकारशून्यस्वरूपमपहततमस्कत्वं च तादृशो लोकान्स्वयमपि
तेजस्थी सन्नाप्नोतीत्यर्थः ।

यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति
यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति
तेजसो याव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्यैका-

दशः खण्डः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्यै-
कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे
वै सूर्याचन्द्रमसाबुधौ विद्युन्मृगशिरा-
ग्रिराकाशेनाऽऽह्वयत्याकाशेन शृणोत्या-
काशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आका-
शे न रमत आकाशे जायत आका-
शमभिजायत आकाशमुपास्वेति ॥ १ ॥

पूर्वखण्डोक्तयोस्तेजोवाय्वोर्ह्याकाशः कारणम् । अत आकाशस्य
तजोवाय्वपेक्षया मूयस्त्वम् । अत एवाऽऽदित्यादिव्योतिर्मण्डलमाका-

तयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकमाप
एवेमा मूर्ता अप उपास्वेति ॥ १ ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आमोति सर्वान्कामाः-
स्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाका-
मचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भग-
वोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो याव भूयोऽस्तीति
तन्मे भगवान्प्रणीत्विति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
दशमः खण्डः ॥ १० ॥

अवामुपासकस्य कामानामाप्तिर्युक्तेवेति भावः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
दशमः खण्डः ॥ १० ॥

तेजो वा अद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याऽऽकाश-
मभितपति तदाऽऽहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति
वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते
तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराहादाश्चरन्ति
तस्मादाटुर्वियोजते स्तनपति वर्षिष्यति वा इति
तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते ।

तेजसोऽप्कारणत्वात्तेज एवादद्भ्यो भूयः । तस्मादप्कारणत्वादेव हेतोरे-
तत्तेजो यदा वायुं स्यात्मना निश्चलीकृत्याऽऽकाशमभिव्याप्य तपति तदा
लौकिकान्तेजः कर्तुं जगन्निशोचति नितरां शोषति नितपति नितरां
तपति च तस्माद्व्यर्थं वर्षिष्यतीत्याहुः । तेजसोऽप्कारणत्वादेव तत्तेजः
मध्यगतः स्यात्मानं दर्शयित्वा पश्चादपः सृजते । तस्मादेव तेजसोऽप्का-
रणत्वादेतत्, एतन्मिन्नपि काल ऊर्ध्वगतमभिरितर्यग्गताभिश्च विद्युद्भिः

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथा-
कामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्-
भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

तुवं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्यारोहो वै स्मरो मन्त्रा-
नधीते कर्माणि कुरुते पुत्राश्च पशूश्चेच्छत
इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्त्वेति ॥ १ ॥
स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे
कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याऽऽशिषो भवन्ति ।

आशया फलेच्छयेहो दीपित उत्पादितः स्मर इहसाधनत्वादिविष-
यकं स्मरणमध्ययनकर्मानुष्ठानाविहेतुर्मवतीत्यर्थः । किञ्च फलाशायत्तैव
पुत्रपश्वादीहलोकपरलोकवाञ्छा । अत आशया भूयस्त्वमित्यर्थः ।
उपासित्वाऽऽशया सर्वे कामाः समृद्धा भवन्ति । आशाश्चास्य सर्वाः
सफला भवन्तीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ।

यावदाशया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य
आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशया भूय इत्या-
शया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

शाश्वितम् । आकाशान्तर्वर्तीन्याह्वानश्रवणप्रतिश्रवणान्यप्याकाशसा-
ध्यानि । सममाणोऽपि जन आकाशे शोचन्नपि जन आकाशे जायमा-
नोऽप्यङ्कुरादिराकाशलक्षणमवकाशमभिलक्ष्य प्रतीक्ष्यैव जायते । अतः
आकाशमुपास्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स
लोकान्प्रकाशवतोऽसंवाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति ।

आकाशवतो विस्तारयुक्तानत एवान्योन्यपीठालक्षणसंवाधशून्या-
न्प्रकाशवतस्तेजस्यिन उरुगायवतः कीर्तिमतो लोकान्प्राप्नोतीत्यर्थः ।

यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति
य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय
इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

स्पष्टम् ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

स्मरो वा आकाशाद्भूयस्तस्मादपि बहव आसीरन्न
स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन्पदा
याव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन्स्मरेण
र्थं पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून्स्मरन्मुपास्तेति ॥ १ ॥

स्मरणशून्या एकत्र बहव आसीना अपि न भयणादिकार्यसमर्थाः ।
मति तु शङ्क्यादिस्मरणे भयणादिकार्यसमर्था भवन्ति । अत आका-
शकार्यस्य भयणादः स्मरणार्थान्तरात्तस्याऽऽकाशाद्भूयस्यमिति
भाषः । किञ्च स्मरणशून्यस्य न पुत्रपश्वादितानमित्यतः स्मरणमुपास्वे-
त्यर्थः ॥ १ ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं
व्यतिपदहेत्रैवेनं ब्रूयुः पितृहाऽसीति न मातृ-
हाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति
नाऽऽचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति ॥ ३ ॥

प्राणो ह्ये वैतानि सर्वाणि भवति ।

सर्जीषेषु पित्रादिशरीरेषु धिक्त्वामित्येव किञ्चिद्भृशमधिक्षिपति
पुरुषे पितृहेत्यादिशब्दान्प्रयुञ्जते । तेष्वेव शरीरेषूत्क्रान्तजीषेषु शूलेन
समासं संपूर्वाक्षेपाधादस्यतेर्णमुलन्तोऽयं शब्दः । शूलेन सम्यक्प्रतिक्षिप्य
व्यत्यस्य सम्यग्वहृत्यपि पुरुषे पितृहेत्यादिशब्दा न प्रयुज्यन्त इत्यर्थः । अतः
सर्जीषेषु पित्रादिषु हिंसितेषु पितृहेत्यादिशब्दप्रयोगान्निर्जीविष्यप्रयो-
गाच्च निर्जीवस्य शरीरस्य पित्रादित्वाभावस्य सिद्धत्वाज्जीव एव पित्रादि-
र्मवर्तीत्यर्थः । भगवता माप्यकृता-प्राणशब्दनिर्दिष्टः प्राणसहचारी प्रत्य-
गात्मैव न वायुविशेषमात्रम् । प्राणो ह्येति प्राणो मातेत्यादयः प्राणस्य
चेतनतामवगमयन्ति । पितृहा मातृहेत्यादिना सप्राणेषु पितृप्रमृतिपू-
षमर्दकारिणि हिंसकत्वादिनिमित्तोपक्रोशवचनात्तेष्वेव विगतप्राणेष्वत्य-
न्तोपमर्दकारिण्युपक्रोशमावाच्च हिंसायोग्यश्चेतन एव प्राणशब्दनिर्दिष्टः ।
अप्राणेषु स्यादरेष्वपि चेतनेषूपमर्दमावाभावयोर्हिंसातदभावदर्शनाच्चि-
सायोग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैवेति निश्चीयते । अत एव
चारनामिदृष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राणशब्दनिर्दिष्टः पर इति न भ्रमितव्यम् ।
परस्य हिंसाप्रसङ्गमावात्, जीवादितरस्य मोक्षमोगोपकरणस्य कृत्स्न-
स्याचिद्वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनामिदृष्टान्तोपपत्ते-
श्चेति भाषितम् । यद्यपि 'नायं हन्ति न हन्यते' [गी० २ । १९.]
इति निर्दिष्टस्य जीवस्य स्वतो हिंसायोग्यत्वामावेऽपि देहादिसाहित्य-
प्रयुक्तहिंस्यत्ववन्मुख्यप्राणस्यापि हिंस्यत्वं सुवचम्, स्यादरहिंसात्य-
लेऽपि 'भेदश्च्युतेः' 'वैलक्षण्याच्च' [ब्र० सू० २।४।१८।१९.] इति सूत्रमा-
प्योक्तरीत्या स्यादरेषु प्राणस्य पञ्चधाऽवस्थाय शरीरधारणामावेऽपि
प्राणसज्जावोऽस्तीति, न तु दृष्टान्तभावादिति सूत्रे भाषितत्वेन प्राणस्य
सज्जावाच्चिंसादिवचनमुपपद्यत एव, तथाऽपि प्राणो ह्येतित्यादिवाक्य-
निर्दिष्टानां जीववाचितया लोके प्रसिद्धानां वदूनां पित्रादिशब्दानां

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकार्या सप्तमप्रपाठकस्य

चतुर्दशः सण्डः ॥ १४ ॥

प्राणो वा आराया भूयान् ।

अत्र प्राणशब्देन प्राणसहचरितो जीवो लक्ष्यते । तत्र च हेतुरुत्तरत्र
लक्ष्यते—

यथा वा अरा नामौ समर्पिता

एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम् ।

यथा रथचक्रस्पारा रथनाम्नाभिता एवं समस्तमचेतनं भूतजातमेत-
द्येतनाभितमित्यर्थः । ' भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः ' [फी० ३।८]
इति श्रुत्यन्तरात् ।

प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति ।

गन्ता देयदत्तादिरपि जीव एव, गमनकरणभूतोऽश्वाविरपि जीव
एव, दाताऽपि जीव एव, देयो गवाविरपि जीव एव, संप्रदानभूतो
ब्राह्मणादिरपि जीव एवेत्यर्थः ।

प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो ज्ञाता प्राणः

स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

पित्रादिरपि जीव इति प्रसिद्ध एवेत्यर्थः ॥ १ ॥

मनु परितृप्यमानमांसपिण्डविशेषा एष पित्रादिशब्दवाच्या न जीव
इति मन्यानं प्रत्याह—

गौणत्वकल्पनापेक्षयैकस्य प्राणशब्दस्यैव जीवत्वमाश्रयणीयमिति
माप्यकारामिप्रायः । अत एव वृत्तिकृता मगवता वीधायनेनापि
'मूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' [३० सू० १।३।८] इति सूत्रव्याख्याने
प्रत्यगात्मन ऊर्ध्वमुपदेशादित्येवोक्तं न तु मुख्यप्राणादूर्ध्वमिति वेदना-
जनकस्यापारलक्षणहिंसाया वेदनाशून्येऽचेतनेऽसंभवाच्च ।

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्यान

एवं विजानन्नतिवादी भवति ।

पूर्ववाक्ये प्राणशब्दनिर्दिष्टः स वैष जीवः स्वात्मानमुक्तेन प्रकारेण
मन्यान्तौ भग्नविषयीकुर्वन्ननेन प्रकारेण विजानन्नपासीनश्च संस्तेन
प्रकारेण पश्यन्साक्षात्कुर्वन्नतिवादी भवति । अतिक्रान्तस्योपास्यव-
स्तुवादी भवति स्वोपास्यवस्तुनः सर्वोत्कृष्टत्ववादी भवतीत्यर्थः । बृह-
स्पतिसमप्रत्यर्थिजनाप्रतिमाधायकस्वोपास्यदेवतापारम्पवादशीलत्वम-
तिवादित्वम् । तद्योपास्यदेवतातिशये पर्यवस्यति । एवं पश्यन्नेवं मन्यान
इत्यादी 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति हेत्वर्थे शत्रुप्रत्ययः । ततश्च स्वोपा-
स्यदेवतासाक्षात्कारोऽतिवादित्वे हेतुरित्यर्थः । साक्षात्कारप्रीतस्योपास्य-
देवतानुग्रहादीवृक्षप्रतिवादित्वं भवतीति भावः । अत्र स वा एष एवं
पश्यन्नेवं मन्यान इति वाक्येन पूर्वसंदर्भनिर्दिष्टस्य प्राणस्य द्रष्टृत्वमन्तु-
त्यादिकथनादपि प्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव इत्ययसीयते । प्राणशब्दनि-
र्दिष्टस्य जीवत्वज्ञापनापेक्ष हि स वा एष इति पदयोः प्रवृत्तिरिति
द्रष्टव्यम् ।

तं चेद्ब्रूयुरतिवायसीत्यतिवाय-

स्मीति ब्रूयान्नापहनुर्वात ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

प्राणशब्दितस्य जीवस्य पूर्वोक्तनामाद्याशान्तसंवांतिशापित्यादेपा-
तिवादित्वं नापह्नोतस्यमिति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

सितव्यमिति निर्देशः । उत्तरस्यापि विजिज्ञासितव्यपदस्य संपाद्यत्वमे-
वार्थः । उक्तं च व्यासार्थैः—सत्यव्यतिरिक्तविषयाणि विजिज्ञासित-
व्यपदानि संपाद्यवाचीनीति । शिष्यस्तदग्न्युपगच्छति—

विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

हे भगवन्नतिवादित्वनिमित्तं साक्षात्कारं संपादयामीत्यर्थः । पूर्वखण्डे
'सत्यं त्वेष विजिज्ञासितव्यमिति' इति ब्रह्मोपासनस्यातिवादित्वहे-
तुत्वकथनावृत्तं च वाक्ये साक्षात्कारस्यातिवदनहेतुत्वकथनावृत्तं ब्रह्मोपास-
नतत्साक्षात्कारयोर्द्वारद्वारिभावापन्नयोरेवातिवादहेतुत्वं सिध्यति । एत-
त्सर्वमभिप्रेत्य भगवता भाष्यकृता—ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्व-
सिद्ध्ये परब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनं सत्यं त्वेष विजिज्ञा-
सितव्यमित्युपदिश्येति भाषितम् । केचित्तु—सत्यं त्वेष विजिज्ञासित-
व्यमिति विहितं साक्षात्कारहेतुभूतं विज्ञानमेव यदा वै विजानात्यथ
सत्यं वदतीति खण्डेनापि निर्दिश्यते न तु साक्षात्कारः, एवं च सति
सत्यं त्वेष विजिज्ञासितव्यमिति ब्रह्मोपासनमुपदिश्य तदुपायभूतं ब्रह्म
मननं मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येत्युपदिश्येति भाष्यमपि स्वरसमिति
वदन्ति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजा-
नाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासि-
तव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्या-

ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

पास्यमित्यर्थः । ब्रह्मोपासनमतिवादित्वहेतुरिति यावत् । शिष्यस्तद-
भ्युपगच्छति—

सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

विजिज्ञास उपासनं करोमीत्यर्थः ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

ब्रह्मोपासनस्यातिवादित्वहेतुत्वं ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारेत्याह—

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति ।

अत्र विजानातिशब्दः साक्षात्कारपरः । यदा वै साक्षात्करोति तदा
सत्यं वदति सत्येनातिवदतीत्यर्थः । पूर्वं च सत्येनातिवदानीति निर्दिष्टत्वा-
त्सत्यशब्दितस्य ब्रह्मणोऽतिवदनं प्रति निमित्तत्वेन करणत्वविवक्षया
तृतीयाया वदनं प्रति कर्मतया द्वितीयाया अप्युपपत्तेः । 'स वा एष
एवं पश्यन्नेवं मन्वान एव विजानन्नतिवादी मयति' इति साक्षात्का-
रमननोपासनानामतिवादित्वनिमित्ततया पूर्वश्लोक्तत्वात् । 'सत्यं त्वेव
विजिज्ञासितव्यमिति' इत्युपासनस्योक्तत्वात् । 'मतिस्त्येव विजिज्ञा-
सितव्येति' [छा० ७ । १८ । १] इति मननस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।
अत्र विजानातीत्यनेन साक्षात्कार एषोच्यते । उक्तं च व्यासार्थैः—
विजानातिशब्दः साक्षात्कारपरः न तु शास्त्रजन्यज्ञानपरः । 'यदा
वै मनुतेऽथ विजानाति' [छा० ७ । १८ । १] इति विजानात्य-
र्थस्य मननसाध्यत्वावगमात् । सत्यं वदति सत्यमतिवदतीत्यर्थ इति ।

नाविजानन्सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं

वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ।

साक्षात्कारभावे नातिवादित्वम् । अतः साक्षात्काररूपं विज्ञानं
विजिज्ञासितव्यं संपाद्यमित्यर्थः । पाकं पचतीति यद्विज्ञानं विजिज्ञा-

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्ति-
ष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजि-
ज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्यै-
कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

उद्योगप्रयत्नापरपर्याया श्रोतव्यान्तरेषु हेयत्वानुसंधानेन मनसो निय-
मनरूपा कृतिर्ब्रह्मैव श्रोतव्यमिति व्यवसायलक्षणनिष्ठाहेतुत्वात्संपाद्ये-
त्यर्थः ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्यै-
कविंशः खण्डः ॥ २१ ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा
करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञा-
सितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

उक्तलक्षणायाः कृतेर्ब्रह्मणि निरतिशयानुकूलत्वाद्यगममन्तरेणासंम-
याच्छ्रोतव्यान्तरेषु हेयत्वानुसंधानाहितमनोनियमनरूपकृतिहेतुत्वात्-
त्यन्तानुकूलत्वलक्षणं सुखत्वं ब्रह्मणि ज्ञातव्यमित्यर्थः । अत्र च श्रवण-
मननश्रद्धादेः प्रागेव सुखप्राप्त्यसंभवात्प्राप्त्वर्थस्यापि लभतेर्ज्ञानमेवार्थः ।
ज्ञानस्यापि प्राप्तिरूपत्वात् । श्रोतव्येऽत्यन्तानुकूलज्ञानाभावे श्रोतव्यान्त-
रेषु हेयत्वानुसंधानाहितमनोनियमनरूपकृतेरसंभवात् । अत्यन्तानुकूलत्वं
श्रोतव्ये ब्रह्मणि ज्ञातव्यमिति भावः । अत्रत्यविजिज्ञासितव्यशब्दस्य
ज्ञातव्यत्वमर्थः । नोपासितव्यत्वं संपादनीयत्वं वा ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
द्वाविंशः खण्डः ॥ २२ ॥

ब्रह्मोपासनोपायभूतं मननं संपाद्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्या-
ष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

यदा वै श्रद्धात्यथ मनुते नाश्रद्धधन्म-
नुते श्रद्धपदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासित-
त्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्यै-
कोनविंशतितमः खण्डः ॥ १९ ॥

अत्र च भाष्यकृता—अयणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य मननोपदेशेन अय-
णमप्यर्थसिद्धं भवति अयणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धां श्रद्धा त्वेव विजि-
ज्ञासितव्येत्युपदिश्येति भाषितम् । तत्र अयणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धा-
मित्यनेन ब्रह्मअयणविषयिणी श्रद्धा विवक्षिता । श्रद्धा च त्वेति
व्यासार्थव्याख्यातम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्यै-
कोनविंशतितमः खण्डः ॥ १९ ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धाति नानिस्तिष्ठन्श्रु-
द्धाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धाति निष्ठा त्वेव विजि-
ज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
विंगानितमः खण्डः ॥ २० ॥

एतद्वाक्यप्रस्तुतयोर्मूलात्पशब्दयोरर्थं जिज्ञासमानं प्रत्याह—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्य-
द्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्य-
त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् ।

यत्रेत्यनुभूयमान इत्यध्याहारः । यत्र वस्तुन्यनुभूयमाने ततोऽन्यन्न
दृश्यते न श्रूयते न विज्ञायते च स भूमेत्यर्थः । यस्मिन्दृश्यमाने ततोऽ-
न्यन्न दृश्यते यस्मिन्श्रूयमाणे ततोऽन्यन्न श्रूयते यस्मिन्विज्ञायमाने
ततोऽन्यन्न विज्ञायते स भूमेत्यर्थः । यद्वा सप्तम्या विषयत्वमर्थः । पश्य-
न्नित्यध्याहारः । ततोऽन्यन्न पश्यतीत्यर्थः । अत्र तदितरस्य दर्शनाद्य-
भावो विषयाभावकृतः । ततश्च यतोऽन्यन्नास्ति स भूमेति पर्यवसि-
तोऽर्थः । ननु चेतनाचेतनवर्गस्य तद्भिन्नत्वात्कथं भूम्नोऽन्यन्नास्तीत्यु-
च्यते । न च चिदचिद्विशिष्टस्यैव भूमग्रहशब्दार्थत्यागिदचितोरपि त-
वान्तर्भावात्तदन्पन्नेति निषेधः शक्यते कर्तुमिति याच्यम् । विशेषण-
भूतपोश्चिदचितोर्भूमग्रहशब्दार्थमूलाद्विशिष्टादन्यत्वेन ततोऽन्यन्नास्तीति
निषेधस्यायुक्तत्वात् । अत एव जगद्वैश्वर्यविशिष्टमनुभवस्तदतिरिक्तं
यस्तु न पश्यतीत्यपि न युक्तम् । ऐश्वर्यविशिष्टादीशितव्यस्य भिन्नत्वात् ।
सार्वभौमविशिष्टतयाऽवशिष्टमनुभवस्तदतिरिक्तं न पश्यतीत्यपि न युक्तम् ।
सुशक्ततया विशिष्टस्यापि भूमत्वप्रसङ्गः । किंच 'अथात आदेशः' [बृ०
२।३।४] इति भूम्न एवाऽऽत्मत्वस्योपदेक्षमाणत्वात्, 'तरति शोकमात्म-
वित्' [छा० ७।१।३] इति प्रस्तुतस्याऽऽत्मोपदेशस्य भूम्निपर्यवसानाच्च
भूम्न आत्मत्वमवर्जनीयम् । न हि चिदचिद्विशिष्टस्याऽऽत्मत्वमस्ति विशेष-
णस्यैवान्तः प्रविश्य निषन्तृत्वेनाऽऽत्मत्वात् । अतश्च तस्यैव भूमत्वं
वक्तव्यम् । न चेदं लक्षणं संभवति तद्वतिरिक्तस्य वस्तुनः सत्त्वादिति
चेदुच्यते । ब्रह्मशब्दवद्भूमशब्दस्यापि वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमेवार्थः ।
वस्तुपरिच्छेदो नामेदमिदं नेति निर्देशार्हत्वम् । तद्वाहित्यं स्वरूपाभे-
दाद्वा भवेत्तदपृथक्सिद्धत्वाद्वा भवेत् । तत्र जीवजहयोरीश्वरामेदाभावा-
त्तदपृथक्सिद्धसत्ताकत्वमिति फलति । तत्र द्वेषा घटते तत्सत्ताव्यति-
रिक्तसत्ताशून्यत्वाद्वा ।

यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यते ।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति
भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य
इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥१॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य
त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

भूमशब्दो हि बहुत्ववाची । बहुशब्दात्पृथ्वादित्वादिमनिचि बहोर्लोपो
सू च बहोरिति प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे च सति तन्निष्पत्तेः । बहुत्वं चात्र
वैपुल्यं न संख्याविशेषः । बहुशब्दस्य बहुषु बहुवचनमित्यादौ संख्याया-
मिव 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः' इत्यादावल्पत्वप्रतियो-
गिनि वैपुल्येऽपि प्रयोगवर्धनाविहापि नाल्पे सुखमस्तीत्यल्पत्वप्रतिद्वंद्वि-
तयैव भूमशब्दप्रयोगाच्च वैपुल्यमेवार्थः । वैपुल्यं च गुणोत्कर्षरूपं न तु
परिमाणरूपं सुखशब्दसामानाधिकरण्यात् । न हि सुख उत्कर्षवत्परि-
माणं प्रसिद्धमस्ति । अत उत्कर्षकृतवैपुल्यमेवेह भूमशब्देन विव-
क्षितम् । अत एव न वैपुल्यरूपधर्मपरो भूमशब्दः । सुखस्य वैपुल्यरूप-
त्वाभावात् । अल्पत्वप्रतियोगितया निर्देशाच्च । न ह्यत्र योत्तरत्र वाऽल्पत्वं
भूमप्रतियोगितया निर्दिश्यतेऽपि त्वल्पत्वमेव । अतोऽल्पशब्दप्रतियोगितया
प्रयुज्यमानो भूमशब्दो वैपुल्याश्रयधर्मिपर एव । ततश्चायमर्थः—पदुत्कृष्टं
विपुलं तदेव सुखम् । अत्यन्तानुकूलमित्यर्थः । नाल्पे सुखमस्ति । सुखं
सुखत्वम् । अत्यन्तानुकूलत्वमित्यर्थः । 'अपशवो वाऽन्ये गोश्वेभ्यः'
इत्यत्र गवाश्वव्यतिरिक्तेऽजादौ पशुत्वनिषेधस्य पशस्तपशुत्वनिषेधपरत्व-
वदल्पे प्रत्यगात्मसुरे सुखत्वनिषेधस्य पशस्तसुखत्वनिषेधपरत्वात्, पूर्व-
राण्ड एव सुराशब्दस्यात्यन्तानुकूलार्थतया व्याख्यातत्वात्, ततश्च भूम-
मित्रस्य सुखत्वाभावात्, सुरात्वादेव हेतोर्भूमत्वमप्यस्तीति ज्ञातव्य-
मित्यर्थः । एतत्सर्वं भाष्येऽपि स्पष्टम् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
त्रयोविंशः खण्डः ॥ २३ ॥

हिरण्यदासभार्यादिलक्षणे प्रतिष्ठित इत्यभिप्रायं शिष्यो गृह्णीयात् ।
अथ वा स्वशब्दस्य स्वात्मपरतयाऽऽत्माधार इत्यभिप्राय इति वा वाक्या-
भिप्रायं बुध्येत । न च तदुभयमपि संभवति । परमात्मन उभयविभू-
तिलक्षणात्मीयमहिमसद्भावेऽप्यनाधारस्य परमात्मनस्तत्प्रतिष्ठितत्वासं-
भवात् । न ह्यतिशिक्षितोऽपि नटपटुः स्वस्कन्धमारुह्य नरीनर्ताति-
न्यायेन स्वस्य स्वाश्रितत्वासंभवाच्च । अतो न द्वयमपि युज्यते । अतः
शिष्यस्य सा बुद्धिर्निर्वर्तनीयेति मत्वा पुनराह—

यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

यदि वा स्वविषयित्वानाधारत्वाभिप्रायातिरिक्ते पूर्वोक्तपक्षद्वये त्ययाऽऽ-
शङ्किते न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति ब्रूम इत्यर्थः ॥ १ ॥

तद्विवृणोति—

गोअश्वमिह महिमेत्याक्षते हस्तिहि-
रण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यापतनानीति ।

गोअश्वमित्यादौ द्वंद्वैकवद्भावः । आपतनानीतीतिशब्दः प्रकारघटनः ।
एवंजातीयकानीत्यर्थः ।

नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाच ।

तत्र प्रतिष्ठितत्वं न ब्रवीमीत्यर्थः । उक्तं च व्यासार्थैः 'अस्य महिमा-
नमिति व्रीतशोकः' [मु० ३ । १ । २] एतां विभूतिं योगं चेत्यादि-
श्रुतिस्मृतिषु परमात्मनो महिमवत्त्वावगमात् । यदि वा न महिम्नीति न
महिमनिषेधः । अपि तु विभूतिरूपमहिमप्रतिष्ठितत्वनियेधोऽवगम्यत
इति । अथ स्वरूपमहिमप्रतिष्ठितत्वं निषेधति—

अन्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

न स्वस्य स्वप्रतिष्ठितत्वं संभवतीति भावः ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य
चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

इति स्मृत्यनुसारेण तदधीनसत्ताकत्वाद्वा भवेत् । तत्र तत्सत्ताव्यति-
रिक्तसत्ताशून्यत्वमपि सत्तारूपविशेष्याभावेन मिथ्यात्वाद्वा भवेत् ।
तत्सत्ताभिन्नसत्ताकत्वेन सत्ताव्यतिरिक्तत्वरूपविशेषणाभावाद्वा भवेत् ।
तत्र सत्ताशून्यत्वं सकलप्रमाणविरुद्धं नाम्युपगमार्हम् । तथैव तत्सत्ता-
भिन्नसत्ताकत्वमपि नाम्युपगमार्हम् । अपि तु तत्सत्ताधीनसत्ताकत्वमेव ।
एवंविधस्यापृथक्सिद्धत्वस्य सिद्धान्तेऽभ्युपगतत्वान्नानुपपत्तिः । 'अंशो
नानाव्यपदेशात्' [ब्र० सू० २ । ३ । ४३] इत्यत्रापृथक्सिद्धत्वलक्ष-
णांशस्याभेदव्यपदेशनिर्याहकत्वोक्तेः स्वनिष्ठत्वलक्षणभरणमिह सत्ता-
शब्दार्थः । उक्तं च हरिणा—

‘आत्मानमात्मना विभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते ।’

इति चेतनाचेतनयोरात्मभरणलक्षणसत्ता परमान्मसत्ताधीनेत्यर्थः ।
ततश्च यत्र नान्यदित्यस्यापि यत्सत्तानधीनसत्ताकं नास्ति यद्-
नात्मकं नास्तीत्यर्थपर्यवसानान्नानुपपत्तिः । यद्वा ‘समाने पूर्ववत्त्वात्’
[जै० ७ । १ । २ । १३] इति साप्तमिकाधिकरण इतरादिसर्वनाम-
शब्दानां पूर्वनिर्दिष्टसदृशवाचित्वस्य व्यवस्थापिततया नान्यतोऽस्ति
द्रष्टेत्यादिवाक्येष्विव यत्र नान्यत्पश्यतीति वाक्येऽपि समानान्यनिषेधपर-
त्वाश्रयणान्नानुपपत्तिः । उक्तलक्षणकभूमविपरीतलक्षणमल्पमित्यर्थः ।

यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

उक्तलक्षणो भूमैवामृतम् । जननमरणादिशून्यं नित्याविर्भूतानन्या-
धीनापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमिति यावत् । इतरस्यनीदृशम् । नित्यमु-
क्तादीनामप्यनन्याधीनतादृक्त्वाभावाच्च वाक्यार्थानुपपत्तिरिति द्रष्ट-
व्यम् । सर्ववस्तुनामाधारसापेक्षत्वं दृष्ट्वा श्लिष्यः पृच्छति—

स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ।

उत्तरमाह—

स्वे महिम्नि ।

इति । स्वस्वरूपमहिमाधारकः । ‘स्वयं दासास्तपस्विनः’ इति-
पदनाधार इत्यभिप्रायः । उक्ताभिप्रायेणाऽऽचार्यः स्वयमुक्त्वा स्वशब्द-
स्याऽऽत्मात्मीयवचनत्वादात्मीये नियाम्यतया महिमभूते गवाश्वहस्ति-

पद्यत इति दर्शयन् ' तरति शोकमात्मावित् ' इति प्रकान्तमात्मत्वोपदेशं
भूमि समापयति—

अथात आत्मादेशः ।

अत्रापि क्रियत इति शेषः । अथशब्दः प्रकृतविषयत्वद्योतनार्थः ।
आत्मादेश आत्मत्वोपदेशः क्रियत इत्यर्थः ।

आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ता-
दात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद* सर्वमिति ।

सर्वात्मतयोपविश्यमानो भूमा स्वोपासकस्याऽऽत्मैवेत्यर्थः । ततश्च
तद्गार्हपत्यद्विशब्दयोर्धातुव्यत्ययेति भावः । नन्वथात आत्मादेश इत्यात्म-
त्वोपदेशः प्रकृतभूमविषय इति कथमवतीर्यत इति चेन्न । भिन्नयोर्द्वयोः
सार्वात्म्यायोगेनैकविषयत्वस्यैव सिद्धत्वात् । ननु स एवाधस्तादित्य-
नेनैव सार्वात्म्यस्य सिद्धतयोपासकात्मत्वमपि सिद्धमेवेत्यथात आत्मा-
देश इत्युपदेशो व्यर्थ इति चेत् । सत्यम् । स एवेद* सर्वमिति सामाना-
धिकरण्येनाऽऽत्मत्वं फलति । अथापि कण्ठोक्तयोपासकात्मत्वसिद्ध्यर्थं
विशिष्य कण्ठोक्त्योपदेशः । न चाथात आत्मादेश इति सामान्योक्ति-
रुपासकं प्रत्यात्मत्वोपदेश इति विशेषे किं नियामकमिति वाच्यम् । ' एवं
विजानत आत्मतः प्राणः ' इति चिद्वदात्मनः प्राणाद्युपादानत्वेन सार्वा-
त्म्यस्योत्तरत्र प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । यस्त्वत्र परैरहंकारस्याऽऽत्मैक-
त्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य ' अथातोऽहंकारादेशः ' ' अथात आत्मादेशः ' इति
पृथगुपदेशो भेदार्थः, भूमात्मनोऽभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयोः पृथगु-
पदेश ऐक्यार्थः । द्वयोः सार्वात्म्यायोगादिति तदसारम् । अहमर्थादन्य-
स्याऽऽत्मतो भूमाख्यब्रह्माभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तयोः पृथगुपदेशो
भेदार्थः । अहमर्थस्य तु ब्रह्माभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तयोरुपदेश
ऐक्यार्थ इति वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वावित्यास्तां बिस्तरः ।

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मर-
तिरात्मकीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वरा-
द्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

रतिः स्रक्चन्दनादिजन्या प्रीतिः । कीडा , उद्यानादिजन्या । स्त्रीसं-
मया प्रीतिर्मिथुनम् । विभूतिजन्या प्रीतिरानन्दः । आत्मैव रतिर्यस्य

ननु यत्र नान्यत्पश्यतीत्यनुपपन्नं नानादिग्वर्तिनां चेतनाचेतनपदार्थानां भिन्नानामुपलम्भादित्यत्राऽऽह—

स एवाधस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चात्स पुरस्तात्स
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति ।

अत्र स एवेदं सर्वमिति सामानाधिकरण्यात्स इति निर्दिष्टस्य भूम्न इदं सर्वमिति निर्दिष्टस्य चिदचिद्गर्गस्य च शरीरात्मभावः फलितो भवति । शरीरात्मभावश्च द्याप्तिनिवन्धन इति स एवाधस्तादिति श्रुत्यभिप्रायः । ततश्च यत्र नान्यत्पश्यतीति तदनात्मकान्यनिषेधे नानुपपत्तिरिति भावः । एवं सर्वात्मभूतरथ भूम्न उपासने स्वशरीरकतयोपासनं कर्तव्यमित्युपदिशति—

अथातोऽहंकारादेशः ।

क्रियत इति शेषः । अथशब्दः प्रकृतविषयद्योतनार्थः । अहंकारोऽहं-
बुद्धिः । अहंग्रहेण भूम्न उपासनप्रकारः । अतः परमुपदिश्यत इत्यर्थः ।
न तु जीवन्मरूपोपदेश इति मन्तव्यम् । तथा सत्पहमादेश इति निर्दे-
शस्यैव युक्ततया कारपदवैषय्यात् । परमात्मनोऽहंग्रहेणोपासनप्रकार-
मेव दर्शयति—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ १ ॥

मर्धादिग्वर्तिमर्वात्मा भूमाऽहमेवेति ज्ञातव्यमित्यर्थः । न तु जीवस्य सर्वात्मकत्वमुपदिश्यत इति श्रमितव्यम् । जीवस्यातथात्वात्, तथात्वे फारशब्दवैषय्यस्थोक्तत्वाच्च । उक्तं च भगवता माप्यकृता-यन्तु अह-
मेवाधस्तादित्यादिना सर्वात्मकत्वमुपदिष्टं तच्छ्रमविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहं-
ग्रहेणोपासनमुपदिश्यते । अथातोऽहंकारादेश इत्यहंग्रहेणोपदेशोपक्रमा-
दिति, परमात्मनः प्रत्यगात्मशरीरकत्वज्ञानप्रतिष्ठार्थमहंग्रहेणोपासनं कर्तव्यमिति च ॥ १ ॥

नन्यहंनुद्दिशब्दार्थाजीवात्मविषययोः कथं भूमपर्यन्तत्वम्, अनहमर्थं च परमात्मन्यहंग्रहोपासनम्याय-यार्थत्वेमेव स्यादित्याशङ्क्य भूम्नः प्रत्यगात्मानं प्रत्यात्मत्वेन तद्विषयबुद्ध्यहंकाराणां परमात्मपर्यन्तत्वमुप-

आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्न-
मात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमा-
त्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो
वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मतः
कर्माण्यात्मत एवेदः सर्वमिति ॥ १ ॥

उपासकस्यान्तर्याम्येव प्राहृन्निर्दिष्टप्राणशब्दितजीवपर्यन्तसकलप्रप-
ञ्चोपादानमतोऽहमेवेदं सर्वमिति विहिताहंग्रहस्तात्त्विकविषय एवेति
भावः ॥ १ ॥

तदेव श्लोकः ।

तस्मिन्विषय एष वक्ष्यमाणः श्लोकः प्रवृत्त इत्यर्थः ।

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताः
सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमामोति सर्वं श इति ।

पश्यो ब्रह्मदर्शी मृत्युं मरणं रोगं दुःखसाधनं जगति प्रतिकूलतां च न
पश्यति सर्वसाक्षात्कर्ता सन्तसंकल्पमात्रेणैव संकल्पितानर्थान्सर्वस्मिन्काले
प्राप्नोतीत्यर्थः । अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकाविर्भावो भवतीत्यर्थः ।
अत्र जगति दुःखतां न पश्यतीत्युक्त्या जगतो मुक्तं प्रति प्रतिकूलत्वं
नास्ति । पित्तोपहतस्य पयःप्रतिकूलत्ववज्जगतः प्रतिकूलत्वं कर्तृकर्मनि-
बन्धनमित्युक्तं भवति ।

स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा
सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः
शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विश्रुतिः ।

आत्मनो निरवयवस्य त्रेधा पञ्चधा सप्तधेत्यादिविभागायोगात्संक-
ल्पपरिगृहीतानेकविधशरीरो भवतीत्यर्थः । एतं मोक्षसाधनभूतोपास-
नप्रकारमुपदिश्य तादृशोपासननिष्पत्तावन्तःकरणस्योपासनोत्तिप्रति-
बन्धकपापराहित्यमपेक्षितम् । तत्र राजसतामसाहारसेविनां न संभवति,
अपि तु तद्विद्विक्तसात्त्विकाहारसेविनां भवेदित्युपासकः सात्त्विकाहार-
सेवी भवेदित्युपदिशति—

स तथोक्तः । एवमुत्तरत्रापि । श्रवणमनननिदिध्यासनैरुक्तभूमात्मसाक्षात्कारनिष्ठस्य सर्वविधसुखानुभवोऽप्यात्मसुखानुभवान्तर्गत इत्यर्थः । स्वराद्, स्वयमेव राजा । अकर्मवश्यो विधिनिषेधकिं करो न भवतीति यावत् । 'अत एव चानन्याधिपतिः' [ब० सू० ४ । ४ । ९] इति सूत्रेऽत एव सत्यसंकल्पत्वादेव । अनन्याधिपतित्वं विधिनिषेधयोग्यत्वम् । विधिनिषेधयोग्यत्वे हि प्रतिहतसंकल्पत्वं भवेत् । अतः सत्यसंकल्पत्वश्रुत्येवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम् । अत एव स स्वराहभवतीत्युच्यत इति मापितम् । 'प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेत्' [ब० सू० ४ । ४ । १८] इति सूत्रे-अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान्त्रह्मविभूतिभूताननुभूय यथाकामं तुष्यतीति सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यस्य वाक्यस्यार्थ इति मापितम् ।

अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षप्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

य उक्तप्रकारादन्येन प्रकारेणोपासते तेऽन्यराजानो भवन्ति विधिनिषेधकिंकरा भवन्ति कर्मवश्या भवन्तीत्यर्थः । स्वरादित्यस्य प्रतिद्वंद्वित्याक्षप्यलोकाश्च भवन्तीत्यर्थः । अत्र क्षप्यलोका भवन्तीत्यनेन यथोक्तप्रकारेण परमात्मोपासकानामक्षप्यभगवत्पुरुषत्वमस्तीत्युक्तं भवति ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

अथात आत्मादेश इत्यनेनोक्तमुपासकान्तर्यामिणश्चेतनाचेतनसरुढप्रपञ्चोपादानत्वलक्षणसर्वात्मरुत्वं स्पष्टयति—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं
विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आगाऽऽत्मतः
स्मर आत्मत आवाग आत्मतस्तेज आत्मत

सनत्कुमारं स्कन्द इत्यपि वदन्तीत्यर्थः । स्पष्टोऽर्थः । द्विरुक्तिरध्याय-
समाप्त्यर्था । एतद्विषयकमधिकरणमुपन्यस्यते । अत्र मुक्तस्य देहेन्द्रि-
याणि सन्ति न सन्तीति विचारे—‘अभावं बादरिराह ह्येवम्’ [ब० सू०
४।४।१०] शरीरेन्द्रियाणामभावं बादरिराचार्यो मन्यते ‘न ह वै
सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति’ [छा० ८।१२।१] इत्येवं
श्रुतिराहेत्यर्थः । ‘भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्’ [ब० सू० ४।४।११]
मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादिसद्भावं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । विक-
ल्पामननात् । विविधः कल्पो विकल्पः । वैविध्यमित्यर्थः । ‘स एकधा
भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा’ [छा० ७।२६।२] इत्यादि-
श्रुतेः । आत्मन एकस्याच्छेद्यस्यानेकधामावासंभवाद्भिधामावाक्यः
शरीरेन्द्रियनिबन्धना इत्यवगम्यते । अशरीरत्ववचनं तु कर्मकृतशरीरा-
भावपरम् । ‘द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः’ [ब० सू० ४।४।१२]
संकल्पादेवेति पूर्वनिर्दिष्टः संकल्पोऽतःशब्देन परामुश्यते । अतः संक-
ल्पवशादेव मुक्तस्य संशरीरत्वाशरीरत्वलक्षणविधाद्वयमप्यस्ति संकल्पव-
शात्संशरीरोऽशरीरश्च भवतीति भगवान्बादरायणो मन्यत इत्यर्थः । द्वाद-
शाहवत् । यथा ‘द्वादशाहसृष्टिकामा उपेयुः’ ‘द्वादशाहेन प्रजाकामं
याजयेत्’ इत्युपेति यजति चोदनाभ्यां द्वादशाहस्य सत्त्वाहीनत्वरूपयि-
धाद्वयवत्त्वमेवमित्यर्थः । ‘तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः’ [ब० सू० ४।४।
१३] मुक्तस्य स्वतनुमवनादिभोगोपकरणसृष्टिसंकल्पाभावे स्वप्ने पर-
मात्मसृष्टेर्भोगोपकरणैर्यथा भोगान्भुङ्क्ते, एवं मुक्तः सत्यसंकल्पोऽपि पर-
मात्मसृष्टेर्भोगोपकरणैर्भोगाननुभवति । ‘भावे जाग्रद्वत्’ [ब० सू० ४।
४।१४] मुक्तस्य स्वभोगोपकरणतनुमवनादिसृष्टिसंकल्पत्वसत्त्वे यथा
जाग्रत्पुरुषः स्वाजितैर्भोगोपकरणैर्भोगाननुभवति, एवं मुक्तोऽपि स्वसं-
कल्पसृष्टेर्भोगोपकरणैर्भोगाननुभवति । नन्वणुपरिमाणस्य जीवस्य कथ-
मनेकशरीरेष्वात्माभिमानसंभवस्तत्राऽऽह—प्रदीपयदादेशस्तथा हि दर्श-
यति’ [ब० सू० ४।४।१५] यथा प्रदीपस्यैकदेशस्थितस्य स्वप्रमया
देशान्तरव्याप्तिः, एवमेकदेशस्थितस्याप्यात्मनो धर्मभूतज्ञानादहमित्या-
त्माभिमानानुगुणा सर्वदेशेषु व्याप्तिरुपपद्यते । तथा हि दर्शयति श्रुतिः-
‘बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । मागो जीवः स विज्ञेयः स
चाऽऽनन्त्याय कल्पते’ [श्वे० ५।११] आनन्त्याय धर्मभूतज्ञानकृतान-
न्त्यायेत्यर्थः । इयांस्तु विशेषः—ब्रह्मस्य कर्माधीनशरीरपरिग्रहो मुक्तस्य
तु स्थेच्छाप्रयुक्त इति । ननु ‘प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा
स्मृतिः स्मृतिलम्बे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।

इति । आहारशुद्धौ सात्त्विकाहारसेवने सति सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति । तन्नैर्मल्ये सति ध्रुवस्मृतिरविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपात्मध्यानं सिध्यति । ध्रुवस्मृतिलम्बे दुर्मोचतया ग्रन्थिशब्दवाच्यानामविद्यारागादीनां मोक्षो भवतीत्यर्थः । अत्र स्मृतिलम्ब एव सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इत्युक्त्या स्मृत्यनन्तरमाविना स्मृतिविलक्षणेन दर्शनेन न मोक्षः, अपि तु दर्शनसमानाकारस्मृतिसंतानेनैव । ततश्च 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्' [छ० ७ । १५ । ४] इत्यत्र पश्यन्नित्यादिशब्दा दर्शनसमानाकारोपासनपराः । प्रकरणान्तरस्थाः 'आत्मा या अरे द्रष्टव्यः' [घृ० २ । ४ । ५] इत्यादिशब्दाश्च दर्शनसमानाकारध्यानपरा इति सूचितं भवति । शास्त्रार्थमशेषत उक्त्वाऽऽख्यायिकामुपसंहरति श्रुतिः—

तस्मै मृदितकपायाय तमसः पारं

दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः ।

एवं शुद्धान्तःकरणाय नारदाय भगवान्सनत्कुमारः संसारसंतमसचण्डमानुभूतोपासनगोचरं परमात्मानं स्पष्टमुपादिक्षदित्यर्थः । अत्र नामादिषु ब्रह्मत्वेनोपदिष्टेष्वपि तत्र ब्रह्मत्वस्यानभ्युपगमात्तस्य मृदितकपायत्वं शिष्यस्य परिशुद्धान्तःकरणतयोपदेशयोग्यतां परीक्ष्यैवोपदिष्टवानित्यर्थः ।

तश्च स्कन्द इत्याचक्षते तश्च स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमप्रपाठकस्य

पञ्चविंशः स्रण्डः ॥ २६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदि सप्तमः प्रपाठकः

समाप्तः ॥ ७ ॥

दहरविद्या प्रस्तूयते—

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म ।

विद्यान्तरारम्भप्रदर्शनार्थोऽयमथशब्दः । उपास्यतया संनिहितस्य परब्रह्मणः स्थानतया नवद्वारादिमत्त्वादिना च पुरशब्दित उपासक-शरीरे पुण्डरीकाकारमल्पं हृदयाख्यं परस्य ब्रह्मणो वेश्म ।

दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्त्वस्मिन्यदन्तस्तदन्वे-

ष्टव्यं तद्वाच विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अस्मिन्वेश्मनि दहरः सूक्ष्म आकाशः । अत्र य इति पुंलिङ्गयच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । अस्मिन्यो दहर आकाश इत्यर्थः । तस्मिन्यदन्तरि-त्यत्रान्तःशब्दोऽन्तर्बर्तिपरः । चशब्दश्चाध्याहर्तव्यः । ततश्चायमर्थः—अस्मिन्दहरपुण्डरीके यो दहर आकाशस्तदन्तर्बर्ति च यत्तदुभयं श्रवण-मननाभ्यामवगन्तव्यं ध्यातव्यं चेत्यर्थः । तदन्वेष्टव्यमित्यत्र तदिति नपुंसकलिङ्गनिर्वेशो लिङ्गसामान्यविवक्षया ब्रह्मणः । यद्वा दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इति न पुंलिङ्गयच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । अस्मिन्ब्रह्मराकाशस्तदन्तर्बर्ति च यदिति यच्छब्देनैव नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति ह्योरपि परामर्शसंभूतनपुंसकैकशेषैकवच्चावेनैकेनैव नपुंसकलिङ्गेन द्वयोरपि परामर्शसंभवात् । तदन्वेष्टव्यमिति धाक्ये तच्छब्देऽपि नपुंसकैकशेषसंभवादेकैकैव तच्छब्देन द्वयोरपि परामर्शः । ततश्चानेन धाक्येन दहराकाशस्तदन्तर्बर्ति चान्वेष्टव्यमित्युक्तं भवति । उक्तं च भगवता भाष्यकृता—‘यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म’ इत्यनूद्य तस्मिन्दहरपुण्डरीकवेश्मनि यो दहर आकाशः, यच्च तदन्तर्बर्ति, तदुभयमन्वेष्टव्यमिति विधीयत इति । अत्राऽऽकाशशब्द आ समन्तात्काशते प्रकाशत इति व्युत्पत्त्या परमात्मपरः । तत्र च हेतुरुत्तरत्र वक्ष्यते । न च तदन्तर्बर्तिन एवान्वेष्टव्यत्वे प्रतीयमाने दहराकाशशब्दितस्याप्यन्वेष्टव्यतासिद्ध्यर्थमेतावान्क्लेशः किमर्थमाश्रीयते । किञ्च ‘विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रो भवति’ इत्यत्र पृष्ठगतसर्वताविध्याक्षिप्तपृष्ठविधिवद्दहराकाशान्तर्बर्तित्वेन गुणजातोपासनस्य दहराकाशोपासनमन्तरेणासंभवेनाऽऽक्षेपादेव दहराकाशोपासनस्यापि सिद्धतया यत्तच्छब्दयोर्नपुंसकैकशेषैकवच्चावचशब्दाध्याहार-केशानुभवो व्यर्थ इति वाच्यम् । ‘अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य यज-न्येताश्च सत्यान्कामान्’ [छा० ८ । १ । ६] इत्यौपसंहारिकोभयोपा-

वेद नाऽऽन्तरम्' [वृ० ४ । ३ । २१] इति मुक्तस्य ज्ञानामावप्रतिपाद-
नात्कथमेकेशरीरेष्वात्मा मिमानानुगुणज्ञानव्याप्तिस्तत्राऽऽह— 'स्वाप्न-
यसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' [वृ० सू० ४ । ४ । १६] 'न
बाह्यं किंचन वेद' [वृ० ४ । ३ । २१] इति ज्ञानामावश्रुतेः सुषुप्तिम-
रणान्यतरविषयत्वात्सुषुप्तिमरणयोर्निःसंबोधत्वस्य 'नाह सत्त्वयमेव संप्र-
त्यात्मानं जानाति' [छा० ८ । ११ । १] 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो मूतेभ्यः
समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' [वृ० २ । ४ । १२] इति श्रुतिभ्या-
माविष्कृतत्वात् । अनुविनश्यति न पश्यतीत्यर्थः । मुक्तस्य 'मनसैता-
न्कामान्पश्यन्नमते' [छा० ८ । १२ । ५] इति सार्वज्ञ्यस्याऽऽविष्कृतत्वा-
च्चेति स्थितम् । तथा च समन्वयाध्याये— 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृ-
णोति नान्यद्विजानाति स भूमा' [छा० ७ । २४ । १] इति निर्दिश्य-
मानो भूमा प्राणशब्दनिर्दिष्टजीव एव प्राणावूर्ध्वमस्ति भगवः प्राणा-
दभूय इति प्रश्नस्य बाधो बाध प्राणादभूय इति प्रतियचनस्य बाऽदर्शनेन
प्रक्रान्तात्मोपदेशस्य तत्रैव पर्यवसानात् । अतश्च सन्त्यपि ब्रह्मलिङ्गानि
तत्रैव यथाकथंचिद्योजयितव्यानीति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते 'भूमा संप्रसा-
दादध्युपदेशात्' [वृ० सू० १ । ३ । ८] भूमा परमात्मा । संप्रसादा-
ज्जीवादधिकृत्येन तस्योपदेशात् । 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय'
[छा० ८ । ३ । ४] इत्यत्र संप्रसादशब्दस्य जीवे प्रयुक्तत्वात्संप्रसादो
जीवः । 'एष तु या अतिवदति यः सत्येनातिवदति' [छा० ७ । १६ ।
१] इति सत्यनिमित्तकातिवादिनः प्राणशब्दनिर्दिष्टजीवातिवाद्यपेक्षया
तुशब्देनाधिकृत्येनोपदिश्यमानतयाऽतिवदननिमित्तस्य सत्यशब्दनिर्दिष्ट-
स्य प्राणशब्दिताजीवादधिकृत्यप्रतीतेन प्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवो भूमा ।
'धर्मोपपत्तेश्च' [वृ० सू० १ । ३ । ९] स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः स एवेदं
सर्वमित्यादिभिः प्रतिपादितस्वमहिमप्रतिष्ठत्वसर्वात्मकत्वादिधर्माणामा-
त्मतः प्राण आत्मत आकाश इत्यादिवाक्यसंसर्गप्रतिपादितप्राणशब्दित-
जीवप्रभृतिसकलप्रपञ्चोपादानत्वास्य प्राणशब्दिते जीवेऽमंभवाच्च भूमा
परमात्मैति स्थितम् ॥ २ ॥

इति षष्ठान्दोषोपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकस्य

पट्विंशः गण्टः ॥ २६ ॥

इति षष्ठान्दोषोपनिषत्प्रकाशिकायां सप्तमप्रपाठकः समाप्तः ॥ ७ ॥

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश
उभे अस्मिन्धावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभाव-
ग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसाबुभौ विद्युन्नक्षत्राणि ।

एवमुक्तः स आचार्यः प्रतिब्रूयात् । किमिति । हृदयपुण्डरीकमध्य-
वर्त्याकाशशब्दनिर्दिष्टो भूताकाशवादिपुलो धावापृथिव्यादिशब्दल-
क्षितं भोग्यभोगस्थानभोगोपकरणमग्निसूर्यादिशब्दलक्षितो मोक्षवर्गश्च
तदाधित इत्यर्थः ।

यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं
तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३ ॥

अस्योपासकस्येह लोके पञ्चोग्यजातमस्ति यच्च मनोरथमात्रगोचर-
मिह नास्ति सर्वं तञ्चोग्यजातमस्मिन्दहराकाशे समाहितमित्यर्थः ।
दहराकाशो निरतिशयभोग्य इति यावत् । उक्तं च भगवता भाष्य-
कृता—‘पावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः’ इति दह-
राकाशस्यातीव महत्तामभिधाय ‘उभे अस्मिन्धावापृथिवी अन्तरेव
समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसाबुभौ विद्युन्नक्षत्राणि’ इति
प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वजगदाधारत्वमभि-
धाय यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति’ इति पुन-
रप्यस्मिन्निति तमेव दहराकाशं परामृश्य तस्मिन्नस्योपासकस्येह लोके
पञ्चोग्यजातमस्ति यच्च मनोरथमात्रगोचरमिह नास्ति सर्वं तञ्चोग्य-
जातमस्मिन्दहराकाशे समाहितमिति निरतिशयभोग्यत्वं दहराकाशस्या-
भिधायेति भाषितम् । न च यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तद-
स्मिन्समाहितमित्यनेनोपासकभोग्यवस्त्वाधारत्वमात्रमुपास्यस्य प्रतीयते
न तु दहराकाशस्य निरतिशयभोग्यत्वम् । ततश्च यच्चास्येहास्तीति
वाक्येन दहराकाशस्य निरतिशयभोग्यत्वमभिधायेति भाष्यं कथमुपप-
द्यतामिति वाच्यम् । उपासकस्य ब्रह्मप्राप्त्येकफलकस्य स्वर्गपञ्चादीनां
भोग्यत्वामावात् ‘यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहित-
मिति’ इत्यनेन दहराकाशस्य निरतिशयभोग्यत्वमेव प्रतिपाद्यत इति
भाष्याभिप्राय इति व्यासार्थरुक्तत्वान्नस्याः शङ्काया अवकाश इति
दृश्यम् । केचित्तु ‘स यदि पितृलोककामो भवति’ [छा० ८ । २।१]

सनवचनानुसारेणास्य क्लेशस्यानुभोक्तव्यत्वात् । न च तदेव वाक्यं दह-
राकाशतदन्तर्बर्तिगुणोभयोपासनविधिपरमस्त्विति वाच्यम् । प्रक्रमस्य
विस्पष्टतव्यप्रत्यययुक्तं वाक्यं विहायौपसंहारिकस्य विस्पष्टविधिप्रत्यय-
शून्यस्य यच्छब्दयुक्तस्य विधित्वकल्पनानौचित्यात् । तस्य विधित्वक-
ल्पनायामप्यनुयादरूपस्याप्यस्य वाक्यस्य तदनुसारेणार्थद्वयोपासनपर-
त्वस्याऽऽश्रयणीयतया नपुंसकैकशेषादिक्लेशस्याऽऽश्रयणीयत्वात् । इति-
शब्दो वाक्यसमाप्तौ । अथ वा, इतीत्यस्यानन्तरमाचार्यो ब्रूपादित्व-
ध्याहारः ॥ १ ॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं
वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते
यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २ ॥

एवमुक्तवन्तमाचार्यं स्वल्पहृदयमध्यवर्तितयाऽतिस्वल्प आकाशे
किं वा वर्तिनुमर्हति, यदन्वेष्टव्यं स्यादिति दहराकाशशब्दितस्य ब्रह्मत्व-
तदन्तर्बर्तितया निर्विष्टस्य तद्गुणजातत्वं चाजानाना अन्तेवासिनो यदि
ब्रूपुरित्पथः । किं तदत्र विद्यत इति वाक्यं सर्वान्तरस्य परमात्मनोऽन्तर्ध-
त्यन्तरासंभवलक्षणानुपपत्तिगर्भान्तर्बर्तिविशेषप्रश्नपरमिति व्यासार्थाणा-
मभिप्राय इति यद्यपि प्रतीयते तथाऽपि 'यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं
पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्येतावन्मात्रं श्रुतयतां
शिष्याणां परमात्मत्वविरोधिन्वाकाशशब्दे जागरुके दहरत्वान्वेष्टव्या-
न्तराधारत्वाद्विषयोधिनिष्ठे च जायति ब्रह्मलिङ्गेषु चानुपपन्नस्तेषु
परमात्मत्वनिश्चयस्य वा तदुपजीव्याक्षेपप्रवृत्तेर्वाऽसंभवात्, सर्वान्तरस्य
परमात्मनोऽन्तर्धत्यन्तरासंभवलक्षणानुपपत्तेरेव शिष्याणां हृदि विपरि-
यर्तमानत्वे प्रश्नवाक्ये 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'
इति दहरपुण्डरीकान्तर्बर्तित्वेनाऽऽकाशस्य दहरत्वोपन्यासस्य वा प्रति-
पत्तेर्यत्र 'वायान्या अयमाकाशः' [छा० ८।१।३] इति धेपुत्योपन्या-
सस्य याऽऽश्रयतयापाताद्यासायाणामप्युक्त एवार्थोऽभिप्रेतः । केचित्तु
शरीरस्य ब्रह्मपुरत्येनोपक्रमादेव तदन्तर्बर्त्यांकाशशब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मेत्यव-
गम्येय तदन्तर्बर्तित्वन्तारागमयलक्षणानुपपत्तिरभिप्रेयन्त एवान्तर्बर्ति-
विशेषं पदच्छुरित्वापि संभवाद्भानुपपत्तिरिति पश्यन्ति ॥ २ ॥

कथमुत्थानम् । दहराकाशाश्रितत्वस्यैवोक्ततया ब्रह्मपुरशब्दितशरीराश्रित-
 त्वस्येहानुक्ततया तज्जरानाशानुविधायिजरानाशत्वस्य दहराकाशाश्रिते
 द्यावापृथिव्यादौ कथं प्रसक्तिरिति चेदुच्यते । यथा घटाद्यन्तराकाशे
 निहितस्य दध्पादेर्वस्तुतो घटाविरेव धारकः, आकाशः परमवकाशात्म-
 नोपकरोति, एवं देहान्तर्वर्तिनि दहराकाशे विद्यमानस्य द्यावापृथि-
 व्यादेर्देह एव धारकः । दहराकाशस्तु केवलमवकाशात्मनोपकरोति ।
 अस्तु वा दहराकाशस्य घटाद्याकाशवैलक्ष्येन स्वतो धारकत्वम् ।
 तथाऽपि तस्य देहजरामध्वंसानुपवृत्ताविजरामध्वंसत्वाद्यावद्देहस्य भार-
 धारणानुकूलं चलं तावत्पर्यन्तमेव दहराकाशस्य तद्धारकत्वमिति फलतो
 देह एव तस्य सर्वस्य धारकः पर्यवस्यतीत्याक्षिपतां शिष्याणामभि-
 प्रायः ॥ ४ ॥

स ब्रूयात् ।

आचार्यस्तत्प्रतिबक्ति ।

नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधे-

नास्यहन्यत एतत्सत्त्वं ब्रह्मपुरम् ।

भोग्यभोगस्थानभोगोपकरणमोक्तवर्गादिशालितया पुरमिव वर्तमा-
 नमेतद्दहराकाशाख्यं ब्रह्म न तु घटाकाशादिवत्केवलमवकाशात्मनोप-
 कारकम् । यथा पुरं भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानादीनां स्वत एवाऽऽ-
 कारकम् । यथा पुरं भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानादीनां स्वत एवाऽऽ-
 धारभूतं न ॥ दध्पादीनां घटाकाशादिवदवकाशात्मनोपकारकं तथे-
 त्यर्थः । ननु स्वतो धारकत्वेऽपि तद्देहान्तर्वर्तितया तदन्तर्गतद्वयवज्ज-
 रानाशानुविधायिजरानाशत्वं स्यादिति शङ्कायीजं परिहरति एतत्सत्त्व-
 मिति । सत्त्वं निर्विकारमित्यर्थः । अत एव न देहजरामरणानुविधायि-
 जरामरणकं भवतीत्यर्थः । यद्वा 'तद्यत्सत्तदमुतम्' [छा० ८।३।५]
 इत्यस्मिन्प्रकरणे वक्ष्यमाणसत्यशब्दनिर्वचनरीत्या चेतनाचेतननियाम-
 कत्वं वा सत्यत्वम् । यथाकथंचिद्घटाकाशादिविलक्षणाधार इत्यर्थः ।
 केचित्तु—'अस्मिन्ध्येदिदं ब्रह्मपुरे' इति प्रश्नवाक्ये ब्रह्मपुरशब्देन
 ब्रह्मरूपपुरत्वाद्दहराकाश एवोच्यते । यथैतज्जरा वाऽऽप्नोतीत्येव पाठः ।
 तत्र चैतस्य शरीरस्य जरा, एतज्जरा यदा दहराकाशं प्राप्नोति तदध्वंसेन
 ध्वंसते वा तदा द्यावापृथिव्यादिकं नावशिष्येतेत्येवार्थः । न तु

इत्यादिना प्राचीनानेकजन्मसंबन्धिपित्रादिवर्गदिदृक्षायाः संकल्पमात्रेण तत्प्रवृत्तस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्, सूत्रकृताऽपि 'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः, [व० सू० ४।४।८] इति सूत्रेण तद्वाक्यस्य विवक्षितार्थत्वाविष्करणात्, 'यो यो ह्यस्येतः प्रेति न तमिह दर्शनाय लभते' 'अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते' [छा० ८।३।१।२] इति नष्टानां पित्रादीनां मुक्तकामनाविषयत्वप्रतिपादनात्, 'प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः' [व० सू० ४।४।१८] इति सूत्रोक्तन्यायेन ब्रह्मविभूतितया नष्टपित्राद्यनुभवस्य कामनाविषयत्वसंभवाच्च, अन्यथा 'अस्मिन्कामाः समाहिताः' [छा० ८।१।५] एताश्च सत्यान्कामान्, [छा० ८।१।६] इत्यादावपि कामशब्दस्य निरतिशयमोग्यार्थकत्वं को वारयेत् । तथा 'जक्षन्कीबन्' [छा० ८।१२।३] इत्यत्रापि मोग्यत्वार्थकत्वमेव स्यादिति परोऽपि विजयेत् । अतोऽस्य वाक्यस्य यथाश्रुतार्थत्वेऽपि न दोषः, माप्यमपि मोग्याधारत्वफलितमोग्यत्वपरमेवास्त्विति वदन्ति । अत्र भूताकाशशब्दवैपुल्यप्रतिपादनेन द्यावापृथिव्यादिजगद्वाश्रयत्वप्रतिपादनेनोपासकं प्रति निरतिशयमोग्यत्वप्रतिपादनेन च बहुराकाशस्य प्रसिद्धाकाशवैलक्षण्यप्रतिपादनात्स्वल्पे बहुराकाशे किमपि मातुं न शक्नोतीत्याक्षेपबीजं परिहृतं भवति ॥ ३ ॥

तं चेद्वयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि
च भूतानि सर्वे च कामा यदेनञ्जरा वाऽऽप्नोति
प्रभ्वसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

अल्पस्वरूपमाक्षेपबीजं परिहृत्य 'किं तद्वन्न विद्यते' [छा० ८।१।२] इति प्रश्नं विवक्ष्यतेवाऽऽचार्य उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिं पश्यन्तः शिष्या यद्याचार्यं ब्रूयुः । किमिति । ब्रह्मपुरश्चक्षितं शरीरं द्यावापृथिव्यादिशब्दनिर्दिष्टमोग्यमोग्योपकरणमोग्यस्थानान्यग्रिवाप्यादिशब्दनिर्दिष्टो भोक्तृवर्गश्च यद्याश्रयेषुस्तदा शरीरस्य जरानाशादौ सति द्यावापृथिव्यादिकं किमपि नावशिष्येत तदपि नश्येदित्यर्थः । सर्वं च कामा इत्यस्य यद्यास्येहास्तीति वाक्यनिर्दिष्टनिरतिशयमोग्यत्वानुवादित्वात्, सर्वं च कामा इत्यस्य निरतिशयमोग्यत्वमर्थ इति व्यासार्थरुक्तम् । ननु बहुराकाशाभितं द्यावापृथिव्यादिकमिति वदन्तं प्रत्यस्याः शङ्कायाः

न कामनायाः सत्यत्वपरः । अमोघाशत्वस्य सत्यसंकल्पशब्देनैव सिद्ध-
त्वात् । नापि काम्यत इति व्युत्पत्त्या गुणमात्रपरः । कतिपयगुणान्त-
राणां पृथगुक्तेः । अतो भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपा नित्याः कामा
अस्य सन्तीत्युच्यते । 'तदक्षरे परमे व्योमन्' इत्युक्तनित्यविभूतिविशि-
ष्टत्वं सत्यकामशब्दार्थ इति व्यासार्थैरुक्तम् । वेदार्थसंग्रहे भाष्यकृताऽ-
प्युक्तम् । सत्यसंकल्पोऽप्रतिहतसंकल्पः ।

यथा ह्येवेह प्रजा अन्याविरान्ति यथानुशा-
सनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जन-
पदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

इह लोके प्रजा यथानुशासनं राजशासनानुल्लङ्घनेन राजानमन्वा-
विशन्त्यनुसरन्तीत्यर्थः । अनुसृत्य किं कुर्वन्तीत्यत्राऽऽह-यं यमन्तम-
भिकामा भवन्ति । कर्मणः फलापवर्गत्वात्फलमेव कर्मणोऽन्तः । यं
यमन्तं यद्यत्फलमभिकामा अभ्यर्थिनो भवन्ति जनपदक्षेत्रादिकं वा
कामयन्ते तत्तत्फलं यथाशासनमेवोपजीवन्ति । राजशासनानुलोधेनैवेह
लोके यथोपजीवन्ति तथा परलोकेऽपि परतन्त्रा एव भवन्तीत्यर्थः ।
यद्वा यं यमन्तमभिकामा भवन्ति तं तमिह लोके यथा प्रजा अन्यावि-
शन्ति राजानमनुसृत्य लभन्ते तथा परलोकेऽप्युपजीवन्तीत्यर्थः । अय-
मेवार्थो व्यासार्थैर्दर्शितः ॥ ५ ॥

एवं कर्मसाध्ये परलोके पारतरूपमुक्त्वा क्षयिष्णुत्वमप्याह-

तथथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एव-
मेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।

राजसेवादिकर्मणा चितोऽर्जितो लोको यथा क्षीयत एवमेव परलो-
केऽपि पुण्यसंपादितो लोकः क्षीयते ।

तय इहाऽऽत्मानमननुविद्य ब्रजन्त्येताश्च सत्यान्का-
मास्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ।

यस्मात्सुकृतसाध्येषु परलोकेषु पारतरूपक्षयिष्णुत्वादिकं तस्माद्य
उक्तमात्मानमेतानपहतपाप्मत्वादीनितांश्च सत्यान्नित्यान्काम्यमानान्क-

मत्प्रपुरशब्देन शरीरपरामर्शमभ्युपेत्य तदनुगुणेतादृशाभिप्रायपरिकल्प-
नाङ्गेशोऽनुसर्तव्य इति वदन्ति । एवं मध्ये प्रसक्तमाक्षेपं परिहृत्य 'किं
तदत्र विद्यते' इत्यन्तर्वर्तिविशेषजिज्ञासां क्षमयति—

अस्मिन्कामाः समाहिताः ।

काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः । को बहुराकाशः । स च कैः
कामैर्विशिष्ट इत्याकाङ्क्षायामाह—

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको
विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।

उक्तं च भगवता माय्यकृता—बहुराकाशस्य काम्यभूतकल्याणगुण-
विशिष्टत्वं तस्याऽऽमत्वं च एष आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिना सत्यसंकल्प-
इत्यन्तेन स्फुटीकृत्येति, पापजरामरणशोकषुमुक्षापिपासावर्जितः सत्य-
कामः सत्यसंकल्पश्चेत्यर्थः । परमात्मप्रकरणेषु पापशब्दः सुकृतसाधा-
रणः । 'न सुकृतं न दुष्कृतः सर्वे पाप्मानोऽतो नियतन्ते' [छा० ८।४
१] इति सुकृते पापशब्दप्रयोगात् ।

एते धे निरपाप्मास्त ध्यानस्य परमात्मनः ।

राकाशः परमात्मा । वाक्यशेषगतभूताकाशोपमेयत्वसर्वाधारत्वनिरति-
 शयमोग्यत्वनिरुपाधिकापहतपाप्मत्वादिगुणानां परमात्मव्यतिरिक्तभूता-
 काशेऽसंभवात् । परमात्मनोऽप्यपहतपाप्मत्वादिलक्षणाव्यव्यान्तराधा-
 रत्वसंभवाच्च । न च गगनं गगनाकारमितिवदमेदेऽप्युपमानोपमेयभावोऽ-
 स्त्विति वाच्यम् । गगनं गगनाकारमित्यादावमेदे सादृश्यं निबध्यमानम-
 नन्वितत्वादनुपमकत्वफलकं सदनन्वयालंकाररूपम् । न चेह तथा संभ-
 वति । 'यावान्वा अयमाकाशः' इति वाक्ये बाह्याकाशत्वहार्दाकाश-
 तारूपोपमानोपमेयतावच्छेदकधर्मभेदसत्त्वेनानन्वयस्यासंभवात् । उप-
 मानोपमेयतावच्छेदकधर्मैक्ये ह्यनन्वयालंकारो यथा गगनं गगनाकार-
 मित्यादौ । यद्योक्तमतिविपुलस्य ब्रह्मणः परिच्छिन्नभूताकाशो-
 पमेयत्वं न संभवतीति । तन्न । अधिकजवेऽपि सवितरीपुवद्वृच्छति
 सवितेति गतिमान्धनिवृत्तिपरवचनयस्त्वल्पत्वनिवृत्त्यर्थतया भूता-
 काशसादृश्यकथनस्योपपत्तेः । यदुक्तमाकाशशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्ध-
 त्वादिति तत्राऽऽह— 'प्रसिद्धेश्च' [अ० सू० १ । ३ । १७] 'यदेव
 आकाश आनन्दो न स्याद' [तै० २।७ । १] इति परमात्मन्यप्याका-
 शशब्दस्य प्रसिद्धत्वात् । यदुक्तं परमात्मनोऽल्पपरिमाणत्वं नोपपद्यत
 इति तत्राऽऽह— 'अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्' [अ० सू० १ । ३ । २१]
 शाण्डिल्यविद्यायाम् 'निवाप्यत्वादेवं व्योमवच्च' [अ० सू० १ । २।७]
 इति सूत्ररूपेणोपासनार्थं विपुलस्याल्पत्वोपदेश उपपद्यत इति पूर्वमे-
 वोक्तमित्यर्थः । तथा 'प्रदानवदेव तदुक्तम्' [अ० सू० ३ । ३ । ४३]
 इत्यत्र इहाऽऽत्मानमनुविद्य यजन्ति इति दहराकाशोपासनमुक्त्यैतांश्च
 सत्यान्कामानित्यपहतपाप्मत्वादिगुणानामुपासनस्य पृथगास्त्रानादपहत-
 पाप्मत्वादिगुणोपासनदशायां न धर्मिस्यरूपं चिन्तनीयम् । ततश्च प्रथमं
 दहराकाशाख्यं धर्मिस्यरूपमनुसंधाय तस्यापहतपाप्मत्वविजरत्वविमृत्यु-
 त्वविशोकत्वविजिघत्सत्वापिपासत्वसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्यरूपाः कामा
 इत्येव चिन्तनीयम् । न त्वपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघ-
 त्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प इति गुणाश्रयस्य गुणिनोऽपि चिन्त-
 नमिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते— 'प्रदानवदेव तदुक्तम्' [अ० सू० ३।३।४३]
 यद्यपि दहराकाश एवापहतपाप्मत्वादिगुणानां गुणी न च प्रथमं चिन्ति-
 तस्तथाऽपि स्वरूपमात्राद्गुणविशिष्टाकारस्य भिन्नत्वात्, प्रकृते चास्मि-
 न्कामाः समाहिता इति ब्रह्मणि कामसमाधानाधारत्वमुक्त्वा के ते कामा

ल्याणगुणांश्चानुपास्य परलोकं व्रजन्ति तेषां सर्वलोककामचारो न भवति पारतन्त्र्यमिति यावत् ।

अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताश्च सत्यान्का-
मास्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

ये त्यात्मानमपहतपाप्मत्वादींश्च काम्यमानान्कल्याणगुणानुपास्य परलोकं व्रजन्ति ते ब्रह्मविभूतिभूतान्विकारलोकाननुभूय यथाकामं वृत्ता न पारतन्त्र्यमनुभवन्तीत्यर्थः । नन्वपहतपाप्मेत्यादिवाक्येष्वपहतपाप्मत्वाविधर्माणां स्वातन्त्र्येणानुपस्थितानां कथमेतान्तिष्यनेन परामर्शः । न च गत्यभावात्तेषामेव परामर्श इति वाच्यम् । 'यच्चास्येहास्ति' [छा० ८. १. ३] इति वाक्ये निर्दिष्टस्य 'सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः' [छा० ८. १. ४] इति बहुवचनान्तकामशब्देनानूदितस्य निरति-
शयमोग्यत्वस्यैव 'अस्मिन्कामाः समाहिताः' 'एताश्च सत्यान्कामान्' इत्यत्रापि निर्देशोऽस्त्विति चेन्न । तथा सत्यपहतपाप्मा विजर इत्या-
द्युपन्यासस्य धेयार्थप्रसङ्गात् । कामानित्यस्य मोग्यत्वपरत्वे बहुवचना-
संगतेश्च । अपहतपाप्मत्वाद्य एव 'एताश्च सत्यान्कामान्' इति काम-
शब्देन निर्देशाः । मोग्यत्वहेतुपितृलोकादिविषयपरत्वे सत्या इति कामानां नित्यत्वकथनस्यासंभवादिति सिद्धम् । ततश्च 'दहरोऽस्मिन्न-
न्तराकाशः' इत्याकाशशब्दनिर्दिष्टः परमात्मा न भूताकाशः, तस्मि-
न्वदन्तरिति निर्दिष्टमपहतपाप्मत्वादिगुणजातमितीयता संदर्भेणोपदिष्टं भवति । एतत्प्रणटान्तर्गतवाक्यविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते—अत्र दह-
राकाशो भूताकाशः । आकाशशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः । व्यापके परमा-
त्मनि दहरत्यम्पामावाच । तस्मिन्वदन्तरित्यन्वेष्टव्यान्तराधारतया निर्दे-
शाच्च । न हि परमात्मनः स्वयमेवान्वेष्टव्यस्यान्वेष्टव्यान्तराधारत्वं संभ-
वति । पादान्श अथमित्यादिना निर्दिष्टमानभूताकाशोपमेयत्वस्य गगनं
गगनाकारमित्यादिवदभेदेऽप्युपपत्तेः । निरतिशयविपुले परमात्मन्यपि
पगिच्छिन्नभूताकाशोपमेयत्वस्याभ्यस्तत्वाच्च भूताकाशो दहराकाश इति
पूर्वपक्षे शाश्वत उपपत्ते— 'दहर उत्तरेणः' [अ० मृ० १. १. १४] दा-

संकल्पमात्रादेव सृष्टेर्न प्रयत्नान्तरसापेक्षा । कुतः । संकल्पादेव
 पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्येवकारश्रुतेः । न चैवकारस्यायोगव्यवच्छेदकत्वम-
 त्यन्तायोगव्यवच्छेदकत्वं वाऽर्थः । विशेषणक्रियासंगतेवकारयोरेवायो-
 गात्यन्तायोगव्यवच्छेदकत्वेनैतस्य चातथात्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वस्यैव
 युक्तत्वात् । 'अत एव चानन्याधिपतिः' [ब० सू० ४ । ४ । ९] एतच्च
 मूत्रं पूर्वमेव व्याकृतमिति पित्रादीनां संकल्पमात्रसाध्यत्वं स्थितम् ।
 प्रकृतमनुसरामः ॥ १ ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति संक-
 ल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन
 मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संक-
 ल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन
 भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संक-
 ल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन
 स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संक-
 ल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन
 सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति
 संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन
 गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ६ ॥

अथ ययन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्पान्नपाने
 समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति
 संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन

इत्याकाङ्क्षायां निष्कृष्यापहतपाप्मत्वं विजरत्वमित्यनुक्त्वाऽपहतपाप्मा
विजरो विमृशुरिति तद्विशिष्टविशेष्यपर्यन्ततया निर्देशादनेनैवाऽऽकारे-
णानुसंधानं कर्तव्यमिति श्रुतेराशय उच्यीयते । अतो वैशिष्ट्यानुसंधानार्थं
विशेष्यचिन्तनमप्यावर्तनीयं प्रदानवत् । तदुक्तं संकर्षे—नाना वा देवता-
पृथक्त्यादिति । तन्नानाप्रदानाधिकरणमित्यमस्ति । त्रेधा तथावि-
धेष्टिः । यथा 'हन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिरा-
जायेन्द्राव स्वराज्ञे' [तै० सं० २।३।६।१] इति त्रिपुरोडाशास्तत्र तेषां
पुरोडाशानामुपपुरुषार्थधिश्रयणं सर्वेषां युगपदवदानं च विहितम् । तेषां
पूर्वार्धावधदानं प्रकृतिवत्कर्तुं शक्यं तथाऽपि मध्यादवदानं कर्तुमशक्यम् ।
पुरोडाशानां मध्ये नलकप्रवेशाद्युपायेन मध्यादपि युगपदवदानं ग्राह्यम् ।
एवं स्थिते प्रदानमपि युगपत्कर्तव्यं क्रमेण वेति संशये 'तेषामपृथ-
क्प्रदानमवदानैकत्वात्' इति सूत्रेणावदानवत्प्रदानमपि युगपदव-
कार्यमिति पूर्वः पक्षः । तत्रेवं सिद्धान्तसूत्रम् 'नाना वा देवतापृथ-
क्त्वात्' इति । अथाणां यागव्रत्याणां भेदाद्विशिष्टरूपाणां देवतानां च
भेदाद्विमिश्रितव्यदेवतासंघन्धेः कल्पानां च यागानां तत्तद्देवतोद्देशेन
क्रमिकाणि प्रदानानि कर्तव्यानीति सूत्रार्थ इति स्थितम् । प्रकृतमनु-
सरामः ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः

समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते ॥ १ ॥

स मुक्तः सम्पदि प्राचीनानेकजन्मसंघन्धिपितृवर्गं द्रिष्ट्वेत तदा स
पितृवर्गं एतस्य संकल्पमात्रात्समुत्थितो भवति तेन सहितः पूज्यते ।
एतत्खण्डविषयकमधिकरणमुपन्यस्यते—अत्र मत्संकल्पत्वेन द्यवद्विप-
माणानामपि राजादीनामग्लितमृष्टेः प्रपत्नान्तरमापेक्षत्यदर्शनान्मु-
क्तस्यापि मिमृक्षितपितृलोकादिमुष्टिः संकल्पव्यतिरिक्तप्रपत्नान्तरसापे-
क्षेति प्रात उच्यते—'संकल्पाद्वा तु तत्पुत्रैः' [अ० मू० ४।१।८]

परमात्मानं प्राप्य लभते । अत्र 'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति' [छा० ८
३।१] इति वाक्यसमानार्थत्वादस्य वाक्यस्य वाक्यस्य मुक्तस्य सर्वतो
विरक्तस्य प्राप्यान्तरासंभवाच्चिरतिशयभोग्यत्वमेवार्थः ।

अत्र ह्यस्मैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः ।

यत उपासकस्य काम्यमाना भोग्यभूता अपहृतपाप्मत्वादय एत-
न्निष्ठाः पूर्वमनृतशब्दितकर्माच्छादिता इदानीं दहराकाशं प्राप्तस्याऽऽवि-
र्भवन्प्रतो निरतिशयभोग्यत्वमित्यर्थः । हिशब्दो हेत्वर्थः ।

तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संच-
रन्तो न विन्देयुरेषमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छ-
न्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्युदाः॥२॥

यथाऽधस्ताच्चिक्षिप्तं हिरण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा निधिमक्षेत्रस्यमावदिज्ञा-
नहीना निधेरुपर्युपरि संचरन्तोऽपि निधिं न लभन्त एषमेवेमाः सर्वाः
प्रजाः सुषुप्तिकालेऽहरहर्गच्छन्त्यः सुषुप्तौ 'सति संपद्य न विदुः' [छा०
६।१।२] इत्युक्तरीत्याऽविमर्शं गच्छन्त्य एतं दहराकाशाख्यं ब्रह्मरूपं
लोकं न विन्दन्ति न लभन्ते न जानन्तीत्यर्थः । ब्रह्मलोकशब्दो च
निषादस्यपतिन्यायेन समानाधिकरणी । तत्र हेतुमाह—अनृतेन हि
प्रत्युदा इति । प्रत्युदाः प्रतीपं नीताः स्वमायान्तरं प्रापिता आच्छादिता
इति यावत् । यद्वाऽहरहर्गच्छन्त्य इति न सुषुप्तिकालीनं गमनमुच्यतेऽपि
त्वन्तरात्मत्वेन सर्वदा वर्तमानस्य दहराकाशस्य हिरण्यनिधिवत्परम-
पुरुषार्थभूतस्पोपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानास्तमजा-
न्त्यस्तं न विन्दन्ति न लभन्त इत्यर्थः । अर्थद्वयमपि माप्यकृता
वर्णितं 'गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च' [ब० सू० १।३।१५]
इति सूत्रे । सूत्रस्य चायमर्थः—'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितम्' इत्य-
हरहः सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनाद्ब्रह्मलोकशब्दाच्च दहराकाशो ब्रह्मेत्यव-
सीयते । तथा ह्यन्यत्र सुषुप्तिकालीनगमनब्रह्मलोकशब्दो ब्रह्मविषया-
वेव दृष्टौ 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः'
[छा० ६।१।२] 'एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच' [बृ० ४।३।३३]
इति मा भूदन्यत्र सुषुप्तिकाले ब्रह्मणि गमनदर्शनम् । एतदेव तु दहरा-
काशो सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल इव निरस्तनिस्तिलदुःखानां सुषु-
प्तिकालेऽवस्थानं ब्रह्मव्यतिरिक्तेष्वसंभावितं दहराकाशस्य परब्रह्मत्वे

गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः

समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९ ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य

संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषद्यष्टमप्रपाठकस्य

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकाय मष्टमप्रपाठकस्य

द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधाना-

स्तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम् ।

परमात्मनिष्ठा इमे सत्या अपहृतपाप्मत्वाद्यः कामा अनृतमपिधानं
तेषां तेऽनृतमपिधाना अनृताच्छादिताः । अतएतद्विषयो ह्यनृतशब्दः ।
अतमिति कर्मवाचि 'अतं पिबन्ती' [क० ३।१] इति यचनात् । अतं
कर्म फलामिसंधिरहितं परमपुरुषाराधनवेपं तत्प्राप्तिफलम् । अत्र तद्व-
तिरिक्तफलं सांसारिकफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधीति महासिद्धान्ते
भाषितम् । तेषां सत्यानां सतां विद्यमानानामेव कर्मोऽऽच्छादकम् । ततश्च
स्यात्मभूतपरमात्मगता अपहृतपाप्मत्वादिधर्माः कर्मरूपाविद्यातिरोहित-
त्यान्न भासन्त इत्यर्थः ।

यो यो एतस्येतः प्रेति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यद्या-

न्यदिच्छन् लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते ।

अभ्योपासकस्य यो बन्धुवर्ग इतः प्रेति न स इह द्रष्टुं शक्यः । अस्य
तु ये जीवन्तो मृष्टाश्च बन्धवोऽलम्प्याश्च मनोरथान्तरत्तपं दहरास्तपं

लोक्यमानं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः । ब्रह्मोपासननिष्ठस्य तत्कतुन्यायेन ब्रह्म-
प्राप्तेरेव यत्कथ्यतया प्रसिद्धस्वर्गलोकप्राप्त्यसंभवादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

कथं ब्रह्मप्राप्तिः । प्राप्तस्य वा ततः किं भवतीत्यत्राऽऽह—

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय
परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।

अथशब्दः प्रकृतापेक्षत्यद्योतकः । संप्रसादशब्दः सुषुप्तिस्थानवचनः
संस्तत्संबन्धाज्जीवं लक्षयति । एष संप्रसादोऽहरहर्वा एवंविदिति पूर्व-
वाक्यनिर्दिष्ट उपासको जीवोऽस्माद्ध्वेषतया परिदृश्यमानाच्छरीरादुत्क्राम्य
पेशविशेषनिष्ठं परमात्मानं प्राप्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । अस्य
वाक्यस्यार्थः प्रजापतिविद्यायां विशिष्य वक्ष्यते ।

एष आत्मेति होषाचेतदमृतमभयमेतद्वसेति ।

एष आत्मेतदमृतमित्यत्रैतच्छब्दौ पूर्ववाक्ये परं ज्योतिरुपसंपद्येति
प्राप्यतया निर्दिष्टपरज्योतिःशब्दितब्रह्मपरौ प्राप्यतया प्राधान्यादव्यव-
हितत्वाच्च । ननु 'प्रजापतिर्वरुणायाश्चमनयत्स स्वां देवतामार्चत् ।
इत्यत्र विमक्त्यैकरूप्याद्यवहितस्यापि प्रजापतेः स इत्यनेन ग्रहणं दृष्टं
न व्यववहितस्य संप्रदानत्वेन प्रधानस्य वरुणस्य ग्रहणमित्युक्तं मीमां-
सकैः । 'आकाशाच्चन्द्रमसमेव सोमो राजा' [छा० ५ । १० । ४]
इत्यत्रैतच्छब्दस्य नाव्यवहिताभिसंभाव्यचन्द्रमसः परामर्शित्वं दृष्टमपि
त्वभिसंभविनपरत्वम् । ततश्चेहापि व्यवहितस्य संप्रसादशब्दितस्य जीव-
स्यैवैष आत्मेत्येतच्छब्देन ग्रहणमुचितं विमक्त्यैकरूप्यादिति चेन्न ।
प्रजापतिर्वरुणायेति वाक्ये स इत्यनेन प्रजापतिपरामर्शोऽश्वदानसंप्रदा-
नरूपत्वेन स्वीयां वरुणदेवतामार्चत्प्राप्नोदित्यर्थो युज्यते । वरुणपरा-
मर्शे तु वरुणस्याऽऽमीयाया देवतायाः प्रागप्रस्तुतत्वादर्थसंगत्या व्यव-
हितोऽपि प्रजापतिः परामृष्टो न विमक्त्यैकरूप्यमात्रेण । एष सोमो
राजेति पितृयाणवाक्य एतच्छब्देन चन्द्रपरामर्शे तस्य सोमराजमाव-
विधानवेयश्याद्यवहिताभिसंभविनपरामर्शित्वं न तु विमक्त्यैकरूप्यात् ।
प्रकृतेऽव्यवहितप्रधानभूतपरज्योतिःशब्दितपरमात्मपरित्यागे कारणाभा-
वात् । प्रत्युत तेन व्यवहितसंप्रसादशब्दितजीवपरिग्रहे तस्य निरुपा-
धिकार्यात्मत्वनिरतिशयसुखरूपत्वलक्षणावृत्तदुःखासंभिन्नत्वरूपामयत्व-
ब्रह्मत्वविधानासंभवाच्च 'एष आत्मेति होषाच' इत्येतच्छब्देन प्राप्य-

लिङ्गम् । माप्य एवमेकां व्याख्यां कृत्वा—अथ वाऽहरहर्गच्छन्त्य इति न सुपुतिविषयं गमनमुच्यते । अपि त्वन्तरात्मत्वेन सदा वर्तमानस्य दहराकाशस्य परमपुरुषार्थमूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानास्तमजानत्यस्तं न विन्दन्ति न लभन्ते । यथा हिरण्यनिधिं निहितं तत्स्यान्तमजानानास्तदुपरि सर्वदा वर्तमाना अपि न लभन्ते तद्वद्वित्यर्थः । सेयमेवान्तरात्मत्वेनावस्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्निधमितानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिरस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यन्यत्र परस्य ब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य स्वनिषाम्याभिः स्वस्मिन्वर्तमानाभिः प्रजामिरवेदन् इदम् । यथाऽन्तर्यामिब्राह्मणे—‘य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद’ इति ‘अवृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता’ इति च । मा मूढव्यत्र दर्शनं स्वयमेव त्वयि निधिदृष्टान्तावगतपरमपुरुषार्थमावस्थास्य हृदयस्थस्योपरि तदाधारतयाऽहरहः सर्वासां प्रजानामजानतीनां गतिरस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गमिति ध्यायताम् । सुपुतिकालीनगमनविषयपूर्वध्यात्वायामुपर्युपरीत्यस्य दृष्टान्त एवान्वयो न दाष्टान्तिके । सुपुतिकाल एकीभावसद्भावेऽप्युपरिगमनामायात् । अन्तर्यामिविषयद्वितीयध्याय्यायां तु, अन्तर्यामिण उपरि सर्वदा गतिसत्त्वादुपर्युपरीत्यस्य दाष्टान्तिकेऽप्यन्वयो ब्रह्मणः । अत्र व्यासार्थरन्तर्यामिविषयतया ध्यायानेऽन्तर्यामिण्यहरहर्गमनस्य दहराकाशस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमुक्तम् । उपासकानुग्रहायावस्थितो हि दहराकाशोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितो ह्याधारवत्तयो रूपमेवादित्याशङ्क्य धर्मस्याभिप्रायेणैवमुक्तमिति परिहृतम् ॥ २ ॥

पूर्वाक्तं तस्य हृदयान्तर्वर्तित्वं स्मारयति—

स वा एष आत्मा हृदि ।

अन्तर्धर्तत इति शेषः । हृदयनामनिर्वचनादप्यात्मनो हृदयत्वं सिध्यतीत्याह—

तस्यतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्भुदयम् ।

इति । तस्यतस्य हृदयस्य हृदयमात्मा वर्तत इति हि हृदयशब्दान्तराक्षरिणिति भावः ।

अहरहर्वा एषवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

अहरहः प्रत्यहमाप्रमाणमेयं विदेता दशदहराकाशोपासननिष्ठः सुगन्धः

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सत्तियमिति ।

सत्तियमिति सत्यनाम त्र्यक्षरात्मकमित्यर्थः ।

तयत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यम् ।

अत्रामृतमर्त्यशब्दाभ्यां चेतनाचेतने निर्दिश्येते ।

अथ ययं तेनोभे यच्छति ।

अमृतस्य मर्त्यस्वरूपेणोपलक्षिते उभे यच्छतीति यमित्यर्थः । तदेवो-
पसंहरति—

यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यम् ।

अनेन चेतनाचेतनत्वरूपेणोपलक्षिते उभे यतो यच्छति तस्माद्य-
मित्यर्थः । नामनिर्ध्वानामिज्ञं स्तौति—

अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकोषाष्टमप्रपाठकस्य

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय ।

उक्तलक्षण आत्मा सेतुरिव विधृतिर्विधारकं इत्यर्थः । किमर्थं सेतु-
विधृतिरित्यत्राऽऽह—एषां लोकानामसंभेदायेति । असंभेदोऽसंकरः ।
यद्ययं परमात्मा स्वज्ञासनेन जगत्त धारयेत्, सर्वधर्माणां सांकर्यमेव
स्यात् । पृथिव्या गन्धवत्त्वं जलस्य शैत्यं तेजस औष्ण्यमित्यादयो धर्माः
परमात्माज्ञया व्यवस्थिता भवन्ति । सिनोति बध्नाति स्वस्मिंश्चिद-
चिद्वस्तुजातमसंकीर्णमिति सेतुरुच्यत इति 'सामान्याहुः' [ब० सू०
३ । २ । ३२] इति सूत्रे मापितम् ।

भूतः परमात्मैव परामृश्यते । यद्यपि स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यत इति स्वरूपाविर्भावे कथित आविर्भवत्स्वरूपं किमित्येषेक्षायां प्रजापति-
वाक्ये 'एष आत्मेति होवाचेतदमृतममयमेतद्ब्रह्मेति' [छा० ४ ।
१५ । १] इति निर्विद्वं मुक्तरूपमित्येतदर्थकत्वेऽपि नानुपपत्तिस्तथाऽपि
'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' [छा० ८ । ३ । ४]
इत्युत्तरवाक्यनिर्वेक्ष्यमाणचेतनाचेतननियन्तृत्वार्थकसत्यनामत्वस्य मुक्ता-
त्मन्यसंभवात्पूर्ववाक्यनिर्विद्वोऽपि न जीवः परामृश्यतेऽपि तु प्राप्यं
ब्रह्मैव । एष आत्मेति होवाचेत्येतावन्मात्रस्याऽऽविर्भवत्स्वरूपपरत्वम् ।
एतदमृतममयमेतद्ब्रह्मेत्यत्र स्वेतच्छब्दस्य परज्योतिःशब्दितब्रह्मपरत्व-
मित्याश्रयणेऽपि नानुपपत्तिः । अनेन वाक्यसंदर्भेण परमात्मनो मुक्त-
प्राप्यत्वतत्स्वरूपाविर्भावायितृत्वलक्षणो महिमा प्रतिपादितो भवति ।
अत एव सूत्रकृताऽपि 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं
ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' [छा०
८ । ३ । ४] इति दहरविद्यामध्यस्थवाक्ये जीवप्रतिपादनदर्शनाद्दहरा-
काशोऽपि जीव एवास्तु तस्य यावान्या अयमित्यादिवाक्यसंद-
र्भप्रतिपादितभूताकाशोपमेयत्वस्य भूताकाशेऽनन्वयेन दहराकाशस्य
भूताकाशत्वाभावेऽपि जीवे कथं चिन्निर्लेपत्वादिना भूताकाशोपमेयत्व-
संभवादणुपरिमाणे जीवे दहरशब्दिताल्पपरिमाणत्वस्यापि संभवाद्दह-
राकाशो जीव एवास्तिवति 'इतरपरामर्शांस्त इति चेत्' [ब० सू०
१।३।१८] इति सूत्रखण्डेनाऽऽक्षिप्य 'दहर उत्तरेभ्यः' [ब० सू०
१।३।१४] 'गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृढं लिङ्गं च' [ब० सू०
१।३।१५] 'धृतेश्च महिम्नोऽस्याम्मिच्छुपलब्धेः' [ब० सू० १।
३।१६] इति सूत्रत्रयोक्तानां परमात्मधर्माणां जीवेऽसंभवाद् जीवो
दहराकाश इति 'नासंभवात्' [ब० सू० १।३।१८] इति सूत्र-
खण्डेन परित्यक्तं तर्हि ब्रह्मप्रकरणे एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायति
जीवपरामर्शः किमर्थं इत्याशङ्क्य मुक्ते तत्स्वरूपाविर्भावायितृत्वलक्ष-
णपरमात्ममहिमप्रकाशनाथो जीवपरामर्श इति 'अन्यार्थश्च परामर्शः'
[ब० सू० १।३।२०] इति सूत्रेण प्रतिपादितम् ।

तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

अर्थः ॥ ४ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुवि-
न्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रथमप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

तत्रैवं सति य एवं परमात्मानं स्त्रीविषयतृष्णात्यागरूपब्रह्मचर्य-
पूर्वकशास्त्राचार्योपवेक्षादिना जानन्ति तेषामेवेदशब्दब्रह्मप्राप्तिः सर्वलो-
कानुमवश्च । न ब्रह्मचर्यादिहीनानामित्यर्थः । सूत्रितं च—‘धृतेश्च
महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः’ [अ० सू० १ । ३ । १६] इति ‘एष
सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय’ [बृ० ४ । ४ । २२] इति
परब्रह्ममहिमत्वेन प्रसिद्धस्य जगद्विधरणमहिम्नो दहराकाश उपलभ्य-
मानत्वादहराकाशः परं ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

यज्ञेष्टसत्रायणमौनानाशकायनारण्यायनारूपानि कर्माणि ब्रह्मचर्य-
साध्यत्वाद्ब्रह्मलोकसाधनत्वेन प्रस्तुतं प्राहृनिर्विद्वं ब्रह्मचर्यमेवेति स्तोति—
अथ यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ।

लोके यत्पाकयज्ञहविर्यज्ञादिकं कर्म वैदिका यज्ञ इत्याचक्षते तद्ब्रह्मचर्य-
साध्यत्वाद्ब्रह्मचर्यमेवेत्यर्थः । ननु यज्ञस्य कथं ब्रह्मलोकसाधनब्रह्मचर्य-
साध्यत्वं न हि ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञो द्वारमित्याशङ्क्य
ब्रह्मचर्यसाध्यस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ज्ञानस्य यज्ञरूपत्वाज्ज्ञानसाधनस्य
ब्रह्मचर्यस्य यज्ञसाधनत्वमप्यस्तीति प्रतिपादयितुमेकशब्दरूपितत्वेन
तयोरैक्यं संपादयति—

ब्रह्मचर्येण होव यो ज्ञाता तं विन्दते ।

ब्रह्मचर्यपुरःसरब्रह्मज्ञानवान्हि तं ब्रह्मलोकं विन्दते । तत्र यो ज्ञाता
ब्रह्मचर्येणेत्युक्त्या यो ज्ञातेत्यस्य ब्रह्मचर्यसाध्यत्वं प्रतीयते यो ज्ञातेति

नैतः सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न
मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ।

तरतिः प्राप्तवचनः । वेदान्तं तरतीतिवदिति तत्रैव मापितत्वात् ।
एतं परमात्मसेतुमहोरात्रे परिच्छेदकत्वेन न प्राप्नुवतो जरादिकमपि न
प्राप्नोति । उक्तमर्थं निगमयति—

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ।

शोकादिषु पाप्मशब्दस्यामुख्यत्वेऽपि सुकृतदुष्कृतयोरलौकिकमुमु-
क्ष्वनिवृत्ताधनत्वलक्षणपापशब्दप्रवृत्तिनिमित्तसंभवात्पाप्मशब्दो मुख्य
इति व्यासार्थैर्लघुसिद्धान्ते वर्णितम् । तत्र हेतुमाह—

अपहतपाप्मा ह्येव ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

इति । ब्रह्मरूपो लोक एषोऽपहतपाप्मा । हिर्हेतौ यस्माद्यमपहत-
पाप्मा तस्मात्सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यर्थः । पापहेतुकार्याचर-
णेऽपि तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकशक्तियोगित्वमेव ह्यपहतपाप्मत्वं तस्मात्पा-
प्मशब्दमुख्यार्थसुकृतदुष्कृतयोस्तत्फलभूतजरारोगादीनां च न प्रसक्ति-
रित्यर्थः ॥ १ ॥

तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति
विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति ।

यस्माद्यमपहतपाप्मा तस्मादेवैतं परमात्मलक्षणं सेतुं प्राप्य पूर्वमा-
न्ध्यापुन्धवेपज्वरादियुक्तदेहोऽपि संस्तद्गोपरहितदिव्यदेहयुक्तो भवती-
त्यर्थः ।

तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाग्निनि-
प्ययते स्रष्टादिभातो ह्येवैव ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

परमात्मानं प्राप्तस्य तामिस्रा तामसी रात्रिरपि दिवैव । तस्याज्ञान-
प्रसक्तेरभावाद्दहःसदृशी सा रात्रिः । अहोरात्रयोर्न विशेष इत्यर्थः ।
तत्र हेतुः—एष पूर्वोक्तो ब्रह्मलोको हि यस्मात्स्रष्टादिभातो सर्वदा
ब्रह्मस्वरूपप्रकाशस्यानावृततया भासमानत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुवि-
न्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

तत्तत्रैवं सति य एवं परमात्मानं श्रीविषयतृष्णात्यागरूपब्रह्मचर्य-
पूर्वकशास्त्राचार्योपदेशादिना जानन्ति तेषामेवेदशब्दब्रह्मप्राप्तिः सर्वलो-
कानुभवश्च । न ब्रह्मचर्यादिहीनानामित्यर्थः । सूत्रितं च—‘धृतेश्च
महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः’ [अ० सू० १ । ३ । १६] इति ‘एष
सेतुर्धिधरण एषां लोकानामसंभेदाय’ [बृ० ४ । ४ । २२] इति
परब्रह्ममहिमत्वेन प्रसिद्धस्य जगद्धिधरणमहिम्नो बहिराकाश उपलभ्य-
मानत्वाद्बहिराकाशः परं ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य
चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

यज्ञेष्टसन्नायणभौनानाशकायनारण्यायनारयानि कर्माणि ब्रह्मचर्य-
साध्यत्वाद्ब्रह्मलोकसाधनत्वेन प्रस्तुतं प्राङ्निर्दिष्टं ब्रह्मचर्यमेवेति स्तौति—
अथ ययज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ।

लोके यत्पाकयज्ञहविर्यज्ञादिकं कर्म वैदिका यज्ञ इत्याचक्षते तद्ब्रह्मचर्य-
साध्यत्वाद्ब्रह्मचर्यमेवेत्यर्थः । ननु यज्ञस्य कथं ब्रह्मलोकसाधनब्रह्मचर्य-
साध्यत्वं न हि ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञो द्वारमित्याशङ्क्य
ब्रह्मचर्यसाध्यस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ज्ञानस्य यज्ञरूपत्वाज्ज्ञानसाधनस्य
ब्रह्मचर्यस्य यज्ञसाधनत्वमप्यस्तीति प्रतिपादयितुमेकशब्दरूपितत्वेन
तयोरैक्यं संपादयति—

ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते ।

ब्रह्मचर्यपुरःसरब्रह्मज्ञानवान् हि तं ब्रह्मलोकं विन्दते । तत्र यो ज्ञाता
ब्रह्मचर्येणेत्युक्त्वा यो ज्ञातेत्यस्य ब्रह्मचर्यसाध्यत्वं प्रतीयते यो ज्ञातेति

शब्दैकदेशस्य यो ज्ञशब्दस्य यज्ञशब्दस्य च साम्यकृताभेदावसायेन तद-
र्थाभेदाध्यवसायमूला यज्ञस्यापि ब्रह्मचर्यसाध्यतेति भावः । एवमुत्त-
रत्रापि ।

अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्म-
चर्येण होवेद्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अत्रापि ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यसाध्यस्य परमात्मपूजनस्य दर्श-
पूर्णमासादीदीनां चेद्वैत्येकशब्दरूपितत्वेनाभेदाध्यवसायः ॥ १ ॥

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव
तद्ब्रह्मचर्येण होव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते ।

अत्रापि ब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य ब्रह्मचर्यसाध्यस्य विषयान्तरविमुखीकर-
णलक्षणस्य सच्छब्दितात्मब्राणस्य गवामयनादिसत्रस्य च सत्रायणरू-
पैकशब्दरूपितत्वेनाभेदाध्यवसायः ।

अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्म-
चर्येण होवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

याद्वनियमनलक्षणमौनस्य ब्रह्मचर्यसाध्यात्मश्रवणाधीनमननस्य च
मौनरूपैकशब्दरूपितत्वेनाभेदाध्यवसायः ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव
तदेव ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते ।

ब्रह्मचर्यसाध्यानाशाभावरूपफलस्य चानशनलक्षणमार्गस्य चानाश-
कायनशब्दैक्यकृतोऽभेदः ।

अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरश्च
ह वै ण्यश्चार्णवी ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि ।

इतो मूलोकापेक्षया तृतीये द्युशब्दिते ब्रह्मलोकेऽरण्यसंज्ञकार्णवी
स्तः । अतश्चारण्यायनस्य ब्रह्मलोकस्य चारण्यवासस्य चारण्यायनश-
ब्दकृतोऽभेदः । श्रुयं चतुर्मुण्डलोकान्तान्तरिक्षलोकां चापेक्ष्य मगधलोकस्य

तृतीयत्वं न तु चतुर्मुखलोकस्य तृतीयत्वमिति मन्तव्यम् । पञ्चोपनिषदि चतुर्मुखलोकाप्यन्तरिक्षलोककोटौ निवेशितत्वाप्रसङ्गाद्भगवत्लोकचिह्नानि कानिचिदाह—

तदैरंमदीयः सरस्तदश्वत्थः सोमसवनः ।

तत्तत्रैरंमदीयनामकं सरः । अस्तीति शेषः । इत्याऽमुतेन माद्यन्ते यस्मिंस्तदैरंमदीयममृतमयं सर इत्यर्थः । सोमसवननामाऽश्वत्थश्चास्तीत्यर्थः । चन्द्रवदाह्लादकरत्वात्सोमसवनत्वम् ।

तदपराजिता पूर्वहणः ।

तत्तत्राब्रह्मविद्भिः प्राप्तुमशक्यत्वेनापराजिता नाम परब्रह्मणः पुरी चास्तीत्यर्थः ।

प्रभुविमितः हिरण्यम् ॥ ३ ॥

मण्डपमिति शेषः । प्रमुणा भगवता विशेषेण मितं स्वभोगमूर्मित्वेन विशेषतः परिगृहीतमित्यर्थः । भगवतो व्यासत्वेऽपि नित्यविग्रहविशिष्टतया संनिधानाद्विमितत्वम् । अतश्च तद्देशविशिष्टब्रह्मप्राप्तिरेव ब्रह्मप्राप्तिरिति भावः ॥ ३ ॥

प्रसङ्गादाह—

तद्य एवेतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

ब्रह्मप्राप्तिसाधनीभूतारण्यशब्दितार्णवद्वयप्राप्तेर्ब्रह्मचर्याधीनत्वाद्ब्रह्मचर्यमेव सर्वसाधनोत्कृष्टमिति भावः ॥ ४ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य

पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

उक्तब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनतया मूर्धन्यनाडीगमनं प्रसीति—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणि-
म्रस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति ।

हृदयसंवन्धिन्यो नाड्यो नानारूपसूक्ष्माक्षरसपूर्णास्तिष्ठन्तीत्यर्थः ।

असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल

एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

आदित्यस्य नानारूपाश्रयत्वं च मधुविद्याप्रसिद्धं प्रत्यक्षसिद्धं च ।
ततश्चेतव्रह्मिसंयन्थादेवाक्षरसस्य नानारूपत्वं चेति भावः ॥ १ ॥

तथथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छ-

तीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय

उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च ।

यथा विस्तीर्णो महान्पन्था ग्रामद्वयप्रविष्टो भवति तथाऽऽदित्यरश्मयो
लोकद्वयानुप्रविष्टा इत्यर्थः । लोकद्वयप्रवेशनक्रममाह—

अमुष्मादादित्यात्मतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो

नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

प्रतायन्ते संतताः सृप्ताः प्रविष्टाः । रश्मीनामुभयलिङ्गत्वात्ते ता इति
च निर्देशः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

तयत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न

विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति ।

तत्तत्रैवं सतीत्यर्थः । यत्र यदा समस्त उपसंहृतकरणमण्डलोऽत्र
एव संप्रसन्नो बाह्यविषयसंपर्कजनितकालुष्यशून्यः स्वप्नं न पश्यती-
त्येतत्स्वप्नादर्शनं सुषुप्तिरिति यावत् । तदाऽऽसु नाडीषु प्रविष्टो भवति
पुरीतद्वह्मगमनाय नाडीषु प्रविष्टो भवति । 'नाड्यो द्वासप्ततिः सह-
स्राणि हृदयात्पुरीततममिप्तिष्ठन्ते तामिः प्रत्यक्सृष्य पुरीतति शेते'
[वृ० २ । १ । १९] इति श्रुत्यन्तरान्नाडीपुरीतद्वह्मणां समुच्चयेन सुषु-
प्तिस्थानत्वस्य 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' [ब्र० सू० ३ । १७]

इत्थत्र स्थितत्वान्नाडीनामपि सुषुप्तिस्थानत्वमस्तीति द्रष्टव्यम् ।

तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति ।

सुषुप्तौ सतोऽपि कर्मणः फलजननसामर्थ्यं नास्तीत्यर्थः । न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यस्मिन्वाक्येऽनुष्ठानाशक्तिर्विवक्षितेति व्यासार्थवचनस्याप्ययमेवार्थः । तत्र हेतुमाह—

तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

‘सता सोम्य तदा संपन्नो भवति’ [छा० ६।८।१] इति श्रुतेः । तेजःशब्दः प्रकाशकत्वगुणयोगाद्ब्रह्मपरः । ब्रह्मणि संपत्तिर्नाम देहेन्द्रियाधिष्ठातृत्वरहितरेण ब्रह्मण्यवस्थानम् । संपत्त्याधिकरणस्य करणत्वविवक्षया तृतीयानिर्देशः ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदवलिमानं नीतो भवति ।

अथशब्दोऽर्थान्तरप्रस्तावार्थः । अवलस्य भावोऽवलिमाऽवलत्वं रोगादिकृतं कौबल्यं नीतो भवतीत्येतद्यत्र यवेत्यर्थः । यदा दीर्घस्य मासवानित्यर्थः ।

तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति ।

तं तादृशदशाविशिष्टं परितो वर्तमाना बान्धवा मां जानासि किं मां जानासि किमित्याहुः । यद्वा, एतदेतास्तु नाडीषु स्थित इत्यर्थः ।

स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामद-

यैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते ।

एतैरेव रश्मिभिः पूर्वोक्तैरादित्यरश्मिभिरित्यर्थः । इदं च वाक्यमुत्क्रान्तिपादे चिन्तितम् । निशि मृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारेण गमनासंभवाद्भस्मिरेव गमनमिति न नियमः । अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमत इति वचनं तु पक्षप्राप्तविषयम् । एवकारोऽन्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थ इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—‘रश्म्यनुसारी’ [ब० सू० ४।२।१८]

विद्वान्निषमेन रश्मीननुसृत्यैव गच्छति । एतैरेव रश्मिभिरित्येवकारस्य क्रियासंगतैवकारत्वामावेनात्यन्तायोगव्यवच्छेदकत्वासंभवेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वस्यैव वक्तव्यत्वात् । यदुक्तं निशि मृतस्य रश्म्यसंमवाद्रश्मीननुसृत्य गमनं नोपपद्यत इति तन्न । निदाघसमये हि रात्रावप्युष्मोपलम्भाद्रदिमसंभवः । हेमन्तादौ तु हिमाभिमवाद्दुर्दिन इवोष्मानुपलम्भः । श्रूयते च नाडीरश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः 'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकी गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आमु नाडीषु सृता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृताः' इति ।

स ओमिति वाऽऽहोद्वा मीयते ।

स विद्वान्

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः [गी० १७ । २३] तस्योदिति नाम [छा० १ । ६ । ७] इति प्रमाणप्रसिद्धं परमात्मानमाह कीर्तयति कीर्तयन्नेव मीयते प्रमीयते च । मरणकाले तस्य मगधन्नामस्मरणं संभवति । यद्वा स एतै रश्मिभिरुन्मीयत उन्मीयते । एको वाशब्दोऽवधारणार्थः ।

स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ।

मनोवेगेनाऽऽदित्यं स गच्छतीत्यर्थः । न च 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' इति त्वरावचनेन रश्म्यनुसारिमार्गस्य मार्गान्तरवैलक्षण्यप्रतीतिर्मार्गभिदः शङ्क्यः । 'अचिरादिना तत्प्रथितेः' [ब० सू० ४।३।१] इत्यधिकरणे नानाशारास्तु तस्यैव मार्गस्य प्रथितेः प्रत्यभिज्ञानादचिरादिरेक एव मार्गः । अतोऽचिरादिनैव मार्गेण विद्वान्गच्छतीति समर्थितत्वात् । स यावत्क्षिप्येन्मन इति त्वरावचनस्य काश्मीरापेक्षया मगधान्निक्षिप्रं गच्छतीतिवद्वन्तव्यस्वर्गाद्यपेक्षयाऽऽदित्यगमनस्य शीघ्रेण स यावत्क्षिप्येन्मन इति त्वरावचनस्याप्युपपत्तेर्न दोषः ।

एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥५॥

विदुषां ब्रह्मलोकस्य द्वारं प्रपदनं प्रपद्यतेऽनेनेति प्रपदनं प्राप्तिसाधनं य आदित्यः । द्वारापेक्षया नपुंसकनिर्देश एतदिति । अविदुषां च निरो-

धकः । अविद्वांसो हि सूर्यमण्डलमेदासामर्थ्यान्न गन्तुं शक्नुवन्ती-
त्यर्थः ॥ ५ ॥

तदेतद् श्लोकः ।

तत्तस्मिन्विषय एष वक्ष्यमाणः श्लोकः प्रवृत्त इत्यर्थः ।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम-
भिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्व-
ङ्मन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥ ✓
इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमप्रपाठकस्य

पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

सूर्यन्यनामनाड्या गच्छन्मुक्तिं प्राप्नोति विष्वग्गतयो नानागतयो ✓
इतरा नाड्यस्तुत्क्रमणमात्रे प्रभवन्ति न त्वमृतत्वस्थानीभूतोर्ध्वगतादि-
त्यर्थः । यद्वा विष्वग्मुत्क्रमणेऽन्योत्क्रमणेऽन्या नाड्य उपयुज्यन्ते इत्यर्थः ।
शिवं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य

पष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

एवं दहरविद्यां समाप्य तदङ्गभूतां प्रत्यगात्मविद्यां प्रस्तौति—

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्वि-
शोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः
सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासि-
तव्यः स सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च
कामान्यस्तमात्मानमनुविष्य विजानाती-
वि ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

अत्रानुविद्येति वाक्यार्थज्ञानमुच्यते विजानातीति ध्यानं लक्ष्मि-
द्धान्ते तथैव मापितत्वात् ॥ १ ॥

तद्धोत्रये देवासुरा अनुबुधारे ।

तत्प्रजापतिवचनमैतिह्यरूपेण देवा असुराश्चोभयेऽपि श्रुतवन्त इत्यर्थः ।

ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानम-
न्विष्य सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च कामानिति ।

अन्विच्छामः अद्यमननाभ्यामवगच्छाम इत्यर्थः ।

इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम् ।

देवानां मध्य इन्द्रश्चासुराणां मध्ये विरोचनश्च प्रजापतिसमीपं गन्तुं प्रस्थितौ ।

तौ हासंविदानावेष समित्पाणी प्रजा-

पतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

असंविदानौ परस्परास्रयया परस्परसंमन्त्रणमकुर्वन्तावित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २ ॥

तौ ह ह्यविश्रुतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमुपतुः ।

ह्यविश्रुताणि शुभ्रपापरी मृत्वा ब्रह्मचर्यं चरतुः ।

तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति ।

किंप्रयोजनमुद्दिश्योपितवन्तावित्यर्थः ।

तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-
र्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-
संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स
सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च कामान्यस्त-
मात्मानमनुविय विजानातीति ह भगवतो वचो
वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ ३ ॥

य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादि हि भगवतः पूज्यस्य तव वचो वेदयन्त
ऐतिह्यरूपेण जनास्तमिच्छन्ताववास्तं तज्ज्ञानमिच्छन्तावायां ब्रह्मचर्य-
मुपितयन्ताविति तौ प्रजापतिं प्रत्युचुरित्यर्थः । अवास्तमिति पुरुषद्वय-
रूपशृण्वन्दसः ॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत
एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ।

अत्र य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति नेहाक्षिपुरुषः परमात्मा
'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' [छा० ८।९।३] इत्युपक्रम्य
स्वभाद्यवस्थानामभिधानात् । न चायं छायादिपुरुषः प्रजापतिनोपदिश्यत
आत्मजिज्ञासयोपसन्नयोस्तयोस्तदुपदेशायोगात्, आत्मत्वामृतत्वामय-
त्त्वब्रह्मत्वाद्ययोगाच्च । अतोऽत्र प्रजापतिना प्रत्यगात्मैवोपदिश्यते । न
चेहाक्षिणि जीवस्थितिरुपदिश्यतेऽपि त्वक्षिप्रसादविकाराभ्यां जीव-
स्थितिगती निश्चीयेते । अतोऽक्ष्णो जीवस्थितिगतिमूचकत्वादक्षिणि
दृश्यत इत्युक्तं कर्मणः सामर्थ्यमूचकत्वाभिप्रायेणास्मिन्कर्मण्यस्य सामर्थ्यं
दृष्टमिति वत् । ततश्च गृहे स्थित्वा निर्गच्छन्पुरुषो यथा गृहादन्य
एवं शरीरे स्थितिगतिमानात्माऽपि शरीरादन्य इत्युक्तं भवति । अमृत-
मिति निरतिशयसुखरूपत्वम् । अमयमिति दुःखासंभिन्नत्वम् । ब्रह्मेत्य-
संकुचितविज्ञानतया बृहत्त्वं चोक्तमिति व्यासार्थैरुक्तम् ।

अथ योऽयं भगवोऽप्सु परित्प्रायते

यश्चायमादर्शे कतम एष इति ।

एवं प्रत्यगात्मनि प्रजापतिनोपदिष्टे छायापुरुष आत्मेत्युपदिष्ट इति
भ्रान्त्या स्वगृहीतच्छायापुरुषात्मकत्वदृढीकरणाय जलादर्शादिप्रति-
षिम्भोऽप्यक्षिप्रतिषिम्बाभिप्रायैवोक्तं तन्निर्ज्ञोऽनात्मेत्यभिप्रायेण एष-
च्छतुरित्यर्थः । एवं ताभ्यो घृष्टः प्रजापतिस्तथोभ्रान्तिमनिराकुर्वन्ने-
वाऽऽह—

एष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परि-

स्त्रायत इति- होवाच ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

यश्चक्षुषि दृश्यत्वेन मयोक्तः स आत्मा सर्वान्तरो जलादिष्वपि न
भिद्यत इत्युत्तरं ददावित्यर्थः । शिष्यभ्रान्तिमनिराकृत्य तज्ज्ञान्तिवृद्धीक-
रणायेत्युत्तरं ददत आचार्यस्वायमभिप्रायः—सुरासुरेन्द्रादिन्द्रविरोचनौ

स्वात्मन्यध्यारोपितपाण्डित्यमहत्त्वातिशयो तथैव जगति प्रसिद्धौ च ।
 तद्यदि युवां भ्रान्ताविति ब्रूयां तदा चित्तावसादात्पुनः प्रश्नग्रहणधार-
 णेषु मग्नोत्साहो स्याताम् । अतो यथाश्रुतप्रश्नमात्रस्योत्तरमिदानीं वक्त-
 व्यमिति । अनेन चोत्तरेण पूर्वोत्पन्नप्रतिबिम्बात्मग्रमो वृद्धी भवति चेद्-
 वतु । वृद्धीभूतोऽपि भ्रम उदशरावनिरीक्षणनियोजनोपायेनापनेष्यत इति ।
 अत एव तद्भ्रमापनयनार्थमाह—‘उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो
 न विजानीयस्तन्मे प्रब्रूतमिति’ [छा० ८।८।१] । उदशरावावे-
 क्षणे तौ नियुयोज । अत्र व्यासार्थैरेतादृशामिप्रायपरिकल्पनस्यातिक्रि-
 द्धत्वात् ‘योऽयं मग्नोऽप्यु परिख्यायते यश्चापमादर्शं कतम एव इत्येष
 उ एवेषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायते’ इत्येतावानपि प्रश्न एव । प्रश्नवाक्य-
 मध्यगत इतिशब्दः प्रश्नान्ते निवेशितव्यः । इति होवाचेत्येतदुत्तरस्योदश-
 रावग्राहणस्य शेषभूतम् । उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न
 विजानीयस्तन्मे प्रब्रूतमिति होवाचेत्युत्तरेणान्वयः । तत्र चैक इतिशब्दः
 समाप्तिद्योतकोऽन्यस्तु प्रकारवचनः । अथ वा कतम एव इतीत्यत्रेति-
 शब्दो वक्ष्यमाणवचनोऽन्यस्तुक्तवचनः । यद्वा प्रश्नवाक्ये प्रथम इतिशब्दः
 प्रकारवचनो द्वितीयस्तु प्रश्नसमाप्तिद्योतकः । होवाचेति तूत्तरशेषभूतम् ।
 प्रब्रूतमिति होवाचेत्यन्वय इत्येवं नेतिशब्दद्वयस्यैवमित्यभिप्रेत्य प्रजा-
 पतिहृदयानभिज्ञानेन च्छायापुरुष उपदिष्ट इति मत्वा पुनः पप्रच्छतुः—
 योऽयं मग्नोऽप्यु परिख्यायत इत्यादिना । सर्वेष्वन्तेषु नेत्रादिस्थानेषु
 परिख्यायते कतम एव इत्यर्थ इत्युक्तम् । चक्षुरादिप्रतिबिम्ब एवाऽऽ-
 त्मेति स्वग्रहणदार्ढ्यार्थं पुनरपि पप्रच्छतुरिति भावः । अप्यु परि-
 ख्यायत आदर्शं परिख्यायत इत्येवंप्रकारेण जलादिष्वन्तेषु स्थानेषु
 यो हृदयते स नेत्रे दृश्यमान एव मधुदुक्त एव किमुतान्यः, कतम
 एव इत्यर्थ इति व्यासार्थाणामभिप्रायः ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकरण
 सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो
 न विजानीयस्तन्मे प्रब्रूतमिति ।

उदशरूपं शराव आत्मानं हृदाऽऽत्ममवेक्ष्य निमग्नपद्मतया मान-
 मानं मग्दगनमग्नमग्दं युवां वदन्मितीत्युक्तवान् ।

तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते ।

तौ ह प्रतिबिम्बमवलोकितवन्तौ । अवलोक्यापि दोषास्फुरणाचू-
ष्णीमुपितवन्तौ तयोरनुपपत्त्यस्फूर्तिं ज्ञात्वा किं पश्यथ इति स्वयमेव
प्रजापतिरुवाचेत्याह—

तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ
होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव
आ लोमज्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

इदं प्रतिरूपमात्मानं पश्याव इति प्रतिबिम्बात्मन्नममेवोद्घाटितय-
न्तावित्यर्थः ॥ १ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ
परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्व-
लंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांच-
क्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ
सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः
साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति । ॥

आवां साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्वो भवाव इतीदं पथैव
तथैवेमावपि प्रतिबिम्बौ साध्वलंकारादियुक्ताविति प्रत्युच्चतुरित्यर्थः ।
अत्रोदशरावावेक्षणालंकृतदेहप्रतिबिम्बनिरीक्षणयोर्निष्ठुञ्जानस्य प्रजाप-
तेरयमभिसंधिः—आगमापायशालिद्वात्रिंशद्वर्षत्रयार्धदीर्घमृतकेशनस-
वस्त्रालंकारादिलक्षणदोषगुणयुक्ताव्यवस्थितदेहानुकारिदोषगुणवत्त्वाद्दे-
हवत्प्रतिबिम्बोऽप्यनात्मा निरतिशयमुखत्वदुःसासंभित्तत्त्वलक्षणामृत-
त्यामयत्वशून्य इति जानीतमिति । एवं द्विविधनिधोजनेऽपि तयोर-
प्रक्षीणकल्मषतया दोषादर्शनेन प्रतिबिम्बात्मन्नमो नापनीतः । ततः
प्रजापतिर्भ्रान्तिनिराकरणार्थं मया कृतस्य द्विविधप्रतिबिम्बदर्शनस्या-
भिप्रायमिमावप्रक्षीणकल्मषत्वान्नावमच्छतः । प्रत्यक्षं च शुभा भ्रान्ता-

विति षष्ठमप्यनर्हं । तदिदानीमेतदीयहृदयानुरोधेन प्रतिदिम्बमेव निर्दिश्य सर्वान्तरं परमात्मानं मनसि निधारय एवाऽऽत्मेत्युपदेशेन तयो-
राकाङ्क्षां निवर्तयिष्यामि । कालेन कल्मषे प्रक्षीणे मद्बचनसंदर्भस्य सर्वस्याप्यभिप्रायं स्वयमेवावगमिष्यत इति विचिकित्समानो वा मत्स-
मीपमागमिष्यत इति मत्वाऽऽह—

एष आत्मेति होवाचेतदमृतमजयमेतद्व-

होति तौ ह शान्तहृदयो प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

शान्तहृदयो निवृत्ताकाङ्क्षावित्यर्थः ॥ ३ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच ।

एवं तयोः प्रतिनिवृत्तयोः सतोः प्रजापतिर्भ्रान्तिगृहीतार्थमद्बचनेमी-
विनष्टौ मा मूताम्, इदमपि मद्बचनं य आत्मेतिवचनवत्कर्णाकर्णिकया
शृणुतामित्यभिप्रेत्योवाचेत्यर्थः । उक्तिमेवाऽऽह—

अनुपलभ्याऽऽत्मानमननुबिय व्रजतो

यतर एतदुपनिपदो भविष्यन्ति देवा

वाऽसुरा वा ते पराजविष्यन्तीति ।

आत्मैवेह मह्य आत्मा परिचर्य
 आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचर-
 नुमी लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति॥४॥

आत्मैव देह एव मह्यः पूज्य इत्यर्थः । उमी लोकाविति सर्वलोक-
 सुखानुभवोऽपि शरीरगत एवेति भावः ॥ ४ ॥

स संपदायोऽद्याप्यनुवर्तत इत्याह—

तस्मादप्यबेहाददानमश्रद्धाधानमयजमान-
 माहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत् ।

यस्मात्सुरेभ्य एवेयमुपनिषत्प्रवृत्ता तस्मादिह लोकेऽद्यापि विशिष्टा
 यागदानश्रद्धाविधुरं पुरुषमासुरस्वभावमित्याहुः । तत्र हेतुरसुराणां
 ह्येषोपनिषत् । यागदानश्रद्धाविधुर्यं हेतुभूता नास्ति क्यच्चुद्धिरसुराणा-
 मेय हि ।

प्रेतस्य शरीरं निक्षिप्य वसनेनालंकारेणेति सश-
 स्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रथमप्रपाठकस्या-
 ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

यत एयं देहस्त्वैवाऽऽत्मतया परिचरणीयत्वमत एव प्रेतस्य मृतस्य
 शरीरं निक्षिप्य वस्त्रालंकारादिभिः पूजयन्ति कुणपसंस्कारेणैव परलो-
 कजयं मन्यमाना इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्काशिकायामष्टमप्रपाठकस्या-
 ष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श ।

हेन्द्रस्य शुद्धान्तःकरणत्वाद्देहात्मभ्रमोऽपि नामूत । स स्वराज्यं प्राप्य
 देवेभ्यस्तदुपदेशात्प्रागेव मध्ये मार्गं प्रतिविम्वात्मन्यपीमं चक्ष्यमाणं दोष-
 मपश्यदित्यर्थः ।

यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो
भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः ।

अयं देहप्रतिबिम्ब इत्यर्थः । परिष्कृतेऽप्राकृतनखलोमादिक इत्यर्थः ।

एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्नामे स्नामः
परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाश-
मन्धेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

नासिका यस्य सदा स्रवति स स्नामः । भिन्नपाणिपादः परिवृक्णः ।
प्रतिबिम्बस्य बिम्बभूतशरीरगतसाध्वलंकृतत्वसुवसनत्वपरिष्कृतत्वानुवि-
धापित्ववत्तद्वृत्तान्धसन्नाम्यपरिवृक्णत्वनाशानुविधायित्वावश्यमावेनामृत-
तत्वाभयत्वात्मत्वादिकं भोगं न संभवतीत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तः ह प्रजापतिरुवाच ।

स इन्द्र एवाय प्रजापतिमिति शेषः ।

मघवन्पृच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं
विरोचनेन किमिच्छन्पुनरागम इति ।

हे मघवन्पृच्छान्तहृदयो विरोचनेन सार्धं यद्यस्त्वं गतवान् किं
प्रयोजनमभिलषन्नागतोऽसि । आगम इति गमेर्लुङि लृदित्वादर्शः ।

स होवाच यथैव खल्वयं तमवोऽस्मिञ्छरीरे
साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने
सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायम-
स्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्नामे स्नामः परिवृक्णे
परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्धेष नश्य-
ति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

व्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स
हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्सप्तमप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

हे मघवंस्त्वदुक्तं सत्यमेव । उक्तमिममेवाऽऽत्मानं पुनरपि दोषशून्य-
तया प्रतिपादयिष्यामि । अन्तःकरणशुद्ध्यर्थमितोऽपि द्वात्रिंशतं वर्षाणि
ब्रह्मचर्यं वसेत्याज्ञतो मघवांस्तथैव कृतवानित्यर्थः । एवमुपितवत
इन्द्राय प्रजापतिर्वक्ष्यमाणमुवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्काशिकायामष्टमप्रपाठकस्य
नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मे-
ति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रूतेति ।

यः स्वप्ने रूपादिभिः पूज्यमानश्चरत्येष स्वप्नद्रष्टा भोग्यताविलक्षणासृ-
तत्वादियुक्त आत्मेत्युक्तवानित्यर्थः । नायं पूर्वोक्तदेहगतान्ध्याद्याद्यनु-
विधाधित्वलक्षणदोषदुष्ट इति भावः ।

स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं
ददर्श तदयपीद* शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति ।

तदिवं शरीरं यद्यन्यन्धं भवति तथाऽपि सोऽनन्धो भवतीति योजना ।

यदि साममसामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुप्यति ॥ ३ ॥

न वपेनास्य हन्यते नास्य साम्येण सामः ।

स्पष्टोऽर्थः ।

ग्नन्ति त्वेनं विच्छादयन्तीव ।

एवमशब्द इवार्थः । एवं स्वप्नात्मानं केचन ग्नन्तीव द्रावयन्तीव
भान्तीत्यर्थः ।

अप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाह-
मत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

हन्यमानत्वद्वाध्यमाणत्वबन्धुजनमरणाद्यप्रियवेत्तृत्वरोदितृत्वादिदर्श-
नात्स्वप्नावस्थस्य न भोग्यत्वमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तस्मै ह प्रजापति-
रुवाच मयवन्यच्छान्तहृदयः प्रात्राजीः किमि-
च्छन्पुनरागम इति स होवाच तद्ययपीदं भगवः
शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यवि स्नाम-
मस्नामो नैवैपोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्नाम्नेण स्नामो
घ्नन्ति त्वेवेनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भव-
त्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येव-
मेवैष मयवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्या-
ख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स
हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवाच तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

दशमः खण्डः ॥ १० ॥

उक्तोऽर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य
दशमः खण्डः ॥ १० ॥

तयत्रैतन्मुक्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वयं न विजा-
नात्येव आत्मेति होवाचैतदमृतमजयमेतद्ब्रूतेति ।

यत्र यदा तदेतत्स एषः । मुषां मुलगिति सोऽर्हत् । समस्त उपसं-

हृतकरणग्रामः संप्रसन्नो बाह्यविषयसंपर्कजनितकालुष्यरहितः शिष्टं स्पष्टम् ।

स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवा-
नेतद्भयं ददर्श नाह स्वत्वमेव* संप्रत्यात्मानं
जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाश-
मेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

अहेत्याश्चर्यं । अयं सुपुतः संप्रति सुपुतिकालेऽयमहमस्मीति विशेष-
ज्ञानाभावेन स्वैतरभूतविषयकज्ञानाभावेन च सुपुतो विनष्टप्राय
इत्यर्थः । विनाशमेव विनाशमिव । अपीतोऽपिगतो विनष्टप्राय
इत्यर्थः ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय त* ह प्रजा-
पतिरुवाच मधवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः
किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह
स्वत्वमेव भगव एव* संप्रत्यात्मानं जानात्ययमह-
मस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो
भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

एवमेवैष मधवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्या-
स्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्विज्ञापराणि पञ्च वर्षाणीति ।

एतस्मादन्यत्र नो एवोक्तादन्यत्र व्याख्यास्याम्यपि त्वेवं त्वेव पूर्वो-
क्तमेव निर्दोषतया भूयो व्याख्यास्यामीत्यर्थः । एतं त्वेवेत्येवकारस्य
विचरणमेतत् ।

स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशत* संपेदुः ।

तानि वर्षाण्याहस्यैकशतं संपन्नानीत्यर्थः ।

एतत्तद्यदाहुरेकशत* ह वै वर्षाणि

मधवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास ।

एकशतसंवत्सरानिन्द्रः प्रजापतेः संनिधौ ब्रह्मचर्यं चरन्नुवासेति
लोके प्रसिद्धतया यदाहुस्तदेतदेवंविधमनेन प्रकारेणेति यावत् ।

तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

एकशतवर्षब्रह्मचर्यनिर्मलीकृतान्तःकरणाय भववते शुद्धात्मस्वरूपो-
पदेशयोग्यतां परीक्ष्योपादिशदित्यर्थः । अनया चाऽऽत्मापिकया बहु-
कालब्रह्मचर्यनिर्मलीकृतान्तःकरणतया संपन्नोपदेशयोग्यत्वावोपवेष्टव्य-
मित्यर्थः सूच्यते ॥ ३ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्यै-

कादशः खण्डः ॥ ११ ॥

मयवन्मृत्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना
तदस्यामृतस्याशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठा-
नमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम् ।

हे मयवन्निदं शरीरमेव हि मरणधर्मि, न केवलं मरणधर्मित्वमात्र-
मपि तु मृत्युनाऽऽत्तं तद्यातं च सततधिनाशशीलमिति यावत् । इदं
च शरीरे हेतुत्वानुसंधानार्थमुक्तम् । एवंमृतं तदिदं शरीरं कर्मकृतशरी-
रराहित्यलक्षणामृतत्वस्वरूपस्याऽऽत्मनो भोगाधिष्ठानं कर्मवश्येन जीवेन
भोगार्थं परिगृहीतमित्यर्थः । ततश्चाशरीरत्वमेव स्वरूपं सैवामृतत्वलक्षणा
मुक्तिः सशरीरत्वमेव तदभाव इत्युक्तं भवति । ननु पुरुषार्थस्य हि
मुक्तिरूपत्वं यत्तत्त्वं न ह्यशरीरत्वं पुरुषार्थः । अपि तु दुःसामावः ।
ततश्च तस्यैवामृतत्वरूपत्वमुचितं न त्वशरीरत्वस्येत्यद्याऽह—

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।

कर्मास्त्वशरीरयोगिनस्तदनुगुणमुखदुःखयोगस्यावश्यंमाधित्वात्कर्मा-
रब्धदेहसयन्यामानस्यैव पुरुषार्थतया मुक्तिरूपत्वमुपपद्यत इति भावः ।
एतत्तिरेकं दर्शयति—

अगर्गं वाय नन्तं न प्रियाप्रिये स्पृगतः ॥ १ ॥

बाधशब्दः प्रसिद्धावधारणे वा ततश्चाप्यन्त्यापराहित्यलक्षणस्य-
रूपमेव मुक्तिरित्यर्थः । शिष्टे स्पष्टम् ॥ १ ॥

अशरीरो वायुः ।

शिरःपाण्यादिलक्षणशरीरशून्यो वायुरित्यर्थः ।

अभ्रं विद्युत्स्तनयिन्नशरीराण्येतानि ।

अभ्रादीनि चाशरीराणीत्यर्थः । 'अभ्रं मूत्वा मेघो भवति'
[छा० ५ । १० । ६] इत्यादिबद्धस्तनयित्वोरवस्थाभेदेन मेघो
वृष्ट्यः । अशरीराणां च प्रियाप्रियानन्ययो वृष्ट इति भावः ।

तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योति-
रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त एवमे-
वैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-
रुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥ २ ॥

अत्र व्यासार्थस्तु वाष्वादीनामाकाशात्समुत्थानं नाम स्वकार्यकर-
णायोर्ध्वदेशेऽभिवृद्धिः । परशब्दो वाष्वादीनां कारणावस्थावाची ।
ज्योतिःशब्दस्तु कारणानां कार्योत्पादनद्वारेण तदभिव्यक्तिहेतुतया प्रयु-
क्तम् । वाष्वादीनि च कारणद्वयमुपगम्य कार्यावस्थां हित्वा कार-
णसदृशेन रूपेण विशिष्टानि भवन्ति । वायुर्ह्वावहप्रवहदिरूपेण सप्त-
विधत्वं हित्वा वायुत्वमात्रेणावतिष्ठते । विद्युस्तु विद्युत्त्वं च हित्वा तेज-
स्त्वेन । अभ्रस्तनयित्वं चाभ्रत्वादिग्रहाणेन स्वकारणभूतरूपेण । एवं
जीवोऽपि मार्गविशेषेण देशविशेषविशिष्टं परं ब्रह्म प्राप्य संसार्यवस्था-
ग्रहाणेन परमात्मतुल्यरूपेणाऽऽविर्भवतीत्येवमर्थं सत्येव दृष्टान्तवार्ता-
न्तिकवाक्यसामञ्जस्यं भवतीति वर्णितम् । इदं च वाक्यं फलपादे चिन्ति-
तम् । स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति देवाविरूपवत्साध्येन रूपेणाभिनिष्प-
त्तिरुच्यतेऽभिनिष्पत्तिशब्दस्याऽऽगन्तुकधर्मोत्पत्तिपरत्वात् । स्वशब्दः
स्वात्मीयवचनः । आगन्तुकस्यापि रूपस्याऽऽत्मीयत्वात्स्वेन रूपेणेत्युप-
पद्यते । न तु स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्यत्र स्वशब्दस्याऽऽत्मार्थकत्वं वा
निष्पत्तिशब्दस्याऽऽविर्भावार्थकत्वं वा युक्तं स्वरूपस्य नित्यत्वेन तत्प्राप्तेरपु-
रुषार्थत्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—'संपद्याऽऽविर्भावः स्वेन-
शब्दात्' [ब० सू० ४ । ४ । १] परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वस्वरूपस्थैवाऽऽ-
विर्भावो न त्वागन्तुकात्मीयधर्मोत्पत्तिः । तथाहि सति स्वेन रूपेणाभि-
निष्पद्यत इत्यत्र स्वेनशब्द्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतः स्वशब्दो नाऽऽत्मीयव-

चनोऽपि त्वात्मवचन एव । आभिभिः ऽप्यमिनिष्पत्तिश्चो दृश्यते ।
 युक्त्याऽप्यमर्थो निष्पन्नः । इदमेकं सुनिष्पन्नमित्यादिषु नन्यात्मनः
 पूर्वसिद्धत्वात्कथमस्य पुरुषार्थत्वं तत्राऽऽह—‘मुक्तः प्रतिज्ञानात्’
 [ब० सू० ४।४।२] स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्यस्य मुक्तो
 भवतीत्यर्थः । निवृत्ताविद्यातिरोधानो भवतीति यावत् । कथमि-
 दमवसीयत इति चेत्प्रतिज्ञानात् । जागराद्यवस्थात्रयकलुषितं जीवं
 प्रस्तुत्य ‘एतं त्वेव ते भूयोऽमुष्यास्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्’
 इति तस्यैवाशरीरत्वलक्षणं मुक्तत्वं ‘मयवन्मत्वं वा इदं शरी-
 रम्’ इत्यादिना चतुर्थेन पर्यायेण प्रतिपादयिष्यामीति प्रतिज्ञाना-
 न्नियुक्ताविद्यातिरोधानस्य स्वेन रूपेण साध्यत्वमस्त्येवेति न पुरुषार्थत्व-
 हानिः । ननु निवृत्तिरोधानस्याप्यात्मस्वरूपस्य कथंचित्साध्यत्वसंभ-
 वेऽपि तस्य न पुरुषार्थत्वे प्रमाणमस्तीत्यत्राऽऽह—‘आत्मा प्रकरणात्’
 [ब० सू० ४।४।३] य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिवाक्यसंबन्धप्रतिपा-
 द्यापहतपाप्मत्वादिगुणाटकविशिष्टतयाऽत्यन्तानुकूलत्वेन परमपुरुषार्थ-
 भूतोऽयमात्मा । अपहतपाप्मत्वादीनां कथं जीवसंबन्धित्वमित्यत्राऽऽह—
 प्रकरणादिति । अपस्थात्रयकलुषितं जीवं प्रकृत्यैवापहतपाप्मत्वा-
 दिगुणानामाद्यानादित्यर्थ इति स्थितम् । तथा स्वेन रूपेणाभिनिष्प-
 द्यत इत्यत्र स्वरूपमपहतपाप्मत्वमेव न तु विज्ञानमात्रत्वम् । मुक्तस्य
 ब्रह्मसाम्यभ्रयणेन ब्रह्मसाम्यापादकरूपाविर्भावस्यैव यक्तव्यतया ब्रह्म-
 साम्यापादकं स्येन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यमानं स्वरूपं किमिति
 विवक्षायां भिन्नप्रकरणेऽपहतपाप्मत्वादिगुणानामेवोपन्यासात्सत्यसं-
 स्पर्त्यकार्यजक्षणादिभ्यश्च ब्रह्मसंबन्धिताऽपहतपाप्मत्वादिगुणलक्षणेन
 रूपेणाऽऽविर्भवतीति जमिनिराचार्यो मन्यत इति ‘ब्राह्मेण जमिनि-
 कपन्यासादिभ्यः’ [ब० सू० ४।४।५] इति जमिनिमतमु-
 पन्यस्य ‘प्रज्ञानघनं स्य’ [ब० सू० ४।५।१३] विज्ञानघनं स्य
 [ब० सू० २।४।१२] इति ज्ञानेकसत्त्वान्नेन निर्धर्मस्यप्रतिपादना-
 र्जानमाद्यस्य रूपेणाऽऽविर्भवतीति । ‘चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यो-

वगतसघनत्वस्य चक्षुराद्यवगतरूपकाठिन्यादेर्वाविरोधवन्मानान्तराव-
गतब्राह्मरूपस्य च मानान्तरावगतविज्ञानघनत्वस्य चाविरोध इति
बादरायण आचार्यो मन्यते । विज्ञानघन एवेत्येवकारस्य स्वप्रकाशत्वा-
व्याप्तांशनिषेधमात्रपरत्वादिति स्थितम् । यत्परैरुक्तं शरीरात्समुत्थाय
शरीर आत्माभिमानं हित्वा स्वेन परमात्मरूपेण साक्षात्कृत्य परं
ज्योतिर्मवति परमात्मा भवतीत्यर्थः । न तु शरीरादुत्क्रमणं देशान्तरग-
मनं वेति तद्वत् । अपदार्थत्वात् । न हि शरीरात्समुत्थायेत्यस्य
शरीर आत्माभिमानं हित्वेत्यर्थो भवति । स्वरूपसाक्षात्कारलक्षणस्वरू-
पाभिनिष्पत्त्यनन्तरभाविनः परज्योतिर्भावस्य च परं ज्योतिरुपसंपद्येति
पूर्वकालतया निर्देशो न युक्तः । न हि सर्पात्समुत्थाय रज्जुमुपसंपद्येति
च प्रयोगो दृष्टचरः । बाष्पभादिदृष्टान्तवैरूप्यं च स्पष्टमेव । किंच
निर्विशेषब्रह्मभावोऽत्र परं ज्योतिरुपसंपद्येत्यनेन विवक्षितश्चेत्सुषुप्तिदृशो-
द्घाटितस्य विशेषविज्ञानाभावप्रयुक्तविनष्टप्रायत्वदोषस्यापरिहृततया
तद्दोषपरिहाराय मुक्त्यवस्थोपदेशोऽसंगतः स्याद्विस्थास्तां तावत् ॥ २ ॥

स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति ।

स उपसंपदनीय उत्तमः पुरुष इत्यर्थः । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [गी०
१५ । १७] इति भगवत एवोत्तमपुरुषत्वेनोपसंपदनकर्तृर्गुत्तमपुरुषत्वस्य
बाधितत्वात् । स तत्र पर्येतीत्युत्तरवाक्यस्वारस्यमङ्गप्रसङ्गाच्च । स उप-
संपत्ता तत्र परमात्मनि पर्येति तं परितोऽनुभवति । यद्वाऽनुसंहरती-
त्यर्थः 'कामरूप्यनुसंहरन् यत्र धाता गच्छति' इति श्रुत्यन्तरात् ।

जक्षत्कीदृन्ममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा ।

यथेष्टं भोगानवाप्नोतीत्यर्थः ।

नोपजनः स्मरन्निदः शरीरम् ।

स्त्रीपुंसयोरन्योन्योपगमेन जातमित्युपजनत्वं शरीरस्य तेन चा-
पुरुषार्थत्वमुच्यते । अथ नोपजनं जनानां बन्धुजनानां समीपे शयितं
कुणपमित्यर्थः । यद्यपि मुक्तः सर्वज्ञत्वात्प्रकृतमपि शरीरमनुभवत्येव
तथाऽप्यत्रह्यात्मकतया दुःस्वरूपत्वेनानुभूतं शरीरं न मुक्तिदशायां तथाऽ-
नुभवतीत्यर्थः । आत्मनोऽशरीरस्वभावत्वे प्राक्शरीरसंबन्धः किंनिब-
न्धन इत्यत्राऽऽह—

स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमे-
वायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

यथा, आचरणे शकटे प्रयोग्यो युग्योऽश्वो बलीवर्द्धो वा पाशेन युक्तो भवत्येवमेवायं प्राणः प्राणसहचारी प्रत्यगात्मा संसारदशायां कर्मपाश-
घनेन युक्तो भवति । अनेन युग्यशकटदृष्टान्तेन देहात्मनोर्व्यतिरेको
दृढीकृतो भवति ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविपण्णं चक्षुः
स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः ।

आकाशं प्रकाशमालोकादि । अथ वा प्रकाश्यमानत्वादाकाशं रूपं
ततश्चापर्थः—यत्र यस्मिन्नुपकरणत्वेनानुविपण्णं निबद्धं चक्षुराकाश-
मालोकं रूपं वा प्रकाशयतीति शेषः । यद्वा, आकाशं रूपादिप्रकाश-
कमित्यर्थः । स चाक्षुषः । चक्षुरुपकरणकः पुरुष आत्मेत्यर्थः । चक्षुर-
पकरणकमुद्दिश्य पुरुषशब्देनाऽऽत्मत्वं विधीयते चक्षुस्तु तद्दर्शनाय कर-
णमात्रम् । ततश्च चक्षुरादीनां रूपादीनामात्मनश्च करणत्वज्ञेयत्वज्ञातृ-
त्वप्रदर्शनमुखेन शरीरेन्द्रियेभ्यो व्यतिरेक उपपादितो भवति ।

अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय प्राणम् ।

गन्धग्रहणकरणं घ्राणं ज्ञाता त्वात्मेत्यर्थः । अनेन घ्राणेन्द्रियव्यतिरेक उक्तो भवति ।

अथ यो वेदेदमभिध्याहराणीति स आत्माऽ-
भिध्याहाराय वागर्थ यो वेदेदश्च शृण-
वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः ।

सकलेन्द्रियविषयमननसाधनत्वान्मनो दिव्यं चक्षुरुच्यते । शिष्टं
स्पष्टम् ।

स वा एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्का-
मान्पश्यन्मते य एते ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

स एष उक्तरीत्या शरीरेन्द्रियग्रामविलक्षण आत्मा विधूतकर्मनि-
मित्तशरीरेन्द्रियः पुरुषो मनःशब्दाभिहितेन दिव्येन स्वाभाविकेन
चक्षुषा ज्ञानेन पूर्वोक्तब्रह्मलोकशब्दितदहराकाशनिष्ठान्सर्वान्कामान-
नुमयन्मोदत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मा-
त्तेषां सर्वे च लोका आत्माः सर्वे च कामाः ।

एतादृशात्मस्वरूपस्य भगवत उपदिष्टत्वाद्देवाः सर्वे भगवत एतमा-
त्मानमुपश्रुत्य तमेवोपासते । अतस्तेषां सर्वलोकसर्वकामावाप्स्युपलक्षि-
तब्रह्मानुभवो भवति । असुराणां तु न तथेति भावः । अद्यत्वेऽपि तमु-
पासीनानां तत्प्राप्तिर्भवतीत्याह—

सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च कामा-
न्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति ।

अद्यत्वेऽपि मनुष्याणामपि तमात्मानं शुक्लोपासीनानां सर्वलोकसर्व-
कामावाप्तिर्भवतीत्यर्थः । अत्र किं प्रमाणमित्यत्राऽऽह—

इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

इति छान्दोग्योपनिषद्विंशमप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

अत्र प्रत्यगात्मविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वेनाङ्गीभूतब्रह्मविद्याफलमेव
तदङ्गभूतप्रत्यगात्मविद्यायां स्तुत्यर्थं निर्दिश्यत इति द्रष्टव्यम् । उक्तं च
भगवता भाष्यकृता—प्रजापतिवाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपपाथात्म्यवि-
ज्ञानं दहरविद्योपयोगितयोक्तं, ब्रह्म प्रेप्सोर्हि जीवात्मनः स्वस्वरूपं च
ज्ञातव्यमेव, स्वयमपि कल्याणगुण एव सन्ननवधिकातिशयासं-
ख्येयकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मानुमविध्यतीति ब्रह्मोपासनफलान्तर्गत-
त्वात् ‘सर्वाश्च लोकानामोति सर्वाश्च कामान्’ इति प्रजाप-
तिवाक्ये कीर्तयमानं फलं दहरविद्याफलमेवेति । ननु प्रजापतिवि-
द्याया दहरविद्याङ्गत्वे दहरब्रह्मविद्याधिकृतायैवोपदेष्टव्या स्यादुपकोश-
लविद्याङ्गभूताग्रिविद्यावत् । प्रकृते च दहरब्रह्मविद्याविधुरायेन्द्रापो-

पदिश्यमानायाः प्रत्यगात्मविषयकप्रजापतिविद्यायाः कथं विद्यान्तरशेष-
त्वमिति चेन्न । प्रजापतिवाक्यस्य 'एष संप्रसादः' [छा० ८।१२।
३] इति दहरविद्यावाक्यान्तर्गतसंप्रसादशब्दार्थशोधनार्थं प्रवृत्ततया
तदेकवाक्यत्वेन तादास्थ्यं सिद्ध इन्द्रस्यापि पश्चाद्दहरविद्योपदिष्टेत्येवाव-
गन्तव्यत्वेनादोषात् । ननु प्रजापतिविद्यायाः प्रकरणाद्दहरविद्याशेषत्वे
सर्वत्रह्यविद्याशेषत्वं न स्यात् । विद्यान्तरशेषत्वे प्रमाणाभावात् । न
बेदापत्तिः । 'आत्मेति तूपागच्छन्ति ग्राहयन्ति च' [ब० सू० ४।
१।३] इत्यत्र प्रत्यगात्मनः परमात्मात्मकत्वेनानुसंधानस्योक्तत्वात् ।
'अयाणामेव वैयमुपन्यासः प्रश्नश्च' [ब० सू० १।४।६] इति
सूत्र उपास्यस्वरूपयदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वोक्तेः । गुणोप-
संहारपादे 'आत्मेति तूपागच्छन्ति' [ब० सू० ४।१।३] इत्याधि-
करणसिद्धं जीवोपास्यत्वमङ्गीकृत्य किं कर्तृत्वादिविशिष्टं सांसारिकस्व-
रूपमनुसंधेयमुत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिलक्षणः सांसारिक-
रूपव्यतिरेको वेति विषये कर्तृत्वादिविशिष्टमेव रूपमनुसंधेयं, शरीरे
यत्तमानस्योपासितुरात्मनस्तथाभावादित्येके मन्यन्त इति 'एक आत्मनः
शरीरे भावात्' [३।३।५३] इति सूत्रेण पूर्वपक्षं कृत्वा प्रजापति-
वाक्योदितापहतपाप्मत्वादिलक्षणः सांसारिकरूपव्यतिरेक एवानुसंधेयः ।
तथोपासने सत्येव 'तत्कर्तुन्यायेन तादृशात्मस्वरूपफलप्राप्तेर्भावेति
विति । 'व्यतिरेकस्तद्भाष(या)भावेति' [ब० सू० ३।३।१।
५४] इति सूत्रेण सिद्धान्तितत्वादिति चेन्न यथा विद्याविशेषप्रकर-
णश्रुतानां सत्यत्वज्ञानत्वाविस्वरूपनिरूपकधर्माणाम् 'आनन्वाद्यः
प्रधानस्य' [ब० सू० ३।३।११] इत्याधिकरणोक्तन्यायेन सर्वत्रह्य-
विद्यापेक्षितब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्त्युपयोगितया सामर्थ्यरूपाहिङ्गाप्रकरणम-
ङ्गेन सर्वत्रह्यविद्यासाधारण्यमाश्रीयते । यथा वा 'तमेतं वेदानुवचनेन
बाह्यणा विविदिपन्ति' [बृ० ४।४।२२] इति विद्याविशेषप्रक-
रणश्रुतानां वेदानुवचनादीनां सर्वविद्यापेक्षितचित्तनैर्मल्योपयोगित्वल-
क्षणसामर्थ्यरूपलिङ्गव्यक्तेन सर्वविद्यासाधारण्यमेवमिहापि ब्रह्मप्राप्तिपूर्व-
कापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टस्वात्माविर्भावलक्षणमोक्षरूपफलस्य
तत्कर्तुन्यायेन तादृशस्वात्मोपासनसाध्यत्वेन प्रजापतिवाक्योदितप्रत्यगा-
त्मविद्यायाः सर्वत्रह्यविद्याद्वयसिद्धेः । दहरविद्यायाः परमात्मपरत्वं च
दहराधिकरणे स्थितम् । तस्मिन्वाधिकरणे—'दहर उत्तरेभ्यः' [ब०

सू० १।३।१४] । 'गतिशब्दान्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च' [ब०
 सू० १।३।१५] । 'धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः' [ब० सू०
 १।३।१६] 'प्रसिद्धेश्च' [ब० सू० १।३।१७] । अल्पश्रुते-
 रिति चेत्तदुक्तम् [ब० सू० १।३।२१] 'इतरपरामर्शात् इति
 चेन्नासंभवात्' [ब० सू० १।३।१८] । 'अन्यार्थश्च परामर्शः'
 ब० सू० १।३।२०] 'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' [ब० सू० १।
 ३।१९] 'अनुकृतेस्तस्य च' [ब० सू० १।३।२२] 'अपि च
 स्मर्यते' [ब० सू० १।३।२३] इति वक्षः सूत्राणि । तत्राऽऽद्यानि
 सप्त सूत्राणि स्वावसर एव व्याख्यातानि । 'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु'
 'अनुकृतेस्तस्य च' 'अपि च स्मर्यते' इति त्रीणि सूत्राण्यध्या-
 ख्यातानि व्याख्यास्यन्ते—उत्तराप्रजापतिवाक्याज्जीवस्याप्यपहतपाप्म-
 त्वादिगुणयोगाद्यसायादपहतपाप्मत्वादिगुणैर्दहराकाशः परमात्मेति न
 शक्यं निर्णेतुमिति चेत्तत्राऽऽह—आविर्भूतस्वरूपस्त्विति । पूर्वमनृततिरो-
 हितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्वस्वरूपः पश्चाद्विमुक्तकर्मबन्धः शरीरात्समु-
 त्थितः परं ज्योतिरुपसंपन्न आविर्भूतस्वरूपः सन्नपहतपाप्मत्वादिगु-
 णविशिष्टस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽभिधीयते । दहरवाक्ये त्वतिरोहितस्यमा-
 वापहतपाप्मत्वाविशिष्ट एव दहराकाशः प्रतीयते । आविर्भूतस्वरूप-
 स्यापि जीवस्यासंभयनीयाः सेतुत्वविधरणत्वादयः सत्यशब्दनिर्धचनाव-
 गतं चेतनाचेतनयोर्निधन्तृत्वं च दहराकाशस्य परब्रह्मतां साधयन्ति,
 सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्वादयो न मुक्तानां नित्यमुक्तानां वा संभयन्तीति
 'जगद्धापारवर्जम्' [ब० सू० ४।४।१७] इत्यत्र स्थितम् । अत एव
 नित्यानां नित्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणादकतया तेष्वतिप्रसक्तस्य
 नित्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिमत्त्वस्य कथं ब्रह्मलिङ्गत्वमिति शङ्काऽपि
 निरस्ता सेतुत्वादीनां तदसंभावितधर्माणामपि श्रवणात् । ननु 'ए-
 प्योऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' [छा० ८।७।४] इति प्रजापति-
 विद्यागतवाक्यान्यपि ब्रह्मपराण्येव भवन्तु वाक्यत्रयेऽपि 'एतदमृतम-
 भयमेतद्ब्रह्म' [छा० ८।७।४] इति श्रवणात्, अक्षिवाक्य उपको-
 शलविद्योपास्यमत्यभिज्ञानात्, 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति'
 [छा० ८।८।१] इति वाक्येऽपि स्वाप्नपदार्थसमृत्त्येन महीयमा-
 नस्य परमात्मन एव प्रतिपादनसंभवात्, सुषुप्तिपर्यायेऽपि यत्र यस्मि-
 न्नाधारे समस्तः युक्तो भवतीति सुषुप्त्याधारब्रह्मपरत्वोपपत्तेरिति चेदु-

च्यते—स्वप्नपर्याये ' व्रान्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव ' [छा० ८।१०।४] इतीन्द्रेण तस्य हन्यमानत्वद्राव्य-
माणत्वबन्धुजनमरणाद्यप्रियद्रष्टृत्वरोदितृत्वादिप्रतिभासतो दुष्टत्वस्यो-
पन्यासात्, सुषुप्तिसंबन्ध्यात्मोपदेशानन्तरं ' नाह खल्वयमेवं संप्रत्या-
त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो
भवति ' [छा० ८।११।२] इति तस्य विशेषज्ञानरहिततया विनष्टमा-
यत्वस्योक्तत्वादभयत्वाभूतत्वादीनां च मुक्त्यवस्थामाविरूपापेक्षयाऽप्यु-
पपत्तेर्जीवविषयत्वमेव द्वितीयतृतीयपर्याययोः । एवं तयोः स्वप्नसुषु-
प्त्यवस्थावज्जीवपरस्य स्थिते प्रथमपर्यायस्य जागरावस्थावज्जीवविषय-
त्वमेवोपपद्यते । ' य एषोऽक्षिणि पुरुषो वृश्यते ' [छा० ८।७।४]
इत्यस्य वृक्षानलिङ्गादक्षिणि संनिहितोऽनुमीयत इत्यर्थकत्वेन जागराव-
स्थाविषयत्वस्यैवोपपन्नत्वात् । ततश्च प्रजापतिवाक्ये जीवः संसारदशा-
यागनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिकः स मुक्तिदशायां साधनाधीनत-
वाविर्भावः प्रतिपाद्यते । दहराकाशे भूयमाणं स्वपहतपाप्मत्वादिकं
नित्याविर्भूतमेव ब्राह्मं नित्याविर्भूतस्य ग्रहणसंभवे तिरोहितत्वेनास-
त्त्वापस्य साधनाधीनाविर्भासस्य ग्रहणायोगात् । ननु स्यादेवं यदि
ब्रह्मणो नित्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिसत्त्वं जीवस्यातथात्वं च प्रमाण-
सिद्धं स्यात् । तदा दहराकाशे भूयमाणमपहतपाप्मत्वाविकं ब्रह्मगतं
नित्याविर्भूतमेव ब्राह्ममिति शक्यते वक्तुं न च तदस्तीति शङ्कमानं प्रत्याह—
' अनुकृतेस्तस्य च ' [ब० सू० १।३।२२] । अनुकृतिरनुकारः
साम्यं तस्य परब्रह्मण उपासनया तदनुकारो हि जीवस्य भूयते—'तदा
विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ' [मु० ३।१।३]
इति । ' अपि च स्मर्यते ' [ब० सू० १।३।२३]

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य भव साधर्म्यमागताः [गी० १४।२] इति ।

ततश्च तदुपासनासिद्धमेतस्यैश्वर्यम् । तस्य तु नान्योपासनासिद्धमपि
न नित्याविर्भूतम् । ततश्च दहरवाक्ये भूयमाणमपहतपाप्मत्वादिकं ब्राह्म-
मेवेति स्थितम् । प्रकृतमनुसरामः ॥ ६ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य

द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये ।

एते च मन्त्रा विद्याङ्गभूता विद्वद्भिर्जन्याः । परमात्मनो हि त्रिवि-
धमुपासनमुक्तम् । ‘उपासात्रैविध्यात्’ [ब० सू० १ । १ । ३१]
इत्यत्र चिच्छबलतयाऽचिच्छबलतया स्वरूपेण च, तत्र स्वरूपेणानुसं-
धाने ज्ञानादिगुणवद्विव्यविग्रहयोगिताऽप्यनुसंधेया । तत्सिद्ध्यर्थमेव हि
पुण्डरीकाक्षमप्राकृतं यपुरतिदिश्यते ‘स यश्चायं पुरुषः । यश्चासावादित्ये ।
स एकः’ [तै० २ । ८ । १] इति । तत्र स यश्चायं पुरुष इत्यानन्दमयमनूद्य
यश्चासावादित्य इति विग्रहातिवेश इति व्यासार्थैरुपासात्रैविध्यादित्य-
बोक्तम् । वेदार्थसंग्रहे भगवता भाष्यकृता ‘य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः
पुरुषः’ [छा० १ । ६ । ६] ‘सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषा-
दधि’ [ना० १ । ८] विद्युद्वर्णात्पुरुषादित्यर्थः । ‘नीलतोयमध्यस्था
विद्युल्लेखेव भास्वरा’ [ना० ११ । १२] मध्यस्थनीलतोयदा विद्युल्लेखेव
सेपं दहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशवर्तिनी चक्षिशिखा स्वान्तर्निहितनील-
तोयदामपरमात्मस्वरूपा स्वान्तर्निहितनीलतोयदा विद्युदिव भातीत्यर्थ-
इत्युक्तम् । अतो नीलविग्रहवैशिष्ट्यं सिद्धम् । अत एव ‘श्यामा एक-
रूपा मयन्तपेवमेव हि प्रजापतिः समुद्ध्ये’ इति प्रजापतिशब्दितस्य
भगवतः श्यामरूपस्यमुक्तं तस्माच्छ्याम इति विग्रहविशिष्टस्वरूपमुच्यते ।
ततश्च श्यामादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । श्यामविग्रहविशिष्टं स्वरूपं प्रपद्य
स्वरूपमुपास्य शबलं चिद्विद्विशिष्टं प्रपद्य उपासे । शबलमुपास्य
श्याममुपासे । ततश्च निरन्तरं त्रैविध्येनोपास इत्यर्थः ।

अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव
राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा
ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवासीति ॥ १ ॥

इति छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य
त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

अथो रोमाणीव स्वयं पापं विधूय विधूयेत्यनेन पापत्याग उच्यते ।
राहुमुत्तममुक्तश्चन्द्र इव शरीराद्विमुक्तोऽकृतं नित्यं ब्रह्मलोकं कृतात्मा

कृतार्थात्मा सन्नमिसंभवामि प्राप्नवानीत्यर्थः । अभिसंभवामीत्यभिसं-
वामीतीति द्विरुक्तिः खण्डसमाप्त्यर्था ॥ १ ॥

इति प्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य

त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता

ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा ।

अत्र 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यपि पाठान्तरं द्रष्ट-
व्यम् । उभयत्राप्ययमर्थः—श्रुतिर्वाकाश इति प्रसिद्धो नामरूपयो-
र्निर्वहिता व्याकर्ता यत्, आकाशशब्दितं विधेयब्रह्मामिप्रायेण नपुंसक-
त्वम् । ते नामरूपे अन्तरा मध्ये वर्तमानं ताभ्यामस्पृष्टमित्यर्थः । ब्रह्मा-
मृतादिशब्दानां पूर्ववद्देशार्थः । इदं च वाक्यं समन्वयाध्याये चिन्तितम् ।
तत्र 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इति नामरूपबोधवृत्त्यव-
णात्, नामरूपबोधवृत्त्यस्य परमात्मनि 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य
नामरूपे व्याकरवाणि' [अ० ६।३।२] इति जीवद्वारकतयैवोपपाद्यतया
नामरूपबोधवृत्त्यस्य जीव एव स्वरसत्त्वात् । 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्स-
मुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्येन रूपेणाभिनिप्यद्यते' [अ० ८।३।४]
इति वाक्यप्रतिपाद्यस्य 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा' इति वाक्ये
प्रत्यभिज्ञानात्, पूर्वं निरूढनामरूप एव पश्चाद्विमुक्त इह प्रतिपाद्यते,
आकाशशब्दस्यापि र्थागिकया वृत्त्या मुक्तात्मानि संभवादित्येवं पूर्वपक्षे
प्राप्त उच्यते—'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' [अ० सू० १।३।४१]
आकाशः परं ब्रह्म, अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाश्रमरूपयोर्निर्वहितेति
जीवापेक्षयाऽर्थान्तरत्वस्य भेदकधर्मस्य व्यपदेशात् । न हि नितरां
योदृत्वं निर्बोधत्वं रुद्ध्या निर्बोधशब्दस्य कर्तृत्वाभिनिविधापित्यात्, ते
यदन्तरेति नामरूपास्पृष्टत्यकथनाच्च, नामरूपास्पृष्टत्वे सति नामरूपक-
तृत्वस्य पक्षे मुक्ते याऽसंभवात् । मुक्तस्यापि 'जगद्यापारवर्जम्' [अ०
सू० ४।४।१७] इति जगद्यापारराहित्यस्य प्रतिपादितत्वात् । आदिश-
ब्देनामृतत्वापत्त्यादीनां संग्रहः । ननु प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वव्यपदेशा-
दिति न यतुः पुनरुक्तम् । श्रुत्यापेक्ष एव हि प्रत्यगात्मा परमात्मा परं प्रतीति
य व्यपदिश्यते तथाऽऽह—'सुषुप्त्युक्तान्त्योर्भेदेन' [अ० सू० १।३।४२]

वाजसनेयके—‘कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु’ [बृ० ४।३।७]
 इति प्रकृतस्य प्रत्यमात्मनः सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च ‘प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरि-
 प्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरम्’ [बृ० ४।३।२१] इति ‘प्राज्ञेनाऽऽ-
 त्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति’ [बृ० ४।३।३५] इति प्राज्ञेन परिप्वङ्गान्वा-
 रोहावाप्नायेते । जीयस्यैव शुद्धावस्थस्य परमात्मत्वे परिप्वङ्गान्वारोही
 नोपपद्येयातां न ह्यभेदे तौ संभवतः । ‘पत्यादिशब्देभ्यः’ [ब० सू० १।३।
 ४३] ‘सर्वस्य यशो सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा
 मूपाप्नो एवासाधुना कनीयानेय सर्वेश्वर एष मूताधिपतिरेष मूतपाल
 एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय’ [बृ० ४।४।२२] इति प्रत्य-
 गात्मा संभावितपतित्वादिधर्माणां श्रवणाभ्यायं मुक्तात्मेति स्थितं प्रकृत-
 मनुसरामः ।

प्रजापतेः सप्तां वेश्म प्रपद्ये ।

प्रजापतेः परमात्मनः सप्तमास्थानं वेश्म प्रपद्ये । ‘प्रभुविमितः हिर-
 ण्यमयम्’ [छा० ८।५।३] इति दहरविद्यायां निर्विहं वेश्म प्रपद्य इत्यर्थः ।
 न चात्र प्रजापतिशब्दः कार्यहिरण्यगर्भविषयकः ‘न च कार्ये प्रत्यभि-
 संधिः’ [ब० सू० ४।३।१४] इति सूत्रकृतेनैव निरस्तत्वात् । माप्यकृता
 च न कार्यं प्रत्यभिसंधिः कार्ये हिरण्यगर्भेऽपि तु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि
 ‘यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्’ इत्येतस्याभिसंधातुः सर्वाविद्याविमो-
 कपूर्वकसर्वात्ममायाभिसंधानात् ‘अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र
 इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य ध्रुत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभ-
 वामि’ [छा० ८।१३।१] इत्यभिसंभाव्यब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात्,
 सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणादिति भाषितम् ।

यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् ।

अत्र यशःशब्देन यशःसाधनमूतात्मोच्यते ब्राह्मणादीनामात्माऽस्मी-
 त्यर्थः । अत्राहमिति शब्दः स्वान्तर्यामिपरमात्मपरः । ननु तत्र ब्राह्मणा-
 दीन्प्रति कथं यशःशब्दितमात्मत्वमित्यत्राऽऽह—

यशोऽहमनुप्रापत्तिं स हाहं यशसां यशः ।

अहं यशोरूपं परमात्मानमात्मतयाऽहंत्वेन प्राप्तवानस्मि साक्षात्कृ-
 तवानस्मि । अतः सोऽहं परमात्मरूपोऽहं यशसां जीवात्मनां यश
 आत्माऽस्मीत्यर्थः ।

श्वेतमदत्कमदत्कः श्वेतं लिन्दु माऽ-

भिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

श्वेतं शुक्लधातुम् । अदत्कं दन्तहीनं श्वेतम् । अत्र श्वेतशब्देन लक्ष-
णया सत्त्वगुण उच्यते । तस्मादत्कं मक्षयितुं । चरमधातोः सत्त्वगुणत-
त्कार्यज्ञानादिप्रमोषरुत्पान्नाद्भक्षकरम् । तादृशं चरमधातुं प्राप्य लिन्दु
स्त्रीलिङ्गमाऽभिगां न प्राप्नुयां चरमधातुतया योनिप्रवेशो मा भूदिति
जन्म मा भूदिति यावत् । लिन्दु माऽभिगां लिन्दु माऽभिगामिति द्विव-
चनं जप्यमन्त्रपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकाष्टमप्रपाठकस्य

चतुर्दशः खण्डः ॥ १४ ॥

अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः ।

अभिसमावृत्य समावर्तनं कृत्वा गुरुकुलान्निवृत्त्येत्यर्थः । न्यायतो
द्वारानाहृत्य कुटुम्बे स्थित्वा मार्गस्थयविहितकर्मनिष्ठ इत्यर्थः । शुचौ देशे
स्वाध्यायमधीयान इत्यत्र स्वाध्यायमिति नित्यकर्मणामप्युपलक्षणम् ।
धार्मिकान्विदधत् ।

पुत्रशिष्यादीन्धर्मे नियुञ्जानः ।

आत्मानि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्या-

हिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ।

अनात्मविषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृह्य शास्त्रीयहिंसाव्यातिरिक्तां हिंसा-
मकुर्वाण इत्यर्थः । न च 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' [ब० सू० ३।१।२५]
इति सूत्रे कत्वर्थपशुहिंसाया हिंसात्वाभावस्योक्तत्वादन्यत्र तीर्थेभ्य इति
व्यर्थमिति वाच्यम् । 'न वा उ एतन्म्रियसे न रिप्यसि' इति मन्त्र-
लिङ्गात्तस्य हिंसात्वाभावेऽपि गृहस्थानामवर्जनीयतुलस्याहरणादिहिं-
साया हिंसाधात्वर्थसंभवेन तत्पर्युदासार्थमन्यत्र तीर्थेभ्य इत्यस्याऽऽवश्य-
कत्वादिति दृष्टव्यम् ।

स सत्त्वेवं वर्तयन्वावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंप-

द्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

'आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्' [ब० सू० ४।१।१२] इत्यत्र
इदमप्यर्गसाधनमुपासनमेकस्मिन्नेवाहनि कार्यं शास्त्रार्थस्य तावतैव
समाप्तत्वादिति पूर्वपक्षं कृत्वा, आप्रयाणादामरणादनुवर्तनीयमामरणं
सर्वस्मिन्काले 'स सत्त्वेवं वर्तयन्वावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' इत्यु-
पासनस्य दृष्टत्वात् । अतः आप्रयाणं कर्तव्यमिति स्थितम् । 'सह-
कार्यन्तरविधिः' [ब० सू० ३।४।४७] इत्यधिकरणे छान्दोग्ये
'अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे' इत्यारभ्य 'स सत्त्वेवं वर्तयन्वाव-
दायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते' इति ब्रह्मविदो याव-
दायुषं गृहस्थधर्मेण स्थितिदर्शनादाश्रमान्तरेण न ब्रह्मविद्याऽस्तीत्या-
शङ्क्य सर्वेष्व्वाश्रमेण विद्यायाः प्रमाणप्रतिपन्नत्वाद्गृहस्थधर्मेणोपसंहार
आश्रमान्तरधर्माणामप्युपलक्षणार्थं इति 'कृत्स्नमायातु गृहिणोपसं-
हारः', [ब० सू० ३।४।४८] इति सूत्रेण समर्थितम् । 'अनावृत्तिः
शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' [ब० सू० ४।४।२२] इत्यत्र 'स

स्वत्वेवं वर्तयन्पावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते ' इति शब्दान्मुक्तस्य पुनः प्रकृतिवश्यतालक्षणावृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । तत्र पुनरावृत्तौ हि न मुक्तेच्छा हेतुः, अनवधिकातिशयानन्दरूपं ब्रह्मानुभवतः पुनरावृत्तीच्छाया असंभवात् । नापि भगवदिच्छा हेतुः, एतद्व्यामं महालामं मन्वानस्य पुनस्तदावर्तनेच्छाया असंभवात् । नापि कर्मसंबन्धो हेतुः, तस्य निःशेषनष्टत्वादिति भाष्ये प्रतिपादितम् । न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इतिद्विरुक्तिर्ब्रह्मविद्यायाः साक्षायाः परिसमाप्त्यर्था ॥ १ ॥

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः

श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।

अध्ययनजपादौ शान्तिपाठार्थोऽयं मन्त्रः । मदङ्गानि वागादिभिः सहाऽऽप्यायितानि भवन्त्वित्यर्थः ।

सर्वा ब्रह्मोपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् ।

सर्वा ब्रह्मप्रतिपादिकामुपनिषदं प्रति ब्रह्मधिपये च नास्तिक्यबुद्धिं मा कार्षमित्यर्थः ।

मा मा ब्रह्म निराकरोत् ।

मा मां ब्रह्म निराकुर्यादनुगृह्णात्वित्यर्थः ।

अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।

ब्रह्मणश्च मम च परस्परनिराकरणं मा भूत् । अनेकरस्य मा भूपादेकरस्यमेव भूयात् ।

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते

मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ २ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमप्रपाठकस्य

पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

इति च्छान्दोग्योपनिषदष्टमः प्रपाठकः

ममानः ॥ ८ ॥

आत्मज्ञाननिरतस्य ये धर्माः शान्तिदान्त्यादय उपनिषत्सु प्रसिद्धास्ते सर्वे मयि सन्तिवत्यर्थः । ते मयि सन्तु ते मयि सन्त्विति द्विरुक्तिरुपनिषत्समाप्त्यर्था ॥ २ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमप्रपाठकस्य पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

इति छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिकायामष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ८ ॥

क्षेमाय यः करुणया क्षितिनिर्जराणां
भूमावजृम्भयत माप्यसुधामुदारः ।

वामागमाध्वगवदायदतूलवातो

रामानुजः स मुनिरादियतां मद्रुक्तिम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्ताताचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकस्य वात्स्यानन्तार्यसे-
वासमधिगतशारीरकमीमांसाज्ञाप्यहृदयस्य परकालमुनिकृ-
पालब्धपारमहंस्यस्य श्रीरङ्गरामानुजमुनेः कृतिषु
छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिका समाप्ता ।